श्रीमद्देवसेनाचार्य विरचित

आलापपद्धति

ग्रन्थ पर

नय प्रबोधिनी टीका

टीकाकार

आचार्य वसुनंदी मुनि

प्रकाशक (सर्वाधिकार सुरक्षित)

निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति

ई०-102 केशर गार्डन, सै० 48 नोएडा-201301

मो. 9971548889, 9867557668

ग्रंथ - **आलापपद्धति**

ग्रंथकार - **श्रीमद्देवसेनाचार्य**

टीका - **नयप्रबोधिनी टीका**

मंगल आशीर्वाद - सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

टीकाकार - अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

संपादन - आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण - प्रथम, वर्ष 2021

प्रतियाँ - 1000

मूल्य - सदुपयोग

ISBN # 978-81-951375-8-9

प्राप्ति स्थान

1. निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति
ई०-102 केशर गार्डन,
सै० 48, नोएडा-201301
मो. 9971548889, 9867557668

मुद्रण व्यवस्था
अलंकार प्रकाशन
3611, श्याम भवन, दरियागंज

संपादकीय

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभा कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥143॥ (आत्मानुशासन)

पहले तो लोकद्वयहितकारी ऐसे धर्म को कहने वाले और सुनने वाले तो सुलभ थे, करने वाले दुर्लभ थे अब वर्तमान काल में तो कहने वाले और सुनने वाले भी दुर्लभ हो गये हैं।

सत्यता के गवाक्ष में दृष्टिपात करने से उक्त गाथा की सत्यता का बोध प्राप्त होता है। पुण्य हीन व्यक्तियों के लिये श्रेष्ठतम वस्तु या व्यक्ति का संयोग अत्यंत दुर्लभ या असंभव सा ही प्रतीत होता है। इस दुःखमा नामक पंचमकाल में मिथ्यात्व के साथ ही जन्म लेने वालों के लिये जिनेन्द्र देव द्वारा प्रणीत धर्म अत्यंत दुर्लभ है। अरिहंत केवली से रहित इस समय भरत क्षेत्र में पापी जीव ही जन्म लेते हैं। अत्यंत पापी जीवों के लिये सच्चे देव-शास्त्र गुरु पर श्रद्धान के निमित्त भी प्राप्त नहीं होते और यदि कदाचित् बाह्य निमित्त प्राप्त हो भी जायें तो अंतरंग निमित्त के अभाव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। संप्रति में जो भी जिनधर्म की छत्रछाया में संवर्द्धित व संरक्षित हैं उसे उनका पुण्यफल ही जानना चाहिये। जिनानुयायियों से कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि जब जिनधर्म श्रेष्ठतम है तब उसके अनुयायी अल्प क्यों? श्रेष्ठ की संप्राप्ति हेतु सभी जन सदैव उत्सुक रहते हैं तब धर्मानुयायियों में यह उत्सुकता क्यों नहीं? तब पूज्य गुरुदेव ने उत्तर देते हुये प्रतिप्रश्न किया कि एक ग्राम या नगर में सब्जियों के ठेले अधिक हैं या रत्नों की दुकान। उत्तर आया सब्जियों के ठेले। पुनः पूछा भीड़ अधिक कहाँ होती है? उत्तर प्राप्त हुआ सब्जियों की दुकान पर। किन्तु श्रेष्ठ तो रत्न स्वर्णादि होते हैं तब इन पर भीड़ क्यों नहीं होती? क्योंकि उनको खरीदने की सामर्थ्य हर किसी की नहीं होती। इसी प्रकार इस श्रेष्ठतम धर्म को प्राप्त करने की सामर्थ्य भी प्रत्येक व्यक्ति की नहीं होती। अनुयायियों की अल्पता या अधिकता धर्म की श्रेष्ठता की सिद्धि में

कारण नहीं अन्यथा इस न्याय से तो सब्जी आदि स्वर्ण रत्नादि से अधिक मूल्यवान् प्राप्त होंगे जो कि प्रत्यक्ष बाधित है।

आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी जी ने भी युक्ति व न्यायसंगत ढंग से युक्त्यानुशासन में कहा है–

कालःकलिर्वाकलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवाद हेतुः।।

यह कलिकाल है, श्रोता का आशय कलुष रहता है और वक्ता के वचन नयों से रहित हैं। हे भगवन्! आपके शासन पर एकाधिपतित्व रखने वाली लक्ष्मी की प्रभुता शक्ति का अपवाद होने का यही कारण है।

सर्वज्ञ प्रणीत होने से यह धर्म प्रमाणिक तो है ही साथ ही जो वैज्ञानिक तथ्य आज सामने आ रहे हैं अथवा जो आज भी वैज्ञानिक प्रयोगों से दूर वा वर्तमानकालीन विज्ञान के अगोचर हैं वे सभी हजारों वर्ष पूर्व ही जैन शास्त्रों में निबद्ध हो चुके हैं। फिर भी विवेकी जन स्वर्ण अथवा फल-सब्जी आदि का भी परीक्षण कर उन्हें स्वीकार करते हैं तब धर्म अथवा विशेष तत्त्वों नय व लक्षण को भी प्रमाणादि के द्वारा परीक्षण कर स्वीकार करना ही उचित है। परमपूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने मौलिक प्राकृत ग्रंथ 'वचनप्रमाणत्व' में कहा भी है–

लक्खणेहि परिक्खणं, कडुअ उवयरदि वेज्जो रोगीणं।
बुहा गहेज्ज तच्चाणि, जह तहेव सण्णाणस्स सय।।232।।

जैसे लक्षणों के द्वारा परीक्षा करके वैद्य रोगियों का उपचार करता है वैसे ही सम्यग्ज्ञान के लिए बुधजन को सदा परीक्षण करके तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये।

इस नय प्रमाण आदि से परीक्षण तब ही संभव है जब वह परीक्षक नयादि को जानता हो। स्वर्ण को कसौटी पर कसकर परीक्षा लेने में वही समर्थ है जो कसौटी को जानता है। अतः ग्रंथ में आचार्य महाराज ने द्रव्य के लक्षण, गुण, पर्याय, स्वभावादि का कथन कर जिनके द्वारा इन्हें जाना गया है उन प्रमाण नय आदि का

भी विशेष वर्णन किया है। इसके जाने बिना द्रव्यानुयोग को समीचीन रूप से समझना सरल प्रतीत नहीं होता और उसके बिना मोक्ष दुर्ग में प्रवेश संभव नहीं। अतः द्रव्यानुयोग के अध्ययन से पूर्व इस ग्रंथ का बोध अत्यन्तावश्यक है। इसी कारण इसे 'द्रव्यानुयोग' प्रवेशिका के नाम से भी जाना जाता है। नय प्रमाणादि के द्वारा वस्तु तत्त्व को जानने वाला ही कर्म क्षय कर निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ होता है। आचार्य गुरुवर ने वचन प्रमाणत्व में प्रतिपादित किया है–

महाजोद्धा विणस्सदि, जह सत्तुणो तिक्ख-असि-पहारेण।
णयधाराजुद-पमाण-असिणा जोगी तहण्णाणं॥526॥

जैसे महायोद्धा तीक्ष्ण असि प्रहार से शत्रुओं को नष्ट करता है वैसे ही नय धार से युक्त प्रमाण की तलवार के द्वारा योगी कर्म नष्ट करते हैं।

स्व और पर के भ्रम का परिमार्जन करने में समर्थ वचनों का आदान-प्रदान ही श्रेष्ठतम आलाप पद्धति है। संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य सम्यग्दृष्टि जीव ही इस प्रकार की पद्धति का निर्वहन करने में समर्थ हो सकते हैं। मोक्षमार्ग में गतिशील महानुभावों के लिये 'आलापपद्धति' हाथ में रखे प्रज्ज्वलित दीपक या अल्प कृत्रिम प्रकाश की तरह से सिद्ध होगी। प्रकाश के बिना सम्यक्मार्ग में गति संभव नहीं है अतः शिवमार्ग में गमन हेतु 'नय प्रबोधिनी टीका' (आलाप पद्धति) ग्रंथ अपनी अहम् भूमिका निभाता है। शरीर की जीवंतता के लिये भोजन-पानी के अतिरिक्त प्राणवायु भी अत्यंतावश्यक होती है। नय प्रबोधिनी टीका (आलापपद्धति) को प्राणवायु शब्द से ध्वनित/सम्मानित करें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मोक्षमार्ग की शाश्वत सिद्धि, आत्मा की शुद्धि व जिनमार्ग की प्रसिद्धि के लिये उक्त ग्रंथ प्रत्येक आत्महितार्थी के लिये पठनीय है। दूसरे शब्दों में इसे पंगु की वैसाखी ही नहीं अपितु उसके पंगु पैरों की शल्य क्रिया करके प्रदान किये गये उत्तम पग ही हैं।

'आलाप पद्धति' नामक ग्रंथ अत्यंत उपयोगी व धर्म के मर्म को समझने वाले प्रत्येक धर्मानुरागी के लिये पठनीय है। चातुर्मास 2020 श्री जंबूस्वामी तपोस्थली बौलखेड़ा में आचार्य श्री ने संघ में कई शास्त्रों आलापपद्धति, गोम्मटसार जीवकांड,

देवागम स्तोत्र, धवला जी पु. 3 आदि का अध्ययन कराया। आलाप पद्धति का अध्ययन करते हुये आचार्य गुरुवर को उसके और अधिक विशेष व्याख्यान की आवश्कता प्रतीत हुई। इन नयादि को समझने वाले अत्यल्प और समझाने वाले तो और अधिक अल्प रह गये हैं। अतः और अधिक विस्तृत व्याख्यान आवश्यक है जिससे कदाचित् अध्ययन कराने वाले के अभाव में मात्र शास्त्र के माध्यम से जिज्ञासु जन इस विषय का अध्ययन कर सकें।

मौलिक प्राकृत ग्रंथों, प्राचीन ग्रंथों व संस्कृत हिंदी टीका, ग्रंथ अनुवाद आदि में गुरुवर श्री की लेखनी सदैव प्रवर्तमान रहती है, वे कहते भी हैं जो सम्पत्ति हमें हमारे पूर्वाचार्यों ने प्रदान की है उसी सम्पत्ति को संरक्षित व संवर्द्धित करते हुए आगे आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाना है। यही पूर्वाचार्यों के श्रम व उनके प्रति कृतज्ञता व पंचमकाल के अंत तक होने वाले प्राणियों के लिये समीचीन धर्म मार्ग की प्रेरणा होगी। गुरुवर श्री कहते हैं इस काल में व्यक्ति का समय अत्यल्प है किन्तु शास्त्र हजारों वर्ष तक धर्म को जीवंतता प्रदान करेंगे। पुनः आगे समय में इसी मोक्षमार्ग पर चलने वाले धर्मी इन शास्त्रों के माध्यम से स्वात्म व पर कल्याण करने में समर्थ हो सकेंगे।

यही तो आचार्यों की उदार भावना व दूरदर्शिता पूर्व में भी रही होगी जिसके कारण हम जिनेन्द्र प्रभु की वचनधारा में अवगाहन करने में समर्थ हैं। विषय चाहे न्याय का हो या सिद्धांत का, द्रव्यानुयोग का हो या करुणानुयोग का, व्याकरण का हो या अध्यात्म का, ज्योतिष का हो या आयुर्वेद का आचार्य श्री की सभी विषयों में निष्णातता निःसंदेह उनकी विलक्षण प्रतिभा को परिलक्षित करती है। इस ग्रंथ पर हिंदी टीका कर गुरुवर श्री ने मानो द्रव्यानुयोग में प्रवेश हेतु द्वार का उद्घाटन ही कर दिया हो।

इस विषय में रुचि रखने वाले इस ग्रंथ को पढ़कर ग्रंथ के भाव को समझ पाएँ व अन्य जन इसे पढ़कर नयादिक विषयों में रुचि जागृत कर सकें, जो निःसंदेह कल्याण में निमित्त बनेगी। इसी कारण श्रीमद्देवसेनाचार्य द्वारा लिखित

आलाप पद्धति व इस पर आचार्य गुरुवर द्वारा लिखित 'नयप्रबोधिनी' टीका का यहाँ संपादन किया जा रहा है। यद्यपि नय-न्यायादि में हमारा विशेष प्रवेश नहीं किन्तु यह गुरुकृपा ही है जो आलापपद्धति, परीक्षामुख सूत्र आदि ग्रंथों का अध्ययन गुरु मुख से कर उसको कुछ समझने योग्य हुए। इस ग्रंथ का संपादन भी उसी गुरुकृपादृष्टि का ही फल है।

प्रस्तुत कृति **'नयप्रबोधिनी टीका'** (आलापपद्धति) परमपूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा भव्य जीवों के हितार्थ प्रदान की गई अमूल्य निधि है। हमारे द्वारा प्रमादवश, अल्पज्ञतावश इस संपादन के कार्य में यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक नीर क्षीर विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीररूपी गुणों का अवग्रहण करें और सारहीन नीर का परित्याग। संभव है आपका आनंद, संतोष, हितमार्ग संप्राप्ति एवं कल्याण हमारे परिणामों में विशुद्धि एवं आनंद का निमित्त बन सके।

इस पुस्तक के मुद्रण प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही बंधुओं को पूज्य गुरुवर श्री का मंगलमय शुभाशीष। गुरुवर श्री का संयम पथ सदैव अलोकित रहे शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरक्षित रहे। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अक्षरशिल्पी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु.....।।

''जैनम् जयतु शासनं''

–'आर्यिका वर्धस्वनंदनी'

श्री वीर निर्वाण संवत् 2547
श्री शुभमिति माघशुक्ल दशमी
सोमवार 22/2/2021
श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली बौलखेड़ा
कामां, भरतपुर (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
		मंगलाचरण	01
1.	1	ग्रंथ रचना प्रतिज्ञा	09
2.	2-3	ग्रंथ रचना प्रयोजन	15
3.	4-5	द्रव्य संख्या व नाम	20
4.	6-7	द्रव्य लक्षण	27
		गुणाधिकार	
5.	8-10	द्रव्य के सामान्य गुण	32
6.	11	द्रव्यों के विशेष गुण	40
7.	12	जीव-पुद्गल विशेष गुण	45
8.	13	चार द्रव्यों के विशेष गुण	48
9.	14	चार गुण सामान्य व विशेष भी	49
		पर्याय-अधिकार	
10.	15	पर्याय लक्षण व भेद	52
11.	16	अर्थपर्याय भेद	57
12.	17	अर्थपर्याय	59
13.	18	जीव की विभावार्थ पर्याय	63
14.	19	जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय	64
15.	20	जीव की विभाव गुण व्यंजन पर्याय	66
16.	21	जीव की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय	67
17.	22	जीव की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय	68
18.	23	पुद्गल की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय	70
19.	24	पुद्गल की विभाव गुण व्यंजन पर्याय	72
20.	25	पुद्गल की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय	74
21.	26	पुद्गल द्रव्य की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय	76

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
		स्वभाव अधिकार	
22.	27	द्रव्य का लक्षण	81
23.	28	द्रव्यों के सामान्य व विशेष स्वभावों का कथन	82
24.	29	जीव व पुद्गलों के भावों की संख्या	91
25.	30	धर्मादि तीन द्रव्यों में स्वभावों की संख्या	96
26.	31	काल द्रव्यों में स्वभावों की संख्या	97
		प्रमाण अधिकार	
27.	32-33	वस्तु तत्व जानने के उपाय	99
28.	34	प्रमाण का लक्षण	102
29.	35	प्रमाण के भेद	104
30.	36	एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान	107
31.	37	सकल प्रत्यक्ष ज्ञान	111
32.	38	परोक्ष ज्ञान	113
		नय अधिकार	
33.	39	नय का लक्षण	125
34.	40	नय भेद कथन	127
35.	41	नय के भेद	132
36.	42	उपनय कथन	135
37.	43	उपनय लक्षण	135
38.	44	उपनय के भेद	136
39.	45	नय-उपनय भेद कथन	137
40.	46	द्रव्यार्थिक नय भेद	138
41.	47	कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय	138
42.	48	सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय	139
43.	49	भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय	140
44.	50	कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय	141
45.	51	उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय	142

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
46.	52	भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय	143
47.	53	अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय	144
48.	54	स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय	145
49.	55	परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय	146
50.	56	परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय	147
51.	57	पर्यायार्थिक नय भेद कथन	148
52.	58	अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय	150
53.	59	सादि-नित्य पर्यायार्थिक नय	151
54.	60	अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय	152
55.	61	नित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय	153
56.	62	नित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय	154
57.	63	अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय	155
58.	64	नैगमनय भेद	156
59.	65	भूतनैगम नय	159
60.	66	भावी नैगम नय	160
61.	67	वर्तमाननैगम नय	161
62.	68	संग्रहनय भेद	163
63.	69	सामान्य संग्रह नय	163
64.	70	विशेष संग्रह नय	164
65.	71/1	व्यवहार नय भेद	165
66.	71/2	सामान्य व्यवहार नय	166
67.	72	विशेष व्यवहार नय	167
68.	73	ऋजुसूत्र नय भेद	169
69.	74	सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय	169
70.	75	स्थूल ऋजुसूत्र नय	171
71.	76	शब्दादि नय में भेद कथन	172
72.	77	शब्द नय	173

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
73.	78	समभिरूढ़ नय	176
74.	79	एवंभूत नय	176
75.	80	उपनय भेद कथन प्रतिज्ञा	177
76.	81	सद्भूतव्यवहार नय भेद	179
77.	82	शुद्ध-सद्भूत व्यवहार नय	179
78.	83	अशुद्ध-सद्भूत व्यवहार नय	180
79.	84	असद्भूत व्यवहार नय भेद कथन	182
80.	85	स्वजात्यसद्भूत व्यवहार नय	182
81.	86	विजात्यसद्भूत व्यवहार नय	183
82.	87	स्वजातिविजात्य सद्भूत व्यवहार नय	185
83.	88	उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय भेद	186
84.	89	स्वजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय	186
85.	90	विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय	187
86.	91	स्वजाति-विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय	188
		गुण व्युत्पत्ति अधिकार	
87.	92.	गुण-पर्याय लक्षण	191
88.	93	विशेष गुण का लक्षण	196
89.	94	अस्तित्व स्वभाव लक्षण	197
90.	95	वस्तु स्वभाव लक्षण	198
91.	96	द्रव्य स्वभाव लक्षण	199
92.	97	सत् लक्षण	201
93.	98	प्रमेयत्व स्वभाव लक्षण	202
94.	99	अगुरुलघुत्व स्वभाव लक्षण	203
95.	100	प्रदेशत्व स्वभाव लक्षण	206
96.	101	चैतन्य का लक्षण	207
97.	102	अचेतन स्वभाव लक्षण	208
98.	103	मूर्त्त स्वभाव लक्षण	209
99.	104	अमूर्त्त स्वभाव लक्षण	211

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
		पर्याय की व्युत्पत्ति	
100.	105	पर्याय का व्युत्पत्ति अर्थ	211
		स्वभाव व्युत्पत्ति अधिकार	
101.	106	अस्ति स्वभाव	212
102.	107	नास्ति स्वभाव	213
103.	108	नित्य स्वभाव	213
104.	109	अनित्य स्वभाव	214
105	110	एक स्वभाव	214
106.	111	अनेक स्वभाव	214
107.	112	भेद स्वभाव	215
108.	113	अभेद स्वभाव	216
109.	114	भव्य स्वभाव	217
110.	115	अभव्य स्वभाव	217
111.	116	पारिणामिक भाव	218
112.	117	व्युत्पत्ति निर्देश	219
113.	118	स्वभाव गुण नहीं	219
114.	119	गुण स्वभाव होते हैं	220
115.	120	गुण द्रव्य भी होते हैं	220
116.	121	विभाव	221
117.	122	शुद्ध-अशुद्ध भाव	221
118.	123	उपचरित स्वभाव	222
119.	124-125	उपचरित स्वभाव भेद	222
		एकांत पक्ष में दोष	
120.	126	एकांत दुर्नय क्यों?	225
121.	127	संकरादि 8 दोष कथन	225
122.	128	एकांत से असद्रूप मानने में दोष	227
123.	129	नित्य ही मानने में दोष	228

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
124.	130	अनित्य ही मानने में दोष	229
125.	131	सर्वथा एक पक्ष में दोष	231
126.	132	सर्वथा अनेक पक्ष में दोष	232
127.	133	सर्वथा भेद पक्ष में दोष	233
128.	134	सर्वथा अभेद पक्ष में दोष	234
129.	135	एकांततया भव्य पक्ष में दोष	234
130.	136	एकांततः अभव्य पक्ष में दोष	235
131.	137	एकांततः सर्वथा रूप मानने में दोष	235
132.	138	एकांततः विभाव पक्ष में दोष	236
133.	139	सर्वथा चैतन्य पक्ष में दोष	236
134.	140	सर्वथा शब्द किसका वाची?	237
135.	141	सर्वथा अचेतन पक्ष में दोष	239
136.	142	सर्वथा मूर्त पक्ष में दोष	240
137.	143	सर्वथा अमूर्त पक्ष में दोष	240
138.	144	सर्वथा एक प्रदेश मान्यता में दोष	241
139.	145	सर्वथा अनेक प्रदेश मान्यता में दोष	242
140.	146	सर्वथा शुद्ध मान्यता में दोष	242
141.	147	सर्वथा अशुद्ध पक्ष में दोष	242
142.	148	एकांततः उपचरित स्वभाव में दोष	243
		नय योजना	
143.	149	एकांततः अनुपचरित स्वभाव में दोष	243
144.	150	नय द्वारा अस्ति स्वभाव सिद्धि	246
145.	151	नास्ति स्वभाव सिद्धि	246
146.	152	नित्य स्वभाव सिद्धि	246
147.	153	अनित्य स्वभाव सिद्धि	247
148.	154	एक स्वभाव सिद्धि	247
149.	155	अनेक स्वभाव सिद्धि	248
150.	156	भेद स्वभाव सिद्धि	248

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
151.	157	अभेद स्वभाव सिद्धि	249
152.	158	भव्य अभव्य पारिणामिक स्वभाव	249
153.	159	जीव के चेतन स्वभाव	250
154.	160	कर्म-नोकर्म के चेतन स्वभाव	250
155.	161	कर्म-नोकर्म अचेतन स्वभाव	251
156.	162	जीव के अचेतन स्वभाव	252
157.	163	कर्म-नोकर्म के मूर्त स्वभाव	252
158.	164	जीव के मूर्त स्वभाव	252
159.	165	पुद्‌गल बिना अन्य द्रव्यों के अमूर्त स्वभाव	253
160.	166	पुद्‌गल उपचार से अमूर्त	253
161.	167	कालाणु व पुद्‌गल के एकप्रदेश स्वभाव	254
162.	168	अन्य द्रव्यों के एकप्रदेश स्वभाव	255
163.	169	नानाप्रदेश स्वभाव	255
164.	170	पुद्‌गल परमाणु उपचारवत् नानाप्रदेशस्वभाव	255
165.	171	कालाणु के उपचरित स्वभाव नहीं	256
166.	172	पुद्‌गल उपचार से अमूर्त स्वभाव	257
167.	173	द्रव्य में स्वभाव-विभाव भाव	257
168.	174	शुद्ध स्वभाव	257
169.	175	अशुद्ध स्वभाव	258
170.	176	उपचरित स्वभाव	258
		प्रमाण का कथन	
171.	177	प्रमाण का लक्षण	259
172.	178	प्रमाण के भेद	260
173.	179	सविकल्प ज्ञान का लक्षण व भेद	260
174.	180	निर्विकल्प ज्ञान	262
		नय का लक्षण	
175.	181	नय के चार लक्षण	263

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
176.	182	सविकल्प-निर्विकल्पनय	265
		निक्षेप की व्युत्पत्ति	
177.	183	निक्षेप लक्षण व भेद	266
		नयों के भेदों की व्युत्पत्ति	
178.	184	द्रव्यार्थिक नय	270
179.	185	शुद्ध द्रव्यार्थिक नय	271
180.	186	अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय	271
181.	187	अन्वय द्रव्यार्थिक नय	272
182.	188	स्वद्रव्यादि ग्राहक नय	272
183.	189	परद्रव्यादि ग्रहक नय	273
184.	190	परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय	273
185.	191	पर्यायार्थिक नय	273
186.	192	अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय	274
187.	193	सादि-नित्य पर्यायार्थिक नय	275
188.	194	शुद्ध पर्यायार्थिक नय	275
189.	195	अशुद्ध पर्यायार्थिक नय	275
190.	196	नैगम नय	276
191.	197	संग्रह नय	277
192.	198	व्यवहार नय	278
193.	199	ऋजुसूत्र नय	279
194.	200	शब्द नय	280
195.	201	समभिरूढ़ नय	281
196.	202	एवंभूत नय	282
197.	203	द्रव्यार्थिक नय भेद	284
198.	204	निश्चय नय लक्षण	287
199.	205	व्यवहार नय लक्षण	288
200.	206	सद्भूतव्यवहारनय का लक्षण	289

क्र० सं०	सूत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०
201.	207	असद्भूतव्यवहार नय लक्षण	289
202.	208	उपचरितअसद्भूत व्यवहार नय लक्षण	291
203.	209	सद्भूत व्यवहार नय का विषय	292
204.	210	असद्भूत व्यवहार नय का विषय	293
205.	211	उपचरितअसद्भूत व्यवहार नय	295
206.	212	प्रयोजनवश उपचार प्रवृत्ति	296
207.	213	सम्बन्ध कथन	296
		अध्यात्म भाषा से नयों का कथन	
208.	214	अध्यात्मनय कथन प्रतिज्ञा	298
209.	215	मूलनय भेद	299
210.	216	निश्चय-व्यवहार नय विषय	300
211.	217	निश्चयनय भेद	301
212.	218	शुद्ध निश्चय नय	301
213.	219	अशुद्ध निश्चय नय	302
214.	220	व्यवहार नय भेद	303
215.	221	सद्भूत व्यवहार नय	303
216.	222	असद्भूत व्यवहार नय	304
217.	223	सद्भूत व्यवहार नय भेद	304
218.	224	उपचरित असद्भूत व्यवहार नय	304
219.	225	अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय विषय	305
220.	226	असद्भूत व्यवहार नय भेद	305
221.	227	उपचरितअसद्भूत व्यवहार नय	305
222.	228	अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय	306

श्रीमद्देवसेनाचार्य विरचित

आलापपद्धति

ग्रंथ पर आचार्य श्री वसुनंदी मुनि कृत

नयप्रबोधिनी टीका

मंगलाचरण

गुणानां विस्तरं वक्ष्ये, स्वभावानां तथैव च।
पर्यायाणां विशेषेण, नत्वा वीरं जिनेश्वरम्।।

अर्थ–विशेष रूप से मोक्ष लक्ष्मी को देने वाले वीर जिनेश्वर को अर्थात् श्री महावीर भगवान् को नमस्कार करके मैं (देवसेनाचार्य) द्रव्य के गुणों, उसी प्रकार से उसके स्वभाव तथा पर्यायों को भी विस्तारपूर्वक विशेष रूप से कहता हूँ अर्थात् गुण, स्वभाव और पर्यायों के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ।

विशेषार्थ–संसारी जीव जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता है उसे बाह्य निमित्तों की भी आवश्यकता होती है। बाह्य निमित्त कर्म के क्षय-उपशम और क्षयोपशम में कारक होते हैं यद्यपि बाह्यनिमित्तों का प्रभाव हमेशा दृष्टिगोचर नहीं होता, कभी-कभी वही निमित्त अंतरंग में उस कार्य को करने में समर्थ नहीं भी हो पाते हैं, कभी-कभी समर्थ होते हैं। जिस समय चतुर्थकाल में तीर्थंकरों की, केवली-अरिहंतों की परम्परा थी उस समय शास्त्र लेखन की आवश्यकता नहीं थी। क्षयोपशम इतना था कि व्यक्ति श्रुत ज्ञान के माध्यम से उपदेश को श्रवण करके, देशना को श्रवण करके अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो जाता था। अपने परिणामों को संभालने में भी निमित्त बनता और दूसरे के परिणामों को संभालने में भी निमित्त बनता।

आचार्यों ने ग्रंथों का लेखन किया किन्तु उन्होंने भी कृतज्ञता के भाव को तिरोहित नहीं किया। कृतज्ञता सज्जन पुरुष का विशेष गुण होता है, उसके रोम-रोम में कृतज्ञता होती है। गुण एवं गुणी के प्रति विनम्रता होती है उनमें अपने स्वभाव को प्राप्त करने के लिये अनुपम प्यास होती है। वे सज्जनपुरुष, महापुरुष, गुणीपुरुष, मोक्षमार्गी पुरुष जब भी कुछ शुभ कार्य करते हैं, उसे करने के भाव बनाते हैं तो सर्वप्रथम अपने इष्ट देवता को नमस्कार करते हैं। उस इष्ट देवता को नमस्कार करने से जो अंतरंग में उत्साह-उल्लास-उमंग और आनंद की अनुभूति होती है उन क्षणों में अंतरंग से प्रभु, परमात्मा, इष्ट आराध्य को नमस्कार करते हुये शब्द स्वयं प्रस्फुटित होते हैं।

किसी भी कार्य को प्रारंभ करने से पूर्व मंगलाचरण करने की परंपरा प्राचीन काल से ही रही है। चाहे इष्ट देवता को नमस्कार कर अनिबद्ध रूप मंगल किया हो अथवा लिखकर निबद्ध रूप किया हो। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी निबद्ध व अनिबद्ध मंगल को परिभाषित करते हुए कहते हैं–

तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुतकत्तारेण णिबद्धदेवदा णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। –धवला-1

जो ग्रंथ के आदि में ग्रंथकार के द्वारा इष्ट देवता को नमस्कार निबद्ध किया जाता है अर्थात् श्लोकादि रूप में रचकर लिख दिया जाता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं और जो ग्रंथ के आदि में ग्रंथकार द्वारा देवता को नमस्कार किया जाता है अर्थात् लिपिबद्ध नहीं किया जाता उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं।

अथवा मुख्य व अमुख्य के भेद से भी मंगल दो प्रकार का है।

आदौ मध्येऽवसाने च, मंगलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये॥ पं. का./ता. वृ.

ज्ञानियों द्वारा शास्त्र के आदि मध्य व अन्त में विघ्न निवारण के लिए जो जिनेन्द्र देव का गुणस्तवन किया जाता है, वह मुख्य मंगल है।

सिद्धत्थ पुण्णकुंभो वंदणमाला य पुंडुरं छत्तं।
सेदो वण्णो आदस्स णाय कण्णा य जत्तस्सो॥ पं. का./ता.वृ.

पीली सरसों, पूर्ण कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत वर्ण, दर्पण, उत्तम जाति का घोड़ा, कन्या आदि ये अमुख्य मंगल हैं।

शंका–मंगलाचरण क्यों किया जाता है?

समाधान–किसी भी शुभकार्य के पूर्व मंगलाचरण कर्त्ता की आस्तिकता का बोध कराता है। आप्त, गुरु, आगम में आस्तिक्य सम्यक्त्व प्राप्ति का मूल है। इससे शिष्टाचार का भी पालन होता है। यह बड़ों के प्रति आदर-सम्मान को प्रदर्शित करता है। मंगलाचरण करने से निर्विघ्न कार्य की समाप्ति होती है और अतिशय पुण्य का बंध होता है। कहा भी है–

नास्तिक्य परिहारस्तु, शिष्टाचार प्रपालनं।
पुण्यवाप्तिश्च निर्विघ्नः, शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने कहा भी है कि मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता इनका व्याख्यान करने के पश्चात् ही शास्त्र का विवेचन करें। यहाँ सर्वप्रथम मंगल कहा

यदि मंगलाचरण नहीं करते तो आचार्यों की वाणी का उल्लंघन होता है जो कि पाप का कारण है।

शंका–क्या मंगलाचरण करने से कार्य निर्विघ्न पूर्ण होता है? मंगलाचरण से कार्य की निर्विघ्नता का क्या संबंध है?

समाधान–हाँ मंगलाचरण करने से कार्य की समाप्ति निर्विघ्न होती है। पाप कर्म के उदय से ही विघ्न-बाधाएँ आती हैं और इष्ट देवता को नमस्कार करने से पापों का नाश होता है। कहा भी है–

'पठेदष्टोत्तरं नाम्नां, सहस्रं पाप-शान्तये'

भगवान् के नाम लेने मात्र से हजारों पाप नष्ट होते हैं तथा अतिशय पुण्य का बंध होता है, यही कार्य की निर्विघ्नता का होना तर्कादि विषयक अनेक शास्त्रों में व्यवस्थापित किया गया है। आचार्य भगवन् श्री यतिवृषभ स्वामी ने कहा भी है–

सत्थादिमज्झअवसाणएसु जिणथोत्तमंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं, विग्घाइं रविव्व तिमिराइं॥31॥ ति. प.

शास्त्र के आदि, मध्य और अंत में किया गया जिन स्तोत्र रूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को।

शंका–आपने पूर्व में कहा था कि किसी भी शुभ कार्य को करने से पूर्व मंगलाचरण किया जाता है। शुभ मंगल का ही कार्य है और पर्यायवाची है। तो मंगल कार्य के पूर्व मंगलाचरण क्यों?

समाधान–इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि उनमें भी विघ्न हो सकता है। अतः निर्विघ्न कार्य की समाप्ति हेतु यह उचित ही है।

शंका–परंतु मंगल करके प्रारंभ किए गए कार्यों में भी कभी विघ्न पाया जाता है और कभी उसे न करके भी वह निर्विघ्न समाप्त होता है?

समाधान–आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं कि–'यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जिन व्याधियों की औषध की गई है उनका अविनाश और जिनकी औषध नहीं की गई है उनका विनाश देखे जाने से व्यभिचार ज्ञात होने पर भी औषधि द्रव्यों में औषधित्व गुण पाया जाता है। पुनः नमस्कार के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। जिस प्रकार का रोग होता है औषधि उसी प्रकार की कार्यकारी होती हैं। सामान्य पापों के नाश या विघ्न दूर करने में जघन्य नमस्कार भी कार्यकारी है तथा तीव्र कर्मों का नाश भी जिनेंद्र प्रभु की तीव्र श्रद्धान युक्त भक्ति से देखा जाता है।'

शंका–शास्त्र मंगल है या अमंगल है? यदि मंगल है तो मंगल का भी मंगल करने से क्या प्रयोजन? और यदि अमंगल है तो ऐसे शास्त्र से क्या प्रयोजन?

समाधान–भक्ति के लिए मंगल का भी मंगल किया जाता है। जैसे दीपक से सूर्य की, जल से सागर की, वचनों से सरस्वती की पूजन की जाती है वैसे ही मंगल से मंगल का भी मंगल किया जाता है।[1]

इसके अतिरिक्त इष्टदेवता को नमस्कार करने से प्रत्युपकार किया जाता है अर्थात् देवताकृत उपकार को स्वीकार किया जाता है। कहा भी है–

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः, प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्‌गुणस्तोत्रं, शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः।।

परमेष्ठी की कृपा से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है इसलिए शास्त्र के आदि में मुनिराज उनके गुणों का स्तवन करते हैं।

अथवा अविच्छिन्न परंपरा से पूर्वाचार्यों के प्रसाद से ज्ञान यहाँ तक पहुँचा है अतः उन सबके प्रति कृतज्ञता, भक्ति, विनयादि हेतु उन्हें नमस्कार करते हैं क्योंकि ज्ञानी की विनय, गुरुओं की विनय भी ज्ञानवर्द्धन का कारण है।

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धि,
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।

इच्छित फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है और वह सच्चे शास्त्रों से होता है। शास्त्रों की उत्पत्ति आप्त से होती है इसलिए उनके प्रसाद से ही ज्ञान की प्राप्ति हुई होने से वे पूज्य हैं क्योंकि किए गए उपकार को साधुजन भूलते नहीं हैं।

मंगलाचरण करते करते इतनी विशुद्धि बढ़ती है कि उस विशुद्धि से उन्हें ग्रंथ रचना करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। यदि मंगलाचरण न करें तो उनमें अहं भाव आ सकता है। औधत्य आ सकता है, उनकी कषाय का उद्वेग हो सकता है जिसके माध्यम से ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम घट सकता है और जिस कार्य को वे प्रारंभ करना चाहते हैं उसे सकुशल

---

1. **प्रदीपेनाचार्ययेदर्कमुदकेन महोदधिं।**
वागीश्वरां तथा वाग्भिर्मंगलेनैव मंगलं।।

प्रारंभ न कर पायें, कदाचित् प्रारंभ हो भी जाये तो वे पूर्ण कर ही नहीं सकते इसलिये आर्य पुरुषों की यह सनातन परम्परा रही है, आस्तिक्य पुरुषों की यह रीति और नीति रही है और धर्मात्मा व्यक्तियों का ये विशेष गुण रहा है कि वे कोई भी मंगल कार्य करते हैं तो उसके पूर्व अपने इष्ट आराध्य का स्मरण करते हैं, उनकी स्तुति वंदना करते हैं। कई बार तो प्रतिज्ञा वाक्य होता है कि 'मैं नमस्कार करके' अपने कार्य को प्रारंभ करूँगा। कई बार भाषा ये होती है कि 'कार्य के प्रारंभ में मैं नमस्कार करता हूँ', दोनों वाक्य अंतरंग की विशुद्धि के प्रतीक हैं, उनकी सत्यनिष्ठा के द्योतक हैं।

आचार्य भगवन् श्रीमत् देवसेन स्वामी जी ने 'आलाप पद्धति' नाम का ग्रंथ लिखा। उन्होंने मंगलाचरण में प्रतिज्ञा भी की है कि मैं आलाप पद्धति क्यों लिख रहा हूँ, आलाप पद्धति में क्या लिखूँगा, कहाँ से लिखूँगा, कैसे लिखूँगा तो ये सब मंगलाचरण में ध्वनित होता है।

'मंगल' 'मं' शब्द का अर्थ होता है 'पाप' और 'गल' इन दो अक्षरों का अर्थ लगाते हैं 'गलाना।' पापों को गलाना या जिस प्रवृत्ति से पाप गलें उसे मंगलाचरण कहते हैं अथवा दूसरी प्रकार से अर्थ ऐसे भी किया जा सकता है। मंग + ल - 'मंग' अर्थात् उत्कृष्ट सुख, आनंद, अमन, चैन इत्यादि एवं 'ल' अर्थात् लाना, तो इन्हें जो देने वाला है, लाने वाला है वह भी मंगलाचरण होता है।

आचार्य महोदय मंगलाचरण में वर्तमान जिनशासन नायक श्री भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करते हैं। उचित भी है क्योंकि जो व्यक्ति जिस शासक के राज्य में रहता है उसके प्रति नम्रीभूत होना, कृतज्ञ होना, वंदक होना, स्तोता होना यह उसकी सज्जनता का प्रतीक है। भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हुये श्रीमद् देवसेनाचार्य ने भगवान् महावीर स्वामी के लघु नाम और विस्तृत गुणों का स्मरण करते हुये नमस्कार किया। यद्यपि उनके पाँच नाम हैं—वर्धमान, सन्मति, वीर, अतिवीर और महावीर। उन्होंने पाँच नाम में से मध्य के नाम 'वीर' को यहाँ ग्रहण किया। इसके साथ पूर्व के व पश्चात् के दो नाम भी ग्रहण होते हैं। 'वीर' शब्द लघु अक्षरों का समूह है जो वर्धमान महावीर स्वामी का द्योतक है, दूसरा कारण ये भी है कि 'वीर' शब्द के माध्यम से वे 24 तीर्थंकरों को भी नमस्कार कर रहे हैं।

शब्दों का गणित बनाते समय आप गाथा देखते हैं—

कटपयपुरस्थवर्णैर्नव-नव पंचाष्टकल्पितैः क्रमशः।
स्वरञनशून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्॥

अर्थात् क से लेकर 'झ' (क ख ग घ ङ च छ ज झ) ये 1 से 9 अंक तक, पुनः ट से ध (ट ठ ड ढ ण त थ द ध) ये 9, प से म (प फ ब भ म) पाँच अक्षर लिये पुनः बाद में य से ह (य र ल व श ष स ह) 8 अक्षर लिये। इस क्रम के अनुसार 'व' के चार अंक होते हैं और र के 2 अंक होते हैं, तो इस प्रकार 42 (बयालीस) होते हैं। 'अंकानां वामतोगतिः' करके 'वर' का अर्थ 24 निकलता है। अतः (चौबीस) तीर्थंकरों को भी नमस्कार किया है।

दूसरी प्रकार से यहाँ पर 'जिनेश्वरम्' कहा, प्रत्येक जिनेश्वर वीर कहलाता है, क्योंकि वह मोहनीय आदि कर्मों को जीतने वाला होता है। श्री ऋषभाष्टक स्तोत्र में लिखित है–

संसारदावानलमेघनीरं, सम्मोहधूलिहरणे समीरं।
मायारसादारुणसारसीरं, नमामि वीरं गिरिराजधीरं॥

अतः संसार रूपी वृक्ष का उन्मूलन करने वाले, आत्मवैभव को प्राप्त करने वाले प्रत्येक तीर्थंकर वीर हैं। एतावता भूतकालीन, वर्तमानकालीन व भविष्यकालीन ऐसे प्रत्येक तीर्थंकर को नमस्कार किया है। 'जिनेश्वर' जिनों में जो ईश्वर हैं, प्रसिद्ध हैं ऐसे एकदेश जिन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक, सकल जिन 13-14वें गुणस्थान वाले केवली, उन सभी में भी जो श्रेष्ठ हैं ऐसे तीर्थंकरों को नमस्कार किया। दूसरी अपेक्षा से 'जिन' शब्द कहने से उन्होंने पंचपरमेष्ठी को स्वीकार किया। भूत नैगमनय की अपेक्षा से 'सिद्ध' भी जिन हैं, भावी नैगमनय की अपेक्षा से 'आचार्य-उपाध्याय-साधु' भी जिन हैं। क्योंकि वे जिनमुद्रा के धारक हैं इसलिये उन्होंने उन्हें नमस्कार किया।

मंगलाचरण में उन्होंने कहा–

'नत्वा वीरं जिनेश्वरम्' वीर जिनेश्वर को नमस्कार करके। एक क्रिया को पूरी तरह से कर लिया अब दूसरी क्रिया प्रारंभ करते हैं। उनका कहना है कि एक साथ दो क्रिया नहीं होती। अतः पहले नमस्कार कर पुनः लिखना प्रारंभ करते हैं। प्रथमतः एक क्रिया से निवृत्त होकर के दूसरी क्रिया को करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जायेगा; इसलिये उन्होंने ऐसा नमस्कार किया, प्रतिज्ञा ली।

'गुणानां विस्तरं वक्ष्ये' उन्होंने ग्रंथ का प्रारंभ 'ग' अक्षर से किया। ग अक्षर 'ज्ञान' का प्रतीक होता है, ग अक्षर 'रहस्य' का प्रतीक होता है, ग अक्षर 'गरिमा' का प्रतीक होता है, यह ग अक्षर 'मूलशक्ति' का प्रतीक होता है। फिर अकेला 'ग' न कहकर के उन्होंने विस्तार

से कह दिया 'गुणानां'। मंत्र शास्त्रानुसार ण और न ये दोनों अक्षर अग्नि संज्ञक हैं। ग अक्षर घोषवान् है। ग अर्थात् ज्ञान के माध्यम से ही शुक्ल ध्यान की अग्नि द्वारा कर्मों का क्षय संभव है। ग अक्षर का मंगलाचरण होता है तो यह सुख का उद्घाटन करने वाला होता है। किन्तु सरल अर्थ में देखें तो उन्होंने कहा 'वक्ष्ये' अर्थात् कहूँगा। क्या कहूँगा? 'गुणानां' गुणों को कहूँगा। व्यक्ति जैसी चर्चा करता है वैसा हो जाता है अतः मैं गुणों की चर्चा करूँगा। तो क्या संक्षेप में करूँगा? नहीं जब व्यक्ति संसार में दोषों की चर्चा बड़े विस्तार से करता है तो क्या हम गुण की चर्चा न करें? जितनी मेरी शक्ति विस्तार करने की है उतने विस्तार से मैं गुणों की चर्चा करूँगा। 'दोषों की चर्चा नहीं करूँगा', उसका यहाँ निषेध कर दिया। जो व्यक्ति दोषों की चर्चा करता है, चर्या करता है, कथन करता है, उनका चिंतन करता है, दोषों में ही प्रवृत्ति करता है वह व्यक्ति दोषों से मुक्त नहीं हो पाता है; इसलिये उन्होंने कहा 'गुणानां विस्तरं वक्ष्ये'।

जिस पात्र में अमृत भरा हुआ है उस पात्र में अब गंदा पानी नहीं भरा जा सकता क्योंकि वह अमृत से भर दिया गया है इसी प्रकार गुणों की चर्चा करते-करते दोष अपने आप विसर्जित हो जायेंगे जैसे नये पत्तों को आता देखकर के वृक्ष के पीले पत्ते अपने आप झड़ने लगते हैं, सूर्य का प्रकाश देखकर के अंधकार पलायन करने लगता है वैसे ही गुणों की चर्चा करने से, गुणों की चर्या करने से, गुणों का चिंतन करने से दोष निष्कासित होने लगते हैं, दोष भागने लगते हैं, नष्ट होने लगते हैं।

पुनः कहा गुणादि की चर्चा विस्तार से करूँगा। व्यक्ति ये न सोचे कि अहंकार का भाव है। यहाँ दर्प नहीं है वरन् यह कह रहे हैं कि आप भी गुणों की चर्चा-चर्या विस्तार से करते रहो। किसके गुण? द्रव्य के गुण। मुख्य रूप से जीव के गुण कहना चाहते हैं किन्तु जीव एक द्रव्य है तो अन्य द्रव्यों के गुणों को भी कहना चाहते हैं क्योंकि जीव का हित करने के लिये उन सब द्रव्यों को जानना जरूरी है। जीव व पुद्गल के संमिश्रण होने से जीव संसार में परिभ्रमण कर दुःख भोग रहा है अतः जीव के स्वहित के लिए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के गुण, स्वभावादि को जानना आवश्यक है।

'स्वभावानां तथैव च' जो मूलगुण हैं जिनका कभी अभाव नहीं होता, ध्रौव्य रूप ही रहते हैं, वे गुण स्वभाव होते हैं। स्वभाव दो प्रकार का होता है एक शुद्ध स्वभाव और दूसरा अशुद्ध स्वभाव। हमारा वैभाविक परिणाम/स्वभाव क्या है और हमारा शुद्ध स्वभाव क्या है यदि उनकी चर्चा न करेंगे न जानेंगे तो फिर उसे प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। जिसको हम ग्रहण

करना चाहते हैं उसके बारे में जानना जरूरी है। उसके लक्षण क्या हैं, उसके गुण क्या हैं, उसकी विशेषता क्या हैं, उसकी उत्पत्ति का स्थान क्या है, उसकी क्या-क्या दशायें होती हैं? यह सब जानना जरूरी है।

'तथैव च'—जैसे चर्चा हम गुणों की करेंगे उसी प्रकार से स्वभाव की चर्चा करेंगे। गुणों की संप्राप्ति कथंचित् स्वभाव की प्राप्ति है। किन्तु यहाँ शुद्ध गुण, शुद्ध स्वभाव प्राप्त करना है। **'पर्यायाणां विशेषेण'**, किन्तु कई बार ऐसा होता है कि बिना पर्याय के गुण और स्वभाव को जानना मुश्किल हो जाता है। जैसे किसी फल का बाहर का आवरण जानकर पहचानते हैं यह अमुक फल है। केला आपने देखा, उसे देखकर आप जान जायेंगे ये केला है, अकेले गूदा को देखकर के (अलग रखा हो) उसे पहचान नहीं पायेंगे कि क्या चीज रखी है। वस्तु का बाह्य आवरण उसके अंतरंग के सत्य का परिचय कराने वाला होता है; तो पर्याय का ज्ञान भी आवश्यक है। जीव पर्याय के बिना जानने में नहीं आता, वह इंद्रिय गोचर नहीं होता।

जीव की मनुष्य पर्याय, तिर्यंच पर्याय, देवपर्याय, नारक पर्याय ये पर्यायें हैं जिनके माध्यम से जीव को कदाचित् जाना जाता है। ज्ञान की पर्याय है मति, श्रुत आदि ज्ञान। पर्यायों के माध्यम से द्रव्य को जाना जाता है जैसे आप पुद्गल को जानते हैं—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया, पोग्गलदव्वस्स पज्जाया॥16॥ द्र.सं.

पुद्गल की ये दस पर्याय हैं। इनके माध्यम से पुद्गल को जानते है? द्रव्य पर्याय से अलग नहीं है, पर्याय द्रव्य से अलग नहीं है किन्तु बाह्य दृष्टि से पर्याय पकड़ में आती है द्रव्य नहीं। जैसे आप आदमी को देख रहे हैं उसकी आत्मा पकड़ में नहीं आती किन्तु अनुमान से आप जानते हैं, इंद्रियों से जानते हैं कि इस शरीर में आत्मा का निवास है। अतः पर्यायों के माध्यम से जानकारी होगी इसलिये आचार्य महाराज कह रहे हैं 'पर्यायाणां विशेषेण' हम पर्यायों का कथन विशेष रूप से करेंगे। एक कथन सामान्य होता है एक विशेष। कोई प्रश्न करता है कि आचार्य महाराज ने सामान्य को क्यों छोड़ दिया? तब बताते हैं कि उन्होंने सामान्य को छोड़ा नहीं है। सामान्य कहने से कई बार विशेष छूट जाता है पर विशेष कहने से सामान्य नहीं छूटता। तो 'विशेषेण' जब विशेष रूप से कहेंगे तो सामान्य कथन तो करेंगे ही।

यद्यपि सामान्य से बहुत जन पर्याय को जानते भी होंगे किंतु उन्हें विशेष ज्ञान कराने के लिये विशेष रूप से कहेंगे। अनादिकाल से हम सामान्य जानते आ रहे हैं किन्तु फिर भी सामान्य को जानकर हम अपना कल्याण नहीं कर पाये अब उस विशेष को जानना है जिसके

जाने बिना कल्याण नहीं होता, जिसके जान लेने से कल्याण का पथ अवरुद्ध नहीं होता, कल्याण नियम से होता है। इसलिये आचार्य महाराज ने यहाँ तीन बात कहीं 'गुणों का विस्तृत कथन करेंगे, स्वभाव का कथन करेंगे और पर्याय का कथन करेंगे।' इनका कथन करने के साथ-साथ इनके कथन के करने में और भी जो आवश्यक तत्त्व होंगे उन्हें जानने के लिये चाहे नय का कथन करना पड़े, प्रमाण का कथन करना पड़े, निक्षेप का करना पड़े, लक्षण का करना पड़े, उपनय का करना पड़े, इन सभी का कथन दृष्टांत के साथ, उदाहरण के साथ अथवा उसकी अलग-अलग विवेचना करते हुये सूक्ष्म भेद दर्शाते हुये करेंगे।

इस प्रकार हमने संक्षेप में मंगलाचरण की एक विशेष भूमिका देखी, मंगलाचरण का गूढ़ अर्थ देखा अब हम इस मंगलाचरण के माध्यम से समझ सकते हैं कि ग्रंथकार आगे क्या-क्या कहेंगे। तो हम अपनी रुचि को जाग्रत करके आगे देखने का प्रयास करेंगे।

ग्रंथ रचना प्रतिज्ञा

आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते॥1॥

अर्थ—वचनों की रचना के क्रम के अनुसार प्राकृतमय नयचक्र नामक शास्त्र के आधार से आलाप पद्धति को (मैं देवसेनाचार्य) कहता हूँ।

विशेषार्थ—आचार्य भगवन् श्री देवसेन स्वामी जी इस आलाप पद्धति ग्रंथ के माध्यम से मोक्षमार्ग प्राप्त करने के इच्छुक महानुभावों को बोलने की एक विधि, बोलने का एक तरीका समझाने की चेष्टा कर रहे हैं। संसार में यद्यपि बोलने वाले जीव अधिक हैं सुनने वाले कम हैं। सुनने वाले जीव केवल पंचेन्द्रिय कहलाते हैं बोलने वाले दो इंद्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव होते हैं इसलिये कहा जा सकता है कि बोलने वालों की संख्या ज्यादा है सुनने वालों की संख्या कम है।

किन्तु जिनशासन के अनुसार जो सुनने में समर्थ है वही अपना कल्याण करने में समर्थ है, जो सुनने में समर्थ नहीं है वह कल्याण करने में समर्थ नहीं है। इसका अभिप्राय ऐसे भी समझा जा सकता है—जिस व्यक्ति में सहनशक्ति आ गयी, जो सबके अनुकूल-प्रतिकूल वचनों को समताभाव से सहन कर सकता है वही व्यक्ति आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो सकता है। जो व्यक्ति अपनी-अपनी भाषा में शब्दों का आश्रय लेकर के बोलता ही चला जाता है—वह कल्याण मार्ग का पथिक नहीं बन पाता। एकेन्द्रिय-दो इंद्रिय-तीन इंद्रिय-चार इंद्रिय पंचेन्द्रिय असंज्ञी जीव कल्याण मार्ग के पथिक नहीं बन सकते। पंचेन्द्रिय जीव भी जब

तक बोलते रहेंगे तब तक कल्याण मार्ग के पथिक नहीं बनेंगे। सम्यक्त्व की प्राप्ति भी तब होती है जब देशना लब्धि प्राप्त होती है। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें से देशना लब्धि मध्य दीपक की तरह से कार्य करती है।

देशना लब्धि है तो क्षयोपशम व विशुद्धिलब्धि प्राप्त करना सार्थक होता है। देशना लब्धि है तो प्रायोग्य व करण लब्धि भी हो सकती है। तीर्थंकर आदि महापुरुष, गणधर आदि उत्कृष्ट आचार्य एवं उपाध्याय, साधु वर्ग आदि पुण्य पुरुषों की देशना सम्यक्त्व में निमित्त बनती है। आसन्न भव्य जीव जब छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों की विवेचना को उनके माध्यम से सुनते हैं तभी सम्यक्त्व को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, इसलिये सुनना बहुत जरूरी है। यदि कोई योगीराज भी केवल बोलते ही बोलते हैं सुनते नहीं तो वह भी अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं इसलिये मुनिराज के लिये भी कहा, बोलना बंद करो, सुनना प्रारंभ करो।

'मुनि' शब्द का अर्थ भी इस तरह किया जाता है 'मौनं इति मुनि।' जो अधिकांशतः मौन रखते हैं वे मुनि होते हैं। मुनिराज वचनों के द्वारा उपदेश कम देते हैं अपनी शारीरिक धर्ममयी क्रिया व प्रवृत्ति के द्वारा ज्यादा उपदेश देते हैं। उनकी सहज-सरल-धर्ममय प्रशांतमुद्रा भव्य जीवों के मिथ्यात्व का प्रक्षालन करने में समर्थ होती है, कषायों का शमन करने में समर्थ होती है, विषयों से चित्त को विरक्त करने वाली होती है और पापों का विनाश करने वाली होती है। उनकी मुद्रा को देखकर व्यक्ति पापों को छोड़कर पुण्य कार्य में संलग्न हो जाता है। किन्तु यहाँ पर वचन बोलने की बात कही तो दो इंद्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के वचन मोक्षमार्ग में कारक नहीं होते। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिन्हें आत्मा का अनुभव हो गया है ऐसे योगीराज-मुनिराज जो वचन बोलते हैं उनके वचन मोक्षमार्ग में निमित्त बनते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि महाराज इन तीन गुणस्थान वाले जीवों के माध्यम से धर्म का आदान-प्रदान संभव है, श्रुतज्ञान के शब्दों का आदान-प्रदान संभव है।

तो सम्यग्दृष्टि किस प्रकार से बोले, देशव्रती किस प्रकार से बोले या महाव्रती किस प्रकार से बोले? सप्तम गुणस्थान से लेकर के आगे तक के गुणस्थानों में जिह्वा, कंठ, तालु का प्रयोग करते हुये वचन नहीं बोले जाते, सयोग केवली गुणस्थान में दिव्यध्वनि खिरती है वह भी सर्वांग से, ऐसा आचार्य महोदय ने क्षेपक श्लोक के माध्यम से पञ्चास्तिकाय की

टीका में कहा। आचार्य समंतभद्र स्वामी जी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा जैसे मृदंग बजाने से सर्वांग से सहज आवाज निकलती है ऐसे ही सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि भी सर्वांग से खिरती है।

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥8॥

यहाँ एक बात और समझने योग्य है कि सप्तम गुणस्थान से लेकर आगे गुणस्थान वालों के वचनालाप नहीं होते, 13वें गुणस्थान में दिव्यध्वनि खिरती है। वचनालाप छठवें गुणस्थान तक है। प्रथम-द्वितीय-तृतीय गुणस्थान के वचनालाप संसारवर्धक होते हैं पुण्य-पाप के निमित्त होते हैं किन्तु 4-5-6 गुणस्थान वालों के वचनालाप पुण्य में निमित्त बन सकते हैं क्योंकि वह स्वयं शुभोपयोगी होता है, पुण्य में संलग्न होता है। छठवें गुणस्थान वाले मुनिमहाराज शुभोपयोग युक्त संयमी जीवन को जीते हैं। पंचम गुणस्थान वाले देशव्रती श्रावक उस जीवन की भावना भाते हैं और एकदेश पाप का त्याग कर पाते हैं। चतुर्थ गुणस्थान वाले अव्रती होते हैं, असंयमी-असंयत होते हैं उनके पास किंचित् भी चारित्र नहीं होता।

धर्मात्मा पुरुष अनुवीची भाषण बोलते हैं। अनुवीची का आशय होता है 'आगम के अनुसार'। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं तो क्रमशः उठती हैं ऐसे ही जो श्रुत की परम्परा चली आ रही है उस परम्परा के अनुसार ही बोलना, उससे हटकर के नहीं बोलना। यदि कोई भी साधक, कोई भी देशव्रती, कोई भी अव्रती अननुवीची भाषण बोलता है तो वह असमाधि का पात्र हो जाता है। अब यहाँ प्रश्न है कि अनुवीची भाषण भी बोलें तो कैसे बोलें? प्रसंग के अनुसार बोलें। बोलने के लिये प्रथमतः नियम तो यही बनाया कि हितकारी बोलो, सीमित बोलो, प्रिय बोलो और सत्य बोलो। किन्तु फिर भी वचानालाप कैसे होने चाहिये इसके लिए आचार्य महाराज ने सर्वप्रथम यहाँ से ही ग्रंथ का प्रारंभ किया। मंगलाचरण के उपरांत पहला सूत्र यही दिया–

'आलापपद्धतिर्वचनरचनाऽनुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते'

'आलाप' शब्द का अर्थ होता है वचनों का कहना। जो आसन्न भव्य जीव, सम्यग्दृष्टि जीव, महाव्रती आदि महानुभाव हैं उनके वचनों का जो क्रम है वह कैसा होना चाहिये? 'आलाप' यानि वचनों का कहना या वार्ताओं का कहना। कथालाप-कथाओं का कहना, 'धर्मालाप, धर्म का कहना। आलाप पद्धति पहले शब्द से ही ग्रंथ का नाम स्वीकार किया।

बोलने वाले तो बहुत हैं किंतु क्या बोलना चाहिये यह जानने वाले बहुत कम हैं। जो इस बात को समझते हैं वे कम बोलते हैं, जो इस बात को नहीं समझते हैं वे बहुत ज्यादा बोलते हैं। इसलिये यहाँ कहा 'आलापपद्धतिः' बोलने की पद्धति, बोलने का तरीका कैसा हो? स्थान को देखकर के, समय को देखकर के, व्यक्ति को देखकर के, अपने और सामने वाले के भावों को देखकर के बोलना चाहिये। जैसे–डॉक्टर रोगी को देखकर के दवा देता है, रोगी की उम्र भी देखता है, रोगी के रोग को देखकर उसकी सामर्थ्य जानकर, जिस क्षेत्र में रहता है उसकी प्रकृति क्या है उस क्षेत्र का प्रभाव देखकर के, काल कैसा चल रहा है शीत काल है या तीव्र उष्ण काल है कि वर्षाकाल है सब जानकर औषधि देता है। अन्यथा गर्म औषधि दे दी और गर्म क्षेत्र है तो रोगी रोग से मुक्त न होकर शरीर से मुक्त हो जायेगा। वह मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। जहाँ तापमान शून्य से नीचे चला जाता है वहाँ किसी रोगी को शीतल पदार्थ दे दिये तो निमोनिया हो सकता है इसलिये उसके देह का सामर्थ्य देखना है, उसकी उम्र आदि को देखना है, क्षेत्र, जलवायु के साथ-साथ काल को भी देखना है। काल (समय) भी औषधि में अंतर डाल देता है और फिर यह भी देखना है कि उस व्यक्ति का भाव कैसा है। वह पहले से ही नर्वस हो गया, हिम्मत हार गया, अंदर से टूट गया तो ऐसे व्यक्ति को कोई औषधि दी तो वह प्रभाव न दिखा पायेगी। ऐसे ही बोलने वाला व्यक्ति द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा के अनुसार बोले, आगम के अनुसार बोले, अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार बोले। जो शब्द बोलना उसे उचित है वो बोले, पद की मर्यादा के प्रतिकूल शब्द न बोले। सामने वाले श्रोताओं की क्षमताओं को देखकर बोले।

पूज्य आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने 'समयसार' में लिखा है–

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणामसक्कं॥8॥

'आर्य पुरुषों को समझाने के लिये आर्यभाषा का प्रयोग करना चाहिये और म्लेच्छ पुरुषों को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा का प्रयोग करना चाहिये।

यहाँ पर कहा 'वचनरचनाऽनुक्रमेण'। वचन रचना का भी एक अनुक्रम होता है, आप किसी भी विषय का ज्ञान करते हैं तो एक सुव्यवस्थित ज्ञान किया जाता है, उससे विषय समझ में आ जाता है किंतु अव्यवस्थित ज्ञान होता है तो विषय समझ में नहीं आता है। उदाहरण के तौर पर आपसे पूछें, कि मानव का स्वरूप क्या होता है और आप बताना प्रारंभ

करें कि उसके एक दाँया पैर होता है, एक बायाँ कान होता है, एक दाँयी भुजा होती है, उसके पीठ भाग होता है, उदर भी होता है, हाँ एक बायाँ पैर भी होता है, नासिका होती है, कर्ण होता है, बाँयी भुजा होती है, उसकी आँख होती है, फिर सिर होता है आदि-आदि तो इस प्रकार से आपके द्वारा मानव शरीर का वर्णन बताने से मानव संरचना का उपक्रम गलत होने से, सामने वाला (सुनने वाला) भ्रमित हो जायेगा और वह मानव का आकार अपनी कल्पना से कुछ अलग ही समझ लेगा।

यदि कोई व्यक्ति बताये कि मानव शरीर कैसा होता है, शुरू से बतायें कि पहले सिर होता है, मस्तक होता है, दो नेत्र होते हैं, मध्य में नासिका होती है, कपोल की तरफ दो कान होते हैं, पुनः नाक के नीचे मुख, ओष्ठ, जिह्वा, दंतावली होती है, पुनः गर्दन होती है, साइड में दो बाजू होती हैं, कमर के ऊपर उदर और वक्षस्थल होता है। वह विधि पूर्वक बतायेगा, क्रमशः अनुक्रम से बतायेगा तो बात समझ में आ जायेगी। जैसे अनुक्रम से आप गिनती गिनते हैं। 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 .... आगे बढ़ते जाते हैं तो व्यक्ति क्रमशः समझता है। अगर कोई पश्चातानुपूर्वी से पढ़े या याथातथ्यानुपूर्वी क्रम से पढ़े तो वह भ्रमित हो सकता है। इसलिए जब भी शास्त्र का कथन किया जाए अनुक्रम से करना चाहिये। याथातथ्यानुपूर्वी-पश्चातानुपूर्वी से नहीं। हाँ णमोकार महामंत्रादि की जाप अपने चित्त को स्थिर करने के लिये पश्चातानुपूर्वी-याथातथ्यानुपूर्वी क्रम से भी की जा सकती है किन्तु तत्त्व का उपदेश, आगम का, सिद्धांत का उपदेश अनुक्रम से करना चाहिये जिससे मंदबुद्धि, मध्यम बुद्धि, कुशाग्र बुद्धि वाले सभी शिष्य उस ज्ञान को ग्रहण कर सकें और सुफल प्राप्त कर सकें।

यहाँ ये बात बहुत महत्वपूर्ण है कि जो कुछ भी बात कही जाये नय के अनुसार कही जाये। यदि बात नय के अनुसार नहीं है निरपेक्ष है तो वह अप्रभाविक है, मिथ्या है। सापेक्ष बात नयाधीन होती है और निरपेक्ष बात नय से बहिर्भूत होती है। जो सापेक्ष बात कही जाती है वह नयाधीन है, सम्यक् है, प्रमाण है। अनेक सम्यक् नयों का समूह ही प्रमाण होता है और अनेक मिथ्या नयों का समूह मिथ्या ही होता है। 'नयचक्रस्योपरि उच्यते' प्राकृत भाषा और संस्कृत भाषा में नयचक्र नाम के दो ग्रंथ हैं, उन नयचक्र में नय की बात कही गयी है। यहाँ भी आचार्य महोदय मुख्यतया नय का कथन करेंगे, यद्यपि उन्होंने प्रारंभ में कहा कि मैं गुणों का विस्तार से कथन करूँगा, स्वभाव का कथन करूँगा, पर्याय का कथन करूँगा और

नय शब्द वहाँ नहीं लिया किन्तु गुण, स्वभाव और पर्यायों को समझने का उपाय नय और प्रमाण है। **'सकलादेशो प्रमाणाधीना:'** प्रमाण वह ज्ञान होता है जो कहने में नहीं आता है। छद्मस्थ नय के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं और वीतरागी भगवान् प्रमाण के द्वारा जानते हैं इसलिये नयचक्रस्योपरि उच्यते' नयचक्र का आधार लेकर कहूँगा। मैं दंभ में नहीं कह रहा कि मैं कहूँगा उसके बल्कि नयचक्र ग्रंथ के आधार से व सरल भाषा में कहूँगा। प्राकृत भाषा की गाथायें मंद बुद्धि वाले नहीं जान पायें, संस्कृत के श्लोक भी शायद मंदबुद्धि वाले नहीं पकड़ पायें, इसलिये यहाँ अति सरल-ऋजु व प्रांजुल भाषा प्रयुक्त की। यद्यपि ग्रंथ में लगता है कि सूत्र रूप रचना है किंतु यह गद्य रूप रचना है और ये ग्रंथ रचना इतने सरल रूप में है कि इस विषय को कोई भी व्यक्ति यदि समझने की भावना रखता है तो इस शास्त्र के माध्यम से नय के विषय में जान सकता है, समझ सकता है।

'उच्यते' कहा जाता है। क्या कहा जाता है? आलापद्धति को, वचन रचना का जो अनुक्रम है उसे अनुक्रम से कहा जाता है। किसके आधार से? नयचक्र के आधार से कहा जाता है क्योंकि निरपेक्ष कथन करेंगे तो पूरा शास्त्र मिथ्या हो जायेगा, हेय हो जायेगा। जैसे विष मिश्रित अमृत भी हेय होता है, जैसे विषमिश्रित दुग्ध अपेय होता है, जैसे रोगवर्धक औषधि भी त्याज्य होती है ऐसे ही जिस कथन में नय का सहारा नहीं लिया गया हो वह कथन मिथ्यावत् ही होता है, विपरीत कथन स्वीकार नहीं किया जाता इसलिये जैन दर्शन में सप्तभंगी का प्रयोग किया। स्याद् अस्ति आदि सप्तभंगी के माध्यम से व्यक्ति उसे समझने में समर्थ होता है। 1. स्याद् अस्ति 2. स्याद् नास्ति 3. स्याद् अस्ति-नास्ति 4. स्याद् अवक्तव्य 5. स्याद् अस्ति-अवक्तव्य 6. स्याद् नास्ति-अवक्तव्य 7. स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य'।

'स्याद् अस्ति अर्थात् कथंचित् है, 'स्याद् नास्ति'–यह वस्तु कथंचित् पर चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं रूप है, 'स्याद् अस्ति-नास्ति'–वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है परचतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है। 'स्याद् अवक्तव्य' जो कुछ भी है उसे पूरी तरह से वचनों में कहा नहीं जा सकता 'स्याद् अस्ति अवक्तव्य'–कथंचित् है पर पूरा कहा नहीं जा सकता 'स्याद् नास्ति अवक्तव्य' कथंचित् नहींपना भी इसमें है पर क्या-क्या नहींपना है इसे भी नहीं कहा जा सकता। 'स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य'–कथंचित् है–कथंचित् नहीं भी है दोनों धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सात भंग हैं।

'सर्वथा' इस शब्द का प्रयोग सिद्धांत के विरुद्ध हो जाता है निरपेक्ष में सर्वथा नहीं लगाया जाता है, सापेक्ष नय में अपेक्षा लगाने से कथन सम्यक् हो जाता है। जैसे कोई

कहे–'ऋषभदेव पिता थे'। तो इतना वाक्य प्रमाणिक नहीं है ये कहना पड़ेगा कि भरतादि 100 पुत्र, ब्राह्मी–सुंदरी पुत्रियों की अपेक्षा से ऋषभदेव पिता थे। 'ऋषभदेव पुत्र थे' तो ये वाक्य उचित नहीं है, यह सम्यक् नहीं है। ये कहना पड़ेगा कि नाभिराय महाराज और माँ मरुदेवी की अपेक्षा ऋषभदेव पुत्र थे। ऋषभदेव भरतादि के पुत्र अर्ककीर्ति आदि की अपेक्षा दादा भी थे। 'ऋषभदेव तीर्थ प्रवर्तक थे' तीर्थंकर अवस्था में उन्होंने तीर्थ की प्रवृत्ति की, इस अपेक्षा से वे तीर्थप्रवर्तक भी थे, ऋषभदेव एक युग पुरुष थे क्योंकि उन्होंने युग के आदि में धर्म का प्रारंभ किया, कर्मभूमि का प्रारंभ किया। तो किस अपेक्षा से वह बात प्रमाणिक है वह अपेक्षा कहना आवश्यक है।

यहाँ पर आचार्य महोदय देवसेन स्वामी जी 'नय' शब्द से यह कहना चाह रहे हैं कि नय की विवक्षा को समझे बिना कोई भी व्यक्ति कथन करता है तो वह कथन प्रमाणिक व्यक्तियों की सभा में प्रमाणिक नहीं माना जाता, मूर्खों की सभा में प्रमाणिक माना जा सकता है। अतः यहाँ नय चक्र का सहारा लेकर के कथन किया जायेगा।

आचार्य महाराज की शैली सरल व प्रभावक है। वे स्वयं ही अगले सूत्र में प्रश्न कर रहे हैं क्योंकि प्रश्नोत्तर के माध्यम से वर्तमान तक की पीढ़ी अच्छी तरह समझती है। पहले कोर्स की पुस्तकें पढ़ते थे उनमें पहले गद्यांश होते थे, संस्कृत के हों, हिन्दी के हों, प्राकृत के हों, अंग्रेजी के हों, ब्राह्मी लिपि के हों अथवा अन्य-अन्य प्रान्तीय भाषाओं के हों, गद्यांश पढ़ने के उपरांत फिर प्रश्न पूछे जाते थे किन्तु उस समय गद्यांश पढ़कर विद्यार्थी उत्तर स्वयं खोज लेता था। आज पुस्तकें ऐसी बनायी जा रही हैं जिनमें प्रश्न-उत्तर स्पष्ट दिया जाता है। आचार्य महोदय ने भी इस शैली का अनुकरण किया है, पुनः स्वयं ही प्रश्न उपस्थित कर रहे हैं और स्वयं ही उत्तर प्रस्तुत कर रहे हैं।

द्वितीय सूत्र के माध्यम से स्वयं ही प्रश्न रूप में कहते हैं–

ग्रंथ रचना प्रयोजन

सा च किमर्थम्? ॥2॥

अर्थ–इस आलाप पद्धति ग्रंथ की रचना किसलिये की गई है?

विशेषार्थ–यह जो आप आलाप पद्धति ग्रंथ लिख रहे हैं वह क्यों लिख रहे हैं? क्या ख्याति-पूजा-लाभ के लिये? अपने अहंकार के पोषण के लिये? विद्वानों से सम्मान प्राप्त करने के लिये? राजा से प्रणाम प्राप्त करने के लिये, अपना शिष्य संघ बढ़ाने के लिये कि ऐसा करने से मेरे पास बहुत शिष्य आ जायेंगे? क्या परलोक को सुधारने के लिये? किसके लिये? क्या प्रयोजन है आपका लिखने का।

आचार्य महाराज ने स्वयं प्रश्न किया, क्योंकि जो व्यक्ति अपनी कथनी पर स्वयं प्रश्न उठाता है दुनिया को उसकी कथनी पर प्रश्न उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, सब निरुत्तर हो जाते हैं। आचार्य महोदय ने अपने सूत्र पर स्वयं प्रश्न उठाया जैसे आचार्य महाराज स्वयं प्रश्न कर रहे हैं ऐसे ही काश! सभी भव्य जीव,धर्मानुरागी मोक्षमार्गी नित्य ही प्रातःकाल मध्याह्नकाल व सन्ध्याकाल में स्वयं से प्रश्न करें कि तुम स्वयं के लिये ऐसा कार्य क्यों करते हो? कोई भी क्रिया करो तो एक उत्तर अपने अंदर से खोजो। क्या करते हैं मोक्षमार्गी? प्रत्येक क्रिया करने के पहले कहते हैं कि 'सकलकर्मक्षयार्थं' आपने सदैव मुनियों को किसी भी क्रिया से पूर्व कहते देखा होगा

अथ पौर्वाह्निक देव वंदना क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भाव पूजा वंदना स्तव समेतं श्री सिद्ध भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्। कोई भी भक्ति बोलें, स्वाध्याय करें, रात्रि योग प्रतिष्ठापन निष्ठापन करें, आहार प्रत्याख्यान का प्रतिष्ठापन निष्ठापन आदि कोई भी क्रिया-चर्या करें तो सकलकर्मक्षयार्थ करते हैं।

आप भी किसी कार्य से पूर्व प्रयोजन हेतु स्वयं से प्रश्न करेंगे तो निश्चित रूप से आपके माध्यम से निष्प्रयोजनीय कार्य एक प्रतिशत भी नहीं हो पायेंगे। प्रयोजन प्रमाणिक होना चाहिये क्योंकि अहित कार्य उचित नहीं होते, असमर्थ कारण अपने कार्य को सिद्ध कराने में समर्थ नहीं होता। यहाँ आचार्यवर भी कह रहे हैं कि मैं क्यों लिखता हूँ। वे इसका उत्तर भी आगे देंगे। उनका भाव यही है कि आप भी यह प्रश्न अपनी प्रत्येक क्रिया से पूर्व स्वयं से करें, कोई भी शब्द बोलने से पूर्व ही कहें किमर्थम्? आपके बोलने का क्या प्रयोजन है, प्रत्येक क्रिया-चर्या पर विचार करें क्योंकि यदि आपका उद्देश्य सम्यक् नहीं होगा तो किमर्थम् प्रश्न करते ही आप उससे निर्मुक्त हो जायेंगे या अपने उद्देश्य को सम्यक् बना लेंगे।

आचार्य महोदय ने इस छोटे से सूत्र में बहुत बड़ी बात कह दी। जिसे भव्य जीव समझने का सम्यक् पुरुषार्थ करें।

द्रव्यलक्षणसिद्ध्यर्थं स्वभावसिद्ध्यर्थञ्च॥3॥

अर्थ–द्रव्य के लक्षण की सिद्धि के लिये और पदार्थों के स्वभाव की सिद्धि के लिये इस ग्रंथ की रचना हुई है।

विशेषार्थ–यहाँ आचार्य महोदय द्वितीय सूत्र जो प्रश्न रूप था, कि इस आलाप पद्धति ग्रंथ का क्या प्रयोजन है, उसका उत्तर दे रहे हैं। एक कार्य को करने के कई प्रयोजन होते

हैं–सकलकर्मक्षयार्थं, अशुभनिवृत्यर्थं, शुभप्रवृत्यर्थं, संवर-निर्जराप्राप्त्यर्थं, पारम्परेण मोक्ष प्राप्त्यर्थं आदि प्रयोजन हो सकते हैं।

यहाँ आचार्य महाराज तृतीय सूत्र के माध्यम से अपना हेतु बता रहे हैं। **द्रव्यलक्षण-सिद्ध्यर्थं स्वभावसिद्ध्यर्थञ्च** प्रथमत: द्रव्य के लक्षणों को सिद्ध करना प्रयोजन है, दूसरा उन द्रव्यों के स्वभाव की सिद्धि के लिये। द्रव्य किसे कहते हैं? और क्या-क्या विशेषता है इस संबंध में आचार्य महाराज स्वयं आगे बतायेंगे। स्वभाव की भी चर्चा ग्रंथ में विस्तार पूर्वक की है यहाँ संक्षेप में देखें कि द्रव्य व उसके लक्षण क्या हैं।

'द्रव्य' वह होता है जिसमें द्रव्यत्व अर्थात् द्रव्यपना पाया जाये। द्रव्य व द्रव्यपना दोनों अविनाभावी हैं। द्रव्य का पहला लक्षण ग्रहण करते हुये यह कह सकते हैं कि संसार में जिन किन्हीं पदार्थों की, वस्तुओं की सत्ता है वह सब द्रव्य हैं।

कोई कहता है यदि ऐसा है तो गुण-पर्यायों को क्यों छोड़ दिया? तब बताते हैं कि गुण और पर्याय द्रव्य के ही अविनाभावी अंग हैं। गुण द्रव्य में प्रत्येक समय में रहते हैं, पर्याय द्रव्य के साथ प्रतिसमय रहती है किन्तु एक समय में एक पर्याय। चाहे वह गुण की पर्याय हो या द्रव्य की पर्याय हो।

क्या द्रव्य का लक्षण सिद्ध नहीं है, क्या स्वभाव सिद्ध नहीं है? क्योंकि सिद्ध तो उसे किया जाता है जो सिद्ध नहीं हो। 'परीक्षामुखसूत्र' न्याय आदि के ग्रंथों में साध्य क्या कहलाता है बताते हुये कहा जो 'इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं' असिद्ध हो, अबाधित हो, इष्ट हो, जिसे वादी-प्रतिवादी दोनों सिद्ध करना चाहें, वह साध्य है।

यहाँ पर द्रव्य की सिद्धि करना चाहते हैं। पर द्रव्य तो अनादि काल से हैं अनंतकाल तक रहेंगे उनकी सिद्धि क्या करना? जीव भी अनादिकाल से है अनंतकाल तक रहेगा फिर उसे सिद्ध क्या करना?

हाँ सिद्ध करना है अभी असिद्ध है क्योंकि शुद्ध नहीं हुआ। तो क्या सिद्ध होकर पुन: असिद्ध नहीं होता? हाँ नहीं होता। तो क्या द्रव्य को अभी तक सिद्ध किसी ने नहीं किया। जिन्होंने सिद्ध किया उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया। द्रव्य लक्षण के माध्यम से सिद्ध किया जाता है। पुन: कहा 'स्वभावसिद्ध्यर्थं' स्वभाव की सिद्धि के लिये, प्रयोजन जानना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना द्रव्य का शुद्ध करना और स्वभाव का सिद्ध करना अनावश्यक हो जायेगा। तो प्रयोजन यही है कि वर्तमान में लोगों के मन में द्रव्य के संबंध में

बहुत भ्रान्तियाँ हैं। कोई संसार में द्रव्य तीन मानता है ठोस, द्रव्य व गैस, कोई संसार में द्रव्य पच्चीस मानता है, कोई दो मानता है जीव-अजीव, कोई काल के बिना पाँच को ही द्रव्य मानता है तो सबकी धारणायें अलग-अलग प्रकार की हैं।

क्या द्रव्य मात्र दो ही हैं, काल क्या मात्र पर्याय है द्रव्य नहीं है, अजीव द्रव्य की पर्यायें धर्म, अधर्म, आकाश, काल हैं या कुछ अन्य विशेषता है? जीव द्रव्य कहें तो क्या सभी जीव एक जैसे हैं? उनमें संसारी-मुक्त, त्रस-स्थावर, संज्ञी-असंज्ञी, क्या सबको जीव ही कहेंगे? कुछ लोग मानते हैं कि जो मुक्त हो गये हैं, सिद्ध हैं उनमें व्यवहार प्राण नहीं होते। अतः उन्हें जीव नहीं मानना चाहिये, हो सकता है व्यवहार प्राण नहीं है तो निश्चय प्राण नहीं है ऐसा भी लोगों को भ्रम हो सकता है। संसारी एक इंद्रिय जिसके चार प्राण हैं क्या उसे पूरा जीव मानें। स्थावरों के कितने प्राण मानें वह जीव आधा है या पूरा, आदि-आदि मिथ्या धारणाओं का निराकरण करने के लिये आचार्य महाराज कहते हैं कि द्रव्य क्या है पहले उसका लक्षण जान लो क्योंकि बिना लक्षण के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। हम जिसका लक्षण कर रहे हैं उसी के माध्यम से उस वस्तु की अभिव्यक्ति होती है, उसके विषय में ज्ञान होता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व को देखकर उसके बारे में ज्ञान होता है, संसार में जितने पदार्थ हैं उन सबके लक्षण अलग-अलग हैं इसलिये उनका स्वभाव भी अलग-अलग है, स्वरूप भी अलग अलग है। यहाँ पर आचार्य महोदय अपना प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं मैं द्रव्य के लक्षण की सिद्धि करूँगा। जिससे व्यक्ति का द्रव्य संबंधी भ्रम मिट जाये। जब तक द्रव्य या स्वभाव संबंधी भ्रम नहीं मिटेगा तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। और जब तक सम्यग्दृष्टि नहीं है तब तक सम्यग्ज्ञानी नहीं हो सकता, जब तक सम्यग्ज्ञानी नहीं है तब तक वह सम्यक् चारित्रवान् नहीं हो सकता, बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक् वैराग्य नहीं होता, बिना वैराग्य के सम्यक् संयम नहीं होता है और बिना संयम के सम्यक् तप नहीं होता, बिना सम्यक् तप के सम्यक् ध्यान नहीं होता और इन सबके बिना संवर व निर्जरा तत्त्व की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती है, इन तत्त्वों के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तो व्यक्ति आत्महित नहीं कर सकता। आत्मा के हित का भी क्रम है।

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिव माहि न तातें, शिवमग लाग्यो चहिए॥

आकुलता रहित ही आत्मा का सुख है उसके लिये शिवमार्ग में लगना चाहिये तभी आत्महित है। यहाँ पर आत्मा के हित के लिये 'रत्नत्रय' प्रयोजनभूत है, आत्मा के हित के लिये 'मोक्ष' प्रयोजनभूत है। आत्मा का हित तभी संभव है जब आत्मा को जान लेंगे, उसे कैसे जानें? तो किसी भी वस्तु को जानने के लिये सर्वप्रथम उसके लक्षण जाने जाते हैं। कोई पूछे कन्या कैसी है? तब कहेंगे कि सुलक्षणा है, उसके लक्षण अच्छे हैं तो नि:संदेह कन्या अच्छी होगी। वर सुगुणी है, सुव्यक्तित्व वाला है यह अनेक विशेषताओं से जाना जाता है। बुरे को बुरा उसके बुरे लक्षणों को देखकर-जानकर कहा जाता है और अच्छे को उसकी अच्छाई, गुणों, सुलक्षणों से अच्छा कहा जाता है।

द्रव्य के लक्षण के लिये भी आलाप पद्धति पढ़ना परमावश्यक है। स्वभाव को जानने के लिए इस ग्रंथ को पढ़ना आवश्यक है अन्यथा अध्ययन बिना हम न द्रव्य को जान सकेंगे, न स्वभाव को जान सकेंगे। संक्षेप में द्रव्य वह है जिसमें द्रव्यपना पाया जाता है और स्वभाव वह है जो जिसकी नियति है, मूल प्रकृति है, जो कभी भी किसी भी काल में नष्ट नहीं होता। हाँ कदाचित् वैभाविक परिणति हो जाती है जीव और पुद्‌गल द्रव्य की किन्तु स्वभाव मूलत: नष्ट नहीं होता। जैसे अग्नि का स्वभाव ऊष्णता है। अग्नि रहेगी तो उसमें ऊष्णता रहेगी ही रहेगी, यदि नष्ट हो गयी तो अग्नि नहीं रहेगी।

जल का स्वभाव शीतलता है। जल है तो शीतलता रहेगी ही रहेगी चाहे कितना ही खौलता पानी क्यों न हो। उबलता हुआ पानी भी यदि अग्नि पर डाला जाता है तो अग्नि बुझ जाती है इससे सिद्ध होता है उस उबलते पानी में शीतलता थी। कहा जाता है स्वभाव का पूर्णत: कभी नाश नहीं होता है कदाचित् वह विकृत होकर परिणमित हो जाता है, जीव और पुद्‌गल के स्वभाव में विकृति आ जाती है। ये विभाव को प्राप्त करते हैं इसलिये इनमें विभाव-स्वभाव भी पाया जाता है। अन्य चार द्रव्यों में विभाव स्वभाव नहीं पाया जाता।

तो संक्षेप में इस सूत्र में यही कहा कि द्रव्य का लक्षण और स्वभाव की सिद्धि के लिये हम इस ग्रंथ को कह रहे हैं।

द्रव्य संख्या व नाम

द्रव्याणि कानि?॥4॥

अर्थ–द्रव्य कौन है?

विशेषार्थ–आचार्य महाराज अपना प्रयोजन बताने के पश्चात् पूर्व शैली के अनुसार इस चतुर्थ सूत्र में प्रश्न उपस्थित करते हैं। प्रश्न उपस्थित करने से व्यक्ति के मन में उत्तर को जानने की जिज्ञासा होती है। जब व्यक्ति के मन में प्रश्न होता है तो उत्तर खोजे जाते हैं जब प्रश्न नहीं होता तो उत्तर समीप में मंडराते भी रहें तब भी व्यक्ति उनसे लाभ नहीं ले पाता। प्यासा व्यक्ति पानी की खोज करता है, भूखा व्यक्ति भोजन की खोज करता है, धनार्थी धन की खोज करता है, ज्ञानार्थी ज्ञान की खोज करता है। संयमार्थी संयम की संयमी की खोज करता है। अर्थी कैसे बनें? अर्थी बनने के लिये उस वस्तु की महिमा प्रस्तुत करनी पड़ती है। वर्तमान काल में आप देखते हैं कि विज्ञापन के माध्यम से व्यक्ति वस्तुओं के बारे में जानता है, उसकी विशेषतायें जानता है उसके गुणादि के बारे में जानकर उपयोगी समझ वर्तमान काल में उसकी आवश्यकता न भी हो तब भी क्रय कर लेता है क्योंकि भविष्य में शायद वैसी वस्तु मिले या न मिले। इससे सिद्ध होता है कि विज्ञापन वस्तु की चाह पैदा करता है। पहले वस्तु की आवश्यकता पड़ने पर वस्तु खरीदी जाती थी, अब विज्ञापन से वस्तु की महिमा जानकर के वस्तु खरीद ली जाती है।

ऐसे ही आचार्य महाराज प्रश्न कर रहे हैं क्या आप जानते हैं 'द्रव्य कितने होते हैं', तो माना सुनने वाला श्रोता कहता है मैं तो 'द्रव्य' का नाम ही पहली बार सुन रहा हूँ। तो यहाँ पहले प्रश्न किया, जिज्ञासु सोच सकता था कि द्रव्य एक होता है कि अनंत, एक प्रकार का होता है या अनंत प्रकार के होते हैं या संख्यात-असंख्यात प्रकार के होते हैं। क्या द्रव्य का द्रव्यपना सभी में पाया जाता है? उनकी जाति को किस प्रकार से विभाजित किया जाता है तो आचार्य महोदय ने सीधा प्रश्न ही कर दिया 'द्रव्याणि कानि'। इस प्रश्न के उत्तर में अनेक उत्तर प्राप्त हो सकते हैं सबकी अपेक्षा अलग-अलग हो सकती है। कोई कहे एक-दो या छः अथवा इससे ज्यादा व कम भी। स्याद्वाद की दृष्टि में सबके उत्तर सही भी हो सकते हैं किन्तु एक सामान्य व्यक्ति के लिये सामान्य जानकारी प्राप्त करनी है तो कोई पूछे–द्रव्य कितने होते हैं, यदि सामान्य से कथन करें तो अनंतानंत जीव होते हैं उनसे अनंत गुने पुद्गल परमाणु होते हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य संख्या में एक-एक होते हैं व काल

द्रव्य के कालाणु या कालद्रव्य असंख्यात होते हैं। किन्तु प्रकार की अपेक्षा से देखें तो द्रव्य दो प्रकार के भी होते हैं, जीव और अजीव द्रव्य अथवा मूर्त द्रव्य और अमूर्त द्रव्य। मूर्त्तद्रव्य में पुद्गल को ग्रहण किया और अमूर्त्तद्रव्य में शुद्ध जीव व चार अन्य द्रव्य का ग्रहण है। अशुद्ध जीव को मूर्त्तद्रव्य में ले सकते हैं। चेतन-अचेतन की अपेक्षा से भी दो भेद किये जा सकते हैं। अस्तिकाय और अनास्तिकाय की अपेक्षा से दो भेद किये जा सकते हैं। कालद्रव्य अस्ति रूप तो है पर काय रूप नहीं है अन्य पाँच द्रव्य काय रूप हैं अथवा जीव एक है, पाँच द्रव्य अजीव हैं। तो द्रव्य के भेद करने की अपेक्षा अलग-अलग होती है।

अन्य प्रकार से द्रव्य के भेद की अपेक्षा-स्वभाव रूप अवस्था को प्राप्त द्रव्य, विभाव रूप अवस्था को प्राप्त द्रव्य। और अनादिनिधन स्वभाव अवस्था वाले अनादि-अनंत, अनादि-सांत, सादि-सांत और सादि-अनंत ऐसे भी स्वभाव की अवस्था होती है। यह किस प्रकार संभव है? जैसे—पुद्गल का परमाणु आदि शुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है उसका अंत भी होता है। जो जीव अनादि काल पूर्व मोक्ष गया तो अनादिकाल हो गया तब से लेकर के अनंत काल तक रहेगा इस अपेक्षा से कहें तो अनादि अनंत भी सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। अथवा धर्मादि चतुष्क द्रव्य अनादि-अनंत शुद्ध हैं। जो जीव अभी शुद्ध हो रहे हैं, आगे भी शुद्ध होंगे वे जीव सादि अनंत की अपेक्षा से कहे जा सकते हैं और जो पुद्गल परमाणु सदैव शुद्ध ही रहेंगे कदाचित् उन्हें स्कंध बनने रूप आगे कोई निमित्त न मिले तो ऐसा सादि अनंत भी हो सकता है। तो द्रव्य के भेद अनेक अपेक्षाओं से बताये जा सकते हैं।

किन्तु आचार्य महोदय की अपेक्षा यहाँ क्या है? क्या वे आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती जी की अपेक्षा से कह रहे हैं—

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥1॥

अथवा अन्य अपेक्षा लेकर चल रहे हैं कि द्रव्य दो प्रकार के होते हैं मूर्त्त और अमूर्त्त, अथवा एक प्रदेश व बहुप्रदेशी, अथवा शुद्ध चेतना युक्त द्रव्य, अशुद्ध अवस्था को प्राप्त द्रव्य। तो कई अपेक्षायें यहाँ पर संभावित हैं किन्तु हमें आचार्य महोदय की अपेक्षा देखना चाहिये—द्रव्याणि कानि? द्रव्य कितने होते हैं। यहाँ सूत्र से स्पष्ट है कि द्रव्याणि कानि कहकर बहुवचन का प्रयोग किया। द्रव्य शब्द नपुंसक लिंग का, कानि शब्द नपुंसक लिंग का दोनों बहुवचन हैं इससे सिद्ध है द्रव्यों की संख्या बहुवचन में है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से, संग्रह नय

की अपेक्षा से द्रव्य एक है किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से द्रव्य के भेद विधिपूर्वक किये जा सकते हैं। विवक्षा अलग-अलग प्रकार से है।

आचार्य महोदय ने द्रव्यों की संख्या नहीं बतायी। संख्या ज्यादा होती तो बताते संख्यात, असंख्यात, अनंत, अनंतानंत, जगश्रेणी प्रमाण, जगश्रेणी प्रतर आदि कोई भी उपमा देते, किन्तु जब संख्या ज्यादा नहीं होती तो प्रज्ञपुरुष साथ के साथ उनके नाम भी बता देते हैं। जैसे आप किसी से पूछें कितने व्यक्ति आये हैं? अगर संख्या व नाम गिनना कठिन हो, अधिक लोग हों तो कह देते हैं अरे! बहुत जन हैं अंदाजा लगाना भी मुश्किल है और मात्र दो ही व्यक्ति आये हों तो रमेश-महेश दो ही व्यक्ति आये हैं। तो संख्या कम होती है तो साथ ही साथ नाम भी बता दिया जाता है, जिससे पूछने वाले व्यक्ति को दूसरा प्रश्न न पूछना पड़े। प्राज्ञपुरुष एक प्रश्न सुनकर ऐसा उत्तर देते हैं जिसका उत्तर सुनकर आगे उत्पन्न होने वाले संभावित प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं, आगे होने वाली जिज्ञासाओं का समाधान भी हो जाता है।

यहाँ पर भी आचार्य महोदय द्रव्यों की संख्या के साथ नाम भी बता रहे हैं।

जीवपुद्‌गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि॥5॥

अर्थ–जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं।

विशेषार्थ–आचार्य महोदय गुण-स्वभाव-पर्याय का वर्णन कर रहे हैं। अपनी व्याख्या को प्रश्न-उत्तर के रूप में व्याख्यान कर रहे हैं। द्रव्य कितने प्रकार के होते हैं चौथे सूत्र के प्रश्न का उत्तर देते हुये पाँचवें सूत्र में कहते हैं–**'जीवपुद्‌गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि'** यह तो प्रश्न से ही ध्वनित हो रहा था 'द्रव्याणि'। उत्तर में भी द्रव्याणि आना ही था। जिस काल में, जिस वचन में, जिस लिंग में प्रश्न होता है उत्तर भी उसी काल, लिंग व वचन में दिया जाता है। प्रश्न का कुछ हिस्सा उत्तर में पुनरावृत्ति रूप में दिया जाता है। काल की अपेक्षा भूत-भविष्य-वर्तमान, लिंग स्त्री-पुरुष-नपुंसक व वचन एकवचन-द्विवचन-बहुवचन जिस अनुरूप प्रश्न उस अनुरूप उत्तर दिया जाता है।

यहाँ 'द्रव्याणि कानि' प्रश्न था। कम्, के, कानि यहाँ कानि अर्थात् प्रथमा का बहुवचन प्रयुक्त किया। द्रव्याणि जब प्रथमा बहुवचन है तो उत्तर में भी प्रथमा का बहुवचन अंत में आयेगा। जीव पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये द्रव्य हैं। यहाँ द्रव्यों के नाम बता दिये किन्तु अभी भी द्रव्य का लक्षण नहीं बताया। द्रव्य के लक्षण की चर्चा आगे करेंगे, किन्तु द्रव्यों के नाम बताये। प्रथमतः इन नामों की विशेषता देखते हैं।

कोई यहाँ पूछ सकता है कि पहले द्रव्य का लक्षण क्यों नहीं बताया, पहले द्रव्य के नाम क्यों बताये? वइ इसलिये कि इन छहों द्रव्यों की विशेषता देखते हुए आचार्य महोदय ये सिद्ध करेंगे कि छहों द्रव्यों में एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण छहों को द्रव्य कहते हैं। यदि वे पहले द्रव्य का लक्षण बताते तो पुनः बाद में द्रव्य का लक्षण इन सभी में अलग-अलग घटाना पड़ता। सूत्र में द्रव्य का लक्षण छहों में घटित हो जायेगा। यहाँ छः प्रकार के भेद किये।

जीव किसे कहते हैं—यूँ तो जीव शब्द की व्युत्पत्ति में जीवत्व भाव प्रकट होता है, यद्यपि उस जीव द्रव्य में जीवत्व भाव के अतिरिक्त अन्य भाव भी पाया जाता है, किन्तु रूढ़ि से और प्रधानता से जीवत्व भाव ही ग्रहण करने योग्य होता है। व्युत्पत्ति अर्थ में आता है ''जीवति जीविष्यति अजीवत् इति जीवः'' जो जीता है, जीवेगा और पहले भी जीता था वह जीव है।[1] दूसरी अपेक्षा से जीव का लक्षण कहें, प्रधान गुण की अपेक्षा से **('चेतना लक्षणो जीवः')**[2] जीव वह कहलाता है जिसका लक्षण चेतना है। आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ जी में इसी प्रकार की परिभाषा दी है। **ज्ञान-दर्शन-लक्षणो जीवः** ऐसा लक्षण भी जीव में घटित होता है क्योंकि चेतना के दो भेद होते हैं ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना। अथवा 'जो अनुभव करने वाला है वह जीव है' अथवा जीव वह होता है जो कर्म का बंध करता है और कर्म को नष्ट करने में समर्थ होता है क्योंकि जीव के अतिरिक्त पुद्‌गल आदि अन्य द्रव्य कर्म का बंध नहीं करते।

जीव के असाधारण भाव की अपेक्षा देखेंगे तो जीव के पाँच असाधारण भाव होते हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव, ये भाव अन्य द्रव्यों में संभव नहीं। जीव की व्याख्या जीवत्व गुण की अपेक्षा, चेतना गुण की अपेक्षा, ज्ञान-दर्शन गुण की अपेक्षा वा अनुभव गुण की अपेक्षा कर सकते हैं अथवा विभाव-स्वभाव में जो परिणमन होता है, कर्म सहित से कर्म रहित होता है उस अपेक्षा से भी जीव की व्याख्या की जा सकती है।

पुनः जीव की व्यवहार में व्याख्या करें तो कम से कम जो चार प्राणों के साथ जीता है, अधिक से अधिक दस प्राणों के साथ जीता है वह व्यवहार में जीव कहलाता है। निश्चय से

---

1. **पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।**
   सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता॥147॥ प्र.सा.

2. **(अ) स. सि.** **2. (ब) णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स। द्र.सं.**

जीव वह कहलाता है जो चेतना से युक्त है। चेतना निश्चय प्राण है और 5 इंद्रिय 3 बल, आयु व श्वासोच्छ्वास ये दस व्यवहार प्राण हैं।

पुद्गल किसे कहते हैं—व्युत्पत्ति अर्थ की अपेक्षा देखें तो पुद्–पूर्णता का वाची गल अर्थात् गलन जो वृद्धि व ह्रास को प्राप्त होता है।[3] ऐसा केवल पुद्गल ही है अन्य द्रव्य न वृद्धि को प्राप्त होते हैं न ह्रास को प्राप्त होते हैं, पुद्गल के अलावा अन्य द्रव्यों में प्रदेशों का संवर्धन–ह्रास होता ही नहीं। जिस द्रव्य में जितने प्रदेश थे, उतने हैं उतने ही और रहेंगे। जो कभी परमाणु बनता है, कभी स्कंध बनता है, कभी देश बनता है, कभी प्रदेश बनता है, कभी अन्तर्देश बनता है इत्यादि परिभाषा पुद्गल की हैं। फिर भी पुद्गल की अपेक्षा से मूर्त्त पदार्थ को पुद्गल कहते हैं, मूर्त्त पदार्थ की स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार विशेषताएँ हैं।[4] स्थूल पुद्गल इंद्रिय गोचर होता है। सूक्ष्म पुद्गल इंद्रियगोचर तो नहीं किंतु हाँ प्रत्यक्ष ज्ञान के गोचर होता है किन्तु उस पुद्गल में भी ये चार गुण अवश्य पाये जाते हैं। आगे सूत्र में आचार्य महाराज ने पुद्गल के स्वरूप को कहा है यहाँ विस्तार के भय से नहीं कहते।

धर्म व अधर्म द्रव्य—इसकी विशेषता ये है कि ये संख्या में एक है, जीव द्रव्य संख्या की अपेक्षा अनंतानंत, पुद्गल द्रव्य स्कंधों की अपेक्षा अनंत, परमाणु की अपेक्षा देखें तो जीवों से भी अनंतगुणे हैं किन्तु धर्मद्रव्य इसकी संख्या न अनंत, न अनंतानंत, न असंख्यात, न संख्यात न असंख्यातासंख्यात है धर्म द्रव्य एक है। एक कहना संख्या नहीं है? संख्या का प्रारंभ दो से होता है, एक को संख्या में नहीं गिना जाता वह न के बराबर कही जाती है इसलिये धर्म द्रव्य एक था, है, रहेगा। अधर्म द्रव्य भी एक था, है, रहेगा।

धर्म–अधर्म द्रव्य दोनों एक दूसरे के साथ रहते हैं। अशुद्ध जीव और पुद्गल कभी दोनों एक दूसरे को छोड़ते नहीं हैं। शुद्ध होने पर दोनों एक दूसरे को स्पर्श करते भी नहीं हैं। ऐसे ही धर्मद्रव्य अधर्म द्रव्य एक दूसरे के पूरक हैं। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को चलाने में सहकारी होता है तो अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को ठहराने में सहकारी होता है। किन्तु विशेषता ये है कि जीव और पुद्गल द्रव्य जब चलना व ठहरना चाहें तभी धर्म–अधर्म द्रव्य सहकारी होते हैं। यदि चलना न चाहें तो धर्म द्रव्य चलाता नहीं है वह चलते हुए जीव व पुद्गल को चलने में सहायक है उसे उदासीन निमित्त माना जाता है। इसलिये धर्म द्रव्य को

---

3. पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः। –रा.वा.
4. स्पर्शरस-गंधवर्णवन्तः पुद्गलाः॥5/23॥ त. सू.

गति हेतुत्व कहा जाता है, अधर्म द्रव्य भी जब जीव-पुद्गल ठहरना चाहें तो उनको ठहराने में सहायक है, उदासीन निमित्त है, अतः उसे स्थिति हेतुत्व कहा जाता है।

धर्म व अधर्म द्रव्य के स्वरूप को बताते हुए आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने पंचास्तिकाय में कहा है–

उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीवपोग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणाहि॥85॥
जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधम्मं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढवीव॥86॥

जिस प्रकार जगत् में पानी मछलियों को गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है। जिस प्रकार धर्म द्रव्य है उसी प्रकार का अधर्म नामक द्रव्य भी है परंतु वह स्थिति क्रियायुक्त जीव-पुद्गलों को पृथ्वी की भाँति (उदासीन) कारणभूत है।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य में कुछ साम्यता है। दोनों संख्या की अपेक्षा से एक-एक हैं, इनके असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं, प्रदेश बराबर-बराबर होते हैं, ये अनादिनिधन शुद्ध हैं, इनमें अर्थपर्याय होती है ऐसी बहुत सारी समान विशेषतायें दोनों में हैं।

आकाश और काल द्रव्य-ये भी यद्यपि अमूर्त्त हैं किन्तु आकाश द्रव्य और काल द्रव्य में एक विशेषता है कि आकाश द्रव्य स्वयं को अवगाहन देने के साथ-साथ अन्य द्रव्यों को भी अवगाहन देता है ऐसे ही काल द्रव्य स्वयं में परिणमन करता हुआ सभी द्रव्यों के परिणमन में सहकारी है। आकाश अनंत, अखण्ड व अमूर्त्त होता है। काल-द्रव्य अमूर्त्त होता है वह अप्रदेशी व असंख्यात है। धर्म द्रव्य असख्यात प्रदेशी है, अधर्म द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है, जीव द्रव्य के प्रदेश असंख्यात होते हैं। पुद्गल के प्रदेश संख्यात-असंख्यात-अनंत होते हैं फिर भी इन सभी की सीमा है किन्तु आकाश के प्रदेशों की सीमा नहीं है वह अनंत हैं।

सव्वेसिं जीवाणं, सेसाणं तह य पोग्गलाणं च।
जं देदि दवियमखिलं, तं लोगे हवदि आगासं॥90॥ पं. च.

लोक में जीवों को और पुद्गलों को वैसे ही शेष समस्त द्रव्यों को अवकाश देता है वह आकाश द्रव्य है।

व्योमामूर्तस्थितं नित्यं, चतुरस्रं समं घनम्।
अवगाहनहेतुश्चानन्तानन्त-प्रदेशकम्।।24।। आचारसार

आकाश द्रव्य अमूर्त, नित्य, अवस्थित, चतुरस्र, घनाकार, अवगाहना का हेतु व अनंतानंत प्रदेशी है।

ववगदपणवण्णरसो, ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो, वट्टणलक्खो य कालोत्ति।।24।। पं. का.

काल पाँच वर्ण व पाँच रस रहित, दो गंध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु, अमूर्त व वर्तना लक्षण वाला है।

यथा कुलाल चक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला तथा कालः पदार्थानां वर्तनोपग्रहे मतः।।4।। म.पु.

जिस प्रकार कुम्हार के चाक के घूमने में उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन होने में कालद्रव्य सहकारी कारण है।

आकाश-काल दोनों ही द्रव्य हैं क्योंकि जो लक्षण आगे कहेंगे वे इन छहों द्रव्यों में घटित होता है। यहाँ छः द्रव्यों का नामोल्लेख करते हुये आचार्य महोदय ने संख्या की संभ्रान्ति को दूर कर दिया, स्पष्ट कह दिया छः ही द्रव्य हैं किसी भी काल में छः से कम व अधिक न होते, न हो सकते। द्रव्य का द्रव्यत्व क्या है, द्रव्य का लक्षण क्या है? यह आगे सूत्र में कहेंगे। वह लक्षण छहों द्रव्यों में एकरूपता से घटित हो जायेगा। भले ही छहों द्रव्यों की जातियाँ अलग-अलग हैं, स्वभाव अलग-अलग हैं, विशेष गुण अलग-अलग हैं किन्तु फिर भी छहों द्रव्यों के सामान्य गुण व लक्षण एकरूपता के साथ घटित होते हैं।

यद्यपि जीवादि छः द्रव्य अनादिकाल से हैं अनंतकाल तक रहेंगे तो ये अनंतपना जो हम सिद्ध कर रहे हैं यह द्रव्यत्व की अपेक्षा से है। चार चीजें होती हैं द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। द्रव्यत्व की अपेक्षा से छः द्रव्य अनादिअनंत हैं किन्तु आकाश और काल में द्रव्यत्व के अलावा क्षेत्र और कालपना है। आकाश क्षेत्रत्व की अपेक्षा से अतंहीन है। काल, काल की अपेक्षा से भी अनादि अनंत है द्रव्यत्व की अपेक्षा से तो है ही। और भाव की अपेक्षा धर्म-अधर्म-आकाश-काल ये चार द्रव्य शुद्ध हैं अनादिअनंत हैं, किन्तु जीव और पुद्गल अनादिकाल से अशुद्ध भावों के साथ रहते हैं, शुद्ध भावों को प्राप्त कर लेते हैं। जीव जब एक बार शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है तो अनंतकाल तक शुद्ध ही रहता है उसका वह स्वभाव सादि अनंत है तथा पुद्गल का शुद्ध स्वभाव सादि-सांत है।

जीव चिन्मय है, संसार अनादि अनंत है, व्यवहार राशि में जीव कभी कम नहीं होंगे। निगोद से जीव निकलते जा रहे हैं फिर भी कम नहीं होते, सिद्धों में जीव बढ़ते जायें तब भी वहाँ कोई कमी नहीं आती।

जो जीव भव्य है, वह अपने पुरुषार्थ के बल से संसार के परिभ्रमण से छूटना चाहता है। ऐसे ज्यादा जीव नहीं होते, ऐसे मात्र 608 जीव होते हैं जो छः महीने आठ समय में मोक्ष प्राप्त करते हैं। इससे ज्यादा कम संख्या नहीं हो सकती। उतने जीव ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। तो जीव और पुद्‌गल के लिये विशेषतायें कुछ अलग हैं, धर्म-अधर्म द्रव्य की विशेषतायें व आकाश-काल द्रव्य की विशेषतायें कुछ अलग हैं। इसलिये यहाँ पर आकाश-काल को अलग से कहा।

कुछ लोगों का मानना है काल द्रव्य ही नहीं है, तो उनका यह मानना मिथ्या है क्योंकि काल में द्रव्य का वह लक्षण घटित होता है जो अन्य पाँच द्रव्यों में घटित होता है। इसलिये काल भी द्रव्य है। एतावता सूत्र में द्रव्य की संख्या व नाम के कथनोपरांत अब इनके लक्षण का कथन करते हैं।

द्रव्यलक्षण

सद्‌द्रव्य-लक्षणम्॥6॥

अर्थ–द्रव्य का लक्षण सत् है।

विशेषार्थ–आचार्य भगवन् देवसेन स्वामी जी इस आलाप पद्धति ग्रंथ के षष्टम् सूत्र में द्रव्य का लक्षण बता रहे हैं।

यद्यपि इस सूत्र 'सद्‌द्रव्यलक्षणम्' का प्रयोग पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है संस्कृत भाषा में भी प्राकृत भाषा में भी। हमारे आचार्यों की निर्मल परम्परा रही है कि स्वयं से पूर्ववर्ती आचार्यों के वाक्य को प्रमाण मानकर उन्होंने भी ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी ने जहाँ 'तत्त्वार्थसूत्र में 'सद्‌द्रव्यलक्षणं' कहा, आचार्य कुंदकुंद स्वामी जी ने पञ्चास्तिकाय आदि में 'सद्दव्वलक्खणं' इत्यादि सूत्र वाक्य गाथा के रूप में कहे। अन्य-अन्य आचार्यों ने भी कहे, वहीं आचार्य देवसेन स्वामी जी ने भी अलग से कोई लक्षण नहीं कहा, कह भी नहीं सकते क्योंकि जो लक्षण प्रमुख व सर्व शाश्वत है उसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार भगवान् का स्वरूप सर्वज्ञता, हितोपदेशिता व वीतरागता माना। अपरवर्ती आचार्यों ने भी उन्हीं को माना, शास्त्र का लक्षण, गुरु का लक्षण समन्तभद्रादि आचार्यों ने जो माना वही परंपरा रूप से प्रवर्तमान है। उसी प्रकार यहाँ पर भी 'द्रव्य' का प्रधान लक्षण कहकर के आचार्य महोदय ने कहा 'सद्द्रव्यलक्षणम्' इसका आशय है संसार में जिन-जिन वस्तुओं की सत्ता थी, है या होगी वह सब द्रव्य हैं। जिनकी आज सत्ता है उनकी सत्ता कल भी थी आज एक भी द्रव्य वृद्धिंगत नहीं हुआ और आगे तक अनंतकाल निकलने के उपरांत भी एक भी द्रव्य की वृद्धि नहीं होगी। और न ही ह्रास होगा प्रकार की अपेक्षा से भी नहीं और संख्या की अपेक्षा से भी नहीं। संख्या भी अनादिनिधन ही है। चाहे संख्या पुद्गल द्रव्यों की हो या जीव-धर्म-अधर्म-आकाश-काल किसी भी द्रव्य की संख्या हो वह नियत थी, है और रहेगी।

'सत्' क्या है इसे आचार्य महोदय स्वयं अगले सूत्र में कहेंगे किन्तु अभी यहाँ सामान्यता सत् का लक्षण यह मान सकते हैं ''जिसका अस्तित्व है''

इसलिये सद्द्रव्यलक्षणं कहते हुये 'द्रव्य' का प्रथम लक्षण अस्तित्व ही माना है। द्रव्य का प्रथम लक्षण 'सत्' माना है। यद्यपि द्रव्य के अन्य लक्षण भी होते हैं, द्रव्य वह भी होता है जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना पाया जाता है। द्रव्य वह भी होता है जो अपने अंदर गुणों को समाहित करता है, द्रव्य वह भी होता है जिसमें पर्यायें द्रवित होती हैं परिणमन होता है।

द्रव्य के सामान्य छः गुण होते हैं उन किसी भी एक गुण की अपेक्षा द्रव्य का लक्षण बनाया जा सकता था किन्तु यहाँ पर सत् को मुख्य मानकर कहा कि द्रव्य का लक्षण 'सत्' है। सत् का लक्षण क्या है? तो सत् का लक्षण अलग से नहीं बना सकते क्योंकि सत् अपने आप में एक गुण है और गुण वे कहलाते हैं जो द्रव्य के आश्रय से रहें, द्रव्य के संपूर्ण हिस्से में रहें, द्रव्य की हर अवस्थाओं में रहे इसलिये उसका कोई गुण नहीं हो सकता, लक्षण हो सकता है। जैसे द्रव्य का लक्षण सत् किया है ऐसे ही सत् में क्या लक्षण होता है आगे कहेंगे।

यहाँ इतना ही भावार्थ है कि संसार में वे सब द्रव्य कहलाते हैं जिनका अस्तित्व है। सत् को बताते हुय आचार्य महाराज सूत्र कह रहे हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥7॥

अर्थ–जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है।

विशेषार्थ–'सत्' वह है जिसमें 'अस्तिपना' है। सत् वह है जिसमें वस्तुत्व गुण है, सत् वह है जो द्रवित होता रहता है, सत् वह है जिसमें परिणमन होता रहता है अगुरुलघु गुण के माध्यम

से, सत् वह है जो किसी न किसी ज्ञान का विषय है, सत् वह है जिसमें प्रदेश पाये जाते हैं। द्रव्य का प्रधान लक्षण यहाँ कहा 'सत्'। जिस समय जिस गुण की अपेक्षा होती है वह प्रधान होता है, अन्य गुण गौण होते हैं अभाव रूप नहीं।

'सत्' कहने से आपने द्रव्य लिया तो क्या वह सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त नहीं है? उसमें भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है। जिसका अस्तित्व है क्या उसमें भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण नहीं है? अवश्य है। इसी तरह से यहाँ पर अपेक्षा रखी है 'सत्' की इसलिये अस्तित्व आदि गुण को मुख्य माना। यद्यपि छहों गुण अपने आप में महत्वपूर्ण हैं किसी भी गुण की गरिमा कम नहीं की जा सकती। जैसे चारों दिशाओं में चारों ही मुख्य हैं जब जिस दिशा की मुख्यता मानकर चलें। हाथ में चार अंगुली एक अंगूठे में कोई पूछे कौन अधिक महत्वपूर्ण है तो चारों ही महत्वपूर्ण हैं चारों अंगुलियों का अपना-अपना महत्व होता है, अंगूठे का अपना अलग महत्व है। अत: किसी से भी किसी का महत्व नहीं आँका जा सकता। शरीर में आठ अंग होते हैं, कौन सा अंग विशेष महत्वपूर्ण है? सभी अंग महत्वपूर्ण हैं किसी के महत्व को कम नहीं आँका जा सकता। किन्तु फिर भी जिस समय जिसका विशेष प्रयोग होता है उसका महत्व ज्यादा बढ़ जाता है, और उसका महत्व मानने वाले लोग भी ज्यादा होते हैं।

यहाँ 'सत्' द्रव्य का लक्षण किया। यह भी कहा जा सकता है वस्तुत्व गुण लक्षण वाला द्रव्य होता है, यह वाक्य मिथ्या नहीं होगा। द्रव्यत्व गुण वाला द्रव्य होता है तब भी कोई अन्युक्ति नहीं है। अगुरुलघु गुण वाला द्रव्य होता है तब भी कोई अन्युक्ति नहीं है। प्रमेयत्वगुण वाला, प्रदेशत्वगुण वाला द्रव्य है ऐसे द्रव्य के लक्षण बनाये जा सकते हैं। जिस प्रकार जीव का लक्षण चेतना कहा, ऐसा नहीं कि इसके अतिरिक्त जीव का कोई और लक्षण नहीं बन सकता किन्तु प्रधानता एक को दी जाती है, शेष को गौण किया जाता है, उनका अभाव नहीं होता।

यूँ तो द्रव्य के छ: गुणों में किसी भी गुण की प्रधानता रखी जा सकती है किन्तु यहाँ पर 'सत्' का साक्षात् अर्थ अस्तित्व से लिया जाता है इसलिये अस्तित्व प्रमुख गुण माना गया है उसके बाद ही अन्य गुणों को लिखा। जिसका अस्तित्व हो सकता है उसका कोई प्रयोजन हो सकता है, उसमें कोई परिणमन हो सकता है यदि अस्तित्व ही नहीं है तो अन्य गुण भी संभव नहीं हैं।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं–'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' उत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना, 'व्यय' नष्ट होना, 'ध्रौव्य' वह है जो किसी भी काल में किसी भी क्षेत्र में नष्ट न हो

सके। द्रव्य की ध्रौव्यता शाश्वत है, गुणों को ध्रौव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। पर्यायें कभी शाश्वत नहीं होतीं, पर्याय पर्यायत्व की अपेक्षा से शाश्वत हैं किन्तु एक पर्याय की अपेक्षा से शाश्वत नहीं है। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं। उनका क्रम चलता ही रहता है।

न सामान्यात्मनोदेति, न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्तेः, सहैकत्रोदयादि सत्।।57।। दे.स्तो.

वस्तु सामान्य की अपेक्षा न तो उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है क्योंकि सब पर्यायों में उसका अन्वय पाया जाता है। विशेष की अपेक्षा से वस्तु नष्ट और उत्पन्न होती है। एक साथ एक वस्तु में उत्पाद आदि तीन का होना सत् है।

उत्पाद आदि तीनों परस्पर में पृथक-पृथक् नहीं हैं, किन्तु उत्पाद आदि तीनों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है।

उदाहरण स्वरूप-स्वर्ण एक द्रव्य है, स्वर्ण में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शुद्ध हैं। स्वर्ण शुद्ध हो या अशुद्ध कैसा भी हो ये चार गुण नष्ट नहीं होंगे। स्वर्ण की द्रव्य पर्याय चाहे कंगन रूप है या हार रूप या अन्याभूषण रूप किसी भी रूप में वह सोना नष्ट नहीं होता उसके गुण नष्ट नहीं होते। हाँ जिस समय वह स्वर्ण कंगन रूप है उस समय हार रूप में नहीं है, जब हार रूप में है तब कंगन रूप में नहीं है या अन्य-अन्य आभूषण रूप में नहीं है। एक समय में एक ही पर्याय हो सकती है। वह स्वर्ण किसी भी पर्याय में आ सकता है कोई भी पर्याय रूप हो सकता है किन्तु जब एक पर्याय नष्ट होती है तो दूसरी पर्याय नियम से उत्पन्न होती ही होती है। दूसरी पर्याय जब हम उत्पन्न करना चाहें तो पूर्व को नष्ट करना ही होता है।

उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य से युक्त द्रव्य है इसे दृष्टांतपूर्वक आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं-

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम्।।59।।

स्वर्ण के घट का स्वर्ण के मुकुट का और केवल स्वर्ण का इच्छुक मनुष्य क्रमशः स्वर्ण-घट का नाश होने पर शोक को, स्वर्ण-मुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष को और दोनों ही अवस्थाओं में स्वर्ण की स्थिति होने से माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होता है।

एक व्यक्ति स्वर्ण घट चाहता है, दूसरा स्वर्ण मुकुट चाहता है, तीसरा केवल स्वर्ण चाहता है। घट तोड़कर मुकुट बनाने से एक दुःखी व एक खुश होता है किन्तु स्वर्ण चाहने

वाला माध्यस्थ होता है। मध्यस्थता का कारण वस्तु का ध्रौव्यत्व है शोक, दु:ख का कारण व्यय व हर्ष का कारण उत्पाद है। इस प्रकार वस्तु में निर्बाध रूप से उत्पाद आदि तीन की प्रतीति होती है और वही वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सिद्ध करती है।

कुंभकार मिट्टी से घड़ा बनाता है। मिट्टी द्रव्य है। उसमें मिट्टी के सामान्य स्पर्श, रस, गंध व वर्ण गुण पाये जाते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य विशेष गुण जिनसे घड़ा बन सकता है मिट्टी का डेला है, स्थास कोश, कुशूल, शिवक आदि मिट्टी की कोई भी कच्ची-पक्की पर्याय रूप में है मिट्टी सबमें है। एक पर्याय नष्ट होती है तब दूसरी पर्याय आती है। घड़ा-टूट गया तो अब घड़ा पर्याय नहीं रही किन्तु मिट्टी फिर भी है।

आत्मा किसी मनुष्य पर्याय में है, जब मनुष्य पर्याय नष्ट होगी तब उसे पुन: दूसरी पर्याय प्राप्त होगी, वह पर्यायं मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकी किसी की भी मिल सकती है, एक साथ दो पर्यायें नहीं हो सकतीं। द्रव्य कभी भी बिना पर्याय के नहीं रहता और बिना गुणों के भी नहीं रहता। गुण शाश्वत हैं गुणों का परिणमन होता है तो गुणों की पर्याय आती है, द्रव्य का समूचा परिवर्तन होता है तो द्रव्य की समूची पर्याय आती है। पर्याय का ही उत्पाद और व्यय होता है गुणों में कभी उत्पाद-व्यय नहीं होता। गुण परिणमन करते हैं शुद्ध से अशुद्ध की ओर, अशुद्ध से शुद्ध की ओर ये परिणमन होता रहता है किंतु गुणों का कभी अभाव नहीं होता।

परिणमन कैसे होता है, जैसे दीपक में जलती हुयी ज्योति पर हरा काँच लगा दिया तो प्रकाश हरा दिखाई देता है, लाल काँच लगा दिया तो लाल प्रकाश दिखाई देता है। ज्योति नहीं बदलती काँच बदलता है इससे बाहर का प्रकाश बदलता जाता है। ऐसे ही पर्याय बदल जाती है, परिणमन बदलता दिखाई देता है किन्तु अन्तरंग का जो स्वत्व है वह कभी नष्ट नहीं होता।

पुद्गल-जीव द्रव्य के उदाहरण हमारे समझ में अच्छी तरह से आ सकते हैं क्योंकि वे दृष्टिगोचर भी होते हैं, उनकी स्थूल पर्यायें भी देखने में आती हैं, व्यञ्जन पर्याय होती हैं, अर्थ पर्याय भी होती हैं। धर्म-अधर्म-आकाश व काल इन चार द्रव्यों की पर्याय देखने में नहीं आती इसलिये इन चार द्रव्य के उदाहरण स्पष्ट रूप से नहीं दिये जा सकते।

सूत्र का भावार्थ यही है कि जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पाया जाता है वह 'सत्' होता है। सत् ही द्रव्य का लक्षण होता है।

गुणाधिकार

द्रव्य के सामान्य गुण

लक्षणानि कानि?॥8॥

अर्थ—द्रव्यों के लक्षण (गुण) कौन-कौन से हैं?

विशेषार्थ—आचार्य भगवन् श्री देवसेन स्वामी जी सूत्र अष्टम के माध्यम से बता रहे हैं 'लक्षणानि कानि' पूर्व सूत्रों में द्रव्य के संबंध में बात कही, द्रव्य का लक्षण बताया। अब कह रहे हैं उन द्रव्यों के क्या लक्षण हैं? 'लक्षण' के बारे में आचार्यों ने बताया कि लक्षण या विशेषता वह होती है जिसके माध्यम से अनेक मिले हुये पदार्थों में से एक पदार्थ को अलग किया जा सके। **'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्'** लक्षण के दो भेद किये जाते हैं। 1. आत्मभूत लक्षण 2. अनात्मभूत लक्षण। आत्मभूत लक्षण वह होता है जो उस पदार्थ में मिला होता है, उसे कदापि अलग नहीं किया जा सकता। जैसे अग्नि का लक्षण ऊष्णता, जल का लक्षण शीतलता, वायु का लक्षण गतिशीलता, शक्करादि का लक्षण मधुरता है जो उनसे अलग नहीं किया जा सकता। अनात्मभूत लक्षण वह होता है जो उस पदार्थ से अलग किया जा सके। जैसे—नीले वस्त्र वाला मनुष्य यह लक्षण वर्तमान में कहा जा रहा है, यदि वह मनुष्य नीले वस्त्रों को उतार दे तो अलग हो सकता है। अथवा किसी ने कहा वह टोकरी वाली सब्जी, वह सब्जी आज टोकरी में है कल अन्य किसी पात्र में रखी जा सकती है या सब्जी वाली टोकरी कहना, आज टोकरी में सब्जी रखी है, कल फल भी रखे जा सकते हैं या अन्य सामान भी रखा जा सकता है यानि वह वस्तु अलग की जा सकती है। वह अनात्मभूत लक्षण होता है।

इन छः द्रव्यों के सामान्यतया छः लक्षण बता रहे हैं। लक्षण गुण रूप भी होते हैं, स्वभाव रूप भी होते हैं। लक्षण, विशेषता, स्वभाव, गुण, प्रकृति, धर्म, नियति ये सब एकार्थवाची नाम हैं। यहाँ कहा 'लक्षणानि कानि'? लक्षण कितने हैं? लक्षण पर्याय की अपेक्षा से कहें तो अनंत हो सकते हैं। जीव और पुद्‌गल की अशुद्ध पर्यायें अनंत रूप भी होती हैं इसलिये जीव-पुद्‌गल के लक्षण अनंत भी हो सकते हैं। धर्म-अधर्म-आकाश-काल ये शुद्ध रूप में होते हैं इसलिये इनके लक्षण अधिक नहीं बनाये जा सकते फिर भी गुण रूप से चर्चा करते हैं तो दो प्रकार के गुण होते हैं। एक सामान्य गुण जो छहों द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। दूसरे वे विशेष गुण जो छहों द्रव्यों में न होकर किन्हीं एक-दो-तीन-चार-पाँच द्रव्य में पाये जाते हैं। विजाति की अपेक्षा से वे विशेष भी होते हैं और स्वजाति की अपेक्षा से सामान्य भी होते हैं।

यहाँ सूत्र का यही भाव है कि द्रव्यों को जानने के लिये उनका लक्षण जानना जरूरी है। आचार्य महोदय ने जो प्रतिज्ञा की थी कि द्रव्य के गुण, स्वभाव, पर्याय को जानेंगे और इन सबको जानने के लिये नय की चर्चा भी करेंगे अतः यहाँ लक्षण बतायेंगे, जिसके सामान्य-विशेष रूप से दो भेद हैं।

अस्तित्वं वस्तुत्वं द्रव्यत्वं प्रमेयत्वं अगुरुलघुत्वं प्रदेशत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं द्रव्याणां दशसामान्यगुणाः॥9॥

अर्थ—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व व अमूर्त्तत्व ये द्रव्यों के दश सामान्य गुण हैं।

विशेषार्थ—इस सूत्र में आचार्य महोदय द्रव्य के सामान्य लक्षण बता रहे हैं। पूर्व सूत्र में जो लक्षणों के आत्मभूत व अनात्मभूत ऐसे दो प्रकार बताये थे। यहाँ द्रव्यों के अनात्मभूत लक्षण की चर्चा नहीं है, क्योंकि अनात्मभूत कहने से प्रतिकूलता उत्पन्न हो जाती। प्रतिकूलता यह कि आत्मभूत लक्षण तो त्रैकालिक होते हैं अनात्मभूत लक्षण तात्कालिक होते हैं। यदि कोई भी व्याख्याता द्रव्यों का व्याख्यान करते समय द्रव्यों के अनात्मभूत लक्षणों का कथन करता तो जिस समय वह वर्णन कर रहा है उस समय तो वे लक्षण घटित हो जाते किन्तु इसके पूर्व व पश्चात् में घटित नहीं होते। क्योंकि अनात्मभूत लक्षण शाश्वत रूप नहीं होते वे एक अवस्था रूप, पर्याय रूप हैं या कोई संयोगी द्रव्य के माध्यम से बनाया गया लक्षण है। इसलिये यहाँ आचार्य महाराज ने द्रव्यों के आत्मभूत लक्षणों का कथन किया। अनात्मभूत लक्षण के बारे में इतना ही भाव व्यक्त किया है कि जिस काल में जिस द्रव्य का जिस संयोग से जो बाह्य लक्षण दिखाई दे रहा है वह उसका अनात्मभूत लक्षण मानो।

जैसे जीव का आत्मभूत लक्षण चेतनत्व है अस्तित्व आदि भी हैं अनात्मभूत लक्षण उसकी मनुष्य-तिर्यंचादि पर्याय हैं क्योंकि यह पर्यायें उस आत्मा के साथ शाश्वत नहीं हैं। ये पर्याय काल विशेष तक रहने वाली पर्याय हैं। यह अनात्मभूत लक्षण पर्याय की अपेक्षा से कहा। गुण की अपेक्षा से जीव का अनात्मभूत लक्षण है—कुमतिज्ञान, कुश्रुतादि ज्ञान, ये भी जीव का शाश्वत स्वभाव नहीं है। यह अभव्य का शाश्वत स्वभाव माना जा सकता है, भव्य का नहीं। मति, श्रुत ज्ञान को भी गुण की अपेक्षा से अनात्मभूत लक्षण कहा जा सकता है क्योंकि मति, श्रुत, अवधि आदि ज्ञान क्षयोपशम भाव हैं, बाद में भव्य क्षायिक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

सिद्धों के प्रमत्त-अप्रमत्तादि गुणस्थान अनात्मभूत लक्षण हैं। जीव का लक्षण यदि सिद्ध पर्याय मानें तो वह भी शाश्वत नहीं है क्योंकि जब तक जीव सिद्ध नहीं है तब तक उसमें वह लक्षण है ही नहीं और जब है तब अनंतकाल तक रहेगा। किन्तु जब वह उसे प्राप्त हो जायेगा तब वह आत्मभूत लक्षण बन जायेगा, जब तक नहीं है तब तक लक्षण ही नहीं माना जायेगा। इसी तरह अन्य गुणों-पर्यायों में घटाया जा सकता है।

यहाँ पर आचार्य महोदय मात्र जीव द्रव्य में नहीं वरन् छहों द्रव्य में लक्षण घटित करके बता रहे हैं। छः लक्षण तो एकान्ततः सभी द्रव्यों में घटित होते हैं किन्तु चार लक्षणों में से दो-दो लक्षण किन्हीं-किन्हीं द्रव्यों में पाये जाते हैं। इसलिये प्रत्येक द्रव्य में 10-10 नहीं 8 लक्षण ही घटित होंगे। शुद्धाशुद्ध की अपेक्षा से किसी द्रव्य में कोई लक्षण है और कोई लक्षण नहीं है। छः द्रव्य की अपेक्षा सामान्य लक्षण दस होते हैं उन्हीं का आचार्य महोदय यहाँ कथन कर रहे हैं।

सूत्र स्वयं कह रहा है कि ये यदि द्रव्य के दस सामान्य गुण हैं तो द्रव्य के विशेष गुण भी होते होंगे क्योंकि विशेष के बिना कोई सामान्य नहीं होता और सामान्य के बिना कोई विशेष नहीं होता, किन्तु कथन पहले सामान्य का किया जाता है विशेष का कथन बाद में किया जाता है। सामान्य कथन को सामान्य जन या बहुजन जानते हैं विशेष कथन विशेष परिस्थितियों मे होता है जिन्हें विशेष व्यक्ति ही जानते हैं, विशेष क्षेत्र में, विशेष काल में जानते हैं। वे विशेष गुण शाश्वत रूप से हर द्रव्य में नहीं पाये जाते।

यहाँ प्रथमतः सामान्य गुण कहे।

'णयचक्को' में भी कहा है-

अत्थित्तं वत्थुत्तं, दव्वत्तं पमयेत्तमगुरुलहुगत्तं।
देसत्तं चेदणिदरं मुत्तममुत्तं वियाणेह॥12॥

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व व अमूर्त्तत्व ये दस सामान्य गुण जानो।

आचार्य महोदय कह रहे हैं द्रव्य का सबसे पहला सामान्य गुण है जो सभी द्रव्यों में घटित होगा वह है **'अस्तित्व'** 'अस्ति' का अर्थ-'है' 'त्व' अर्थात् उसका मूलसत्व-स्वभाव या मूलशक्ति अथवा उसका 'वहपना'। द्रव्य का वह अंतरंग सत्व जिसके बिना वह होना संभव नहीं है। अस्ति-है, त्व-पना अर्थात् जो भी द्रव्य संसार में है उन द्रव्यों का अस्तित्व है,

ये जिस शक्ति के माध्यम से हैं उनका जो 'है पना' उनमें विद्यमान है उस है पने के बिना उनका अस्तित्व संभव नहीं था। संसार की प्रत्येक वस्तु का अस्तिपना है, उनका है पना होना ही उनका अस्तित्व गुण है। द्रव्य था, है व रहेगा। द्रव्य कैसा था, कैसा है और कैसा रहेगा? उसके अस्ति गुण के कारण। अस्ति गुण को अस्तित्व कहें। उस द्रव्य के है का जो है पना है वही अस्तित्व गुण है।

दूसरा गुण है–**'वस्तुत्वं'** वस्तुत्व गुण। जो वस्तु संसार में है, जो द्रव्य संसार में है उसका कोई न कोई नाम जरूर है, उसकी संज्ञा है। यदि संज्ञा है तो उसका व्युत्पत्ति अर्थ भी है वस्तु का नाम है तो उसका कोई न कोई प्रयोजन भी है। वस्तुपना का अर्थ दूसरी प्रकार से देखें तो–जिसका कोई न कोई अर्थ-प्रयोजन हो। संसार में कोई भी द्रव्य निष्प्रयोजन नहीं है, निरर्थक नहीं है। प्रत्येक वस्तु की कोई न कोई अर्थ क्रिया होती है। तो वह द्रव्य जिस गुण के कारण प्रयोजनभूत होता है, उसमें अर्थक्रिया होती है उसे ही उसका वस्तुत्व गुण कहते हैं। द्रव्य का महत्व उसका प्रयोजन ही उद्घोषित करता है कि संसार में जितने द्रव्य हैं वे वस्तु हैं। वस्तु क्यों हैं? क्योंकि उनमें वस्तुपना है। वस्तुपना नहीं होता तो वे वस्तु भी नहीं होती। वस्तु का अर्थ होता है जो उपयोग में लायी जा सके, जिसको प्रयोग किया जा सके, जिसका कोई न कोई हेतु हो, जिसका कुछ न कुछ प्रयोग किया जाता है, किसी निमित्त से होती है वह वस्तु होती है। ऐसा कुछ है ही नहीं जिसका कोई प्रयोजन, हेतु वा प्रयोग न हो। अतः प्रत्येक द्रव्य में वस्तुपना होने से 'वस्तुत्व' गुण भी है।

'द्रव्यत्वं' छः द्रव्यों में जो द्रव्यपना अनादि से अनंतकाल तक है व रहेगा उस गुण का नाम है 'द्रव्यत्वगुण'। द्रव्यत्व है तो द्रव्य है। द्रव्य में से उसका द्रव्यपना निकल गया तो द्रव्य नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी। द्रव्यत्व का अर्थ समझें जो द्रवित होता है। **'द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम्'** जो द्रवित होता है अर्थात् परिणमन करता है, परिणमन करता था और परिणमन करेगा। द्रव्य कूटस्थ नहीं हो सकता, परिणमन करना उसका स्वभाव है इसलिये द्रव्यत्वगुण उसमें पाया जाता है। द्रव्यत्व गुण बिना द्रव्य के नहीं बचेगा क्योंकि द्रव्य कभी पर्याय से रहित नहीं होता और पर्याय का होना, पर्याय का आना द्रव्यत्व गुण का प्रभाव है।

द्रवित का अर्थ लोक व्यवहार में देखा जाता है पिघल जाना। जैसे किसी दीन-हीन को देखकर उसका हृदय द्रवित हो गया, पिघल गया। सूर्य की किरणों को देखकर घी पिघल

गया, मोम द्रवित हो गया। तो यह पिघलना तो रूढ़ि अर्थ में लिया किन्तु दूसरा अर्थ होता है चन्द्रमा की किरण को देखकर के घी द्रवित हो गया, पिघला हुआ घी जम गया। जम गया इसे द्रवित के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे किन्तु द्रवित के अर्थ में दोनों आते हैं चाहे वह घी जम गया है या पिघल गया है अर्थात् उस समय कुछ क्रियाशीलता हुयी है, कुछ परिणमन हुआ है। जिस कारण द्रव्य में परिणमन होता है वह उसका 'द्रव्यत्व गुण' कहलाता है। अगला है–

'प्रमेयत्वं' प्रमेयत्व गुण। संसार में छः द्रव्य हैं ऐसा जिनागम में वर्णित है। हमने जाना, आप जान रहे हैं तो वह क्यों जान रहे हैं? क्योंकि इनमें प्रमेयत्व गुण है, ये ज्ञेय हैं, इनको जानने की शक्ति जिसमें है, जो जानने के योग्य है, जानने वाला ज्ञाता पुरुष है, जो सर्वज्ञ केवली हैं, ज्ञान से युक्त हैं वह इन छः द्रव्य को जान सकते हैं। वह क्यों जान सकते हैं? क्योंकि ये जानने रूप हैं, ज्ञेय रूप हैं, प्रमेय इनका गुण है। प्रमा अर्थात् ज्ञान (प्र–प्रकृष्ट मा–ज्ञान) मेय–जानने के योग्य। प्रमेय–प्रकृष्ट रूप से जानने के योग्य।

जानने के योग्य संसार में जो कुछ भी है वह सर्वज्ञ के द्वारा जानने के योग्य है। कुछ वस्तुयें छद्मस्थ के द्वारा जानने के योग्य हैं। यह जो जानने योग्य सब कुछ है इसलिये प्रत्येक द्रव्य में 'प्रमेय गुण' पाया जाता है। यह जानने के योग्यपना अथवा ज्ञातृत्व भाव जिस गुण के माध्यम से हर द्रव्य में है इसे 'प्रमेयत्वगुण' कहते हैं। इसलिये संसार में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो जानने के योग्य न हो।

एक सुई की एक नोंक पर अनंत निगोदिया जीव निवास कर सकते हैं, एक सुई की नोंक पर पुद्गल के असंख्यात परमाणु ठहर सकते हैं चाहें छद्मस्थ उन्हें जान न पायें किन्तु वे केवलीगम्य हैं। कुछ द्रव्य अवधिज्ञानियों के गम्य हैं, कुछ मनःपर्ययज्ञानियों के गम्य हैं। तो संसार में कुछ भी ऐसा नहीं है जो जानने के योग्य नहीं हो, इसलिये जो कुछ है वह जानने के योग्य भी है अतः प्रमेयगुण भी सभी द्रव्यों में पाया जाता है।

अगुरुलघुत्वं-अगुरुलघु गुण का आशय होता है 'अ'–नहीं गुरु–भारी लघु–हीन। जो द्रव्य अनादिकाल से जैसा था, उसके जितने प्रदेश थे, वह प्रदेश अब अन्य किसी द्रव्य के प्रदेशों को नहीं ले सकते तो भारी नहीं हो सकता, और इसके प्रदेश किसी अन्य द्रव्य में जा नहीं सकते तो हल्का भी नहीं हो सकता। अगुरुलघुत्व अर्थात् किसी भी द्रव्य के प्रदेश अन्य द्रव्य में न जा सकें, न किसी द्रव्य में से आ सकें। जीव न ही असंख्यात प्रदेश में से एक प्रदेश बढ़ा सकता है और न घटा सकता है।

धर्म-अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश में से न एक प्रदेश बढ़ा सकते हैं, न घटा सकते हैं। आकाश द्रव्य के अनंत प्रदेश हैं एक प्रदेश न घट सकता न बढ़ सकता। काल द्रव्य एक प्रदेशी है उसके कालाणु हैं वह कभी दो प्रदेशी नहीं होगा और शून्य प्रदेशी भी नहीं होगा। पुद्‌गल द्रव्य संख्यात-असंख्यात और अनंत प्रदेशी है तथा परमाणु की अपेक्षा से अप्रदेशी भी होता है किन्तु उस पुद्‌गल द्रव्य में अन्य किसी द्रव्य के प्रदेश नहीं मिल सकते। पुद्‌गल के परमाणु आपस में मिल सकते हैं, अन्य के नहीं। अगुरुलघु गुण यही है कि द्रव्य न गुरु बन सकता, न लघु बन सकता और अन्य द्रव्य इनके प्रदेशों को छीन भी नहीं सकता। अगुरुलघुत्व गुण के कारण ही ये द्रव्य अनादिकाल से जैसे हैं वैसे ही रहेंगे इनके प्रदेशों में कभी भी कोई न वृद्धि कर सकता है, न ह्रास कर सकता है। अगला है-

'प्रदेशत्वं' प्रदेशत्वगुण। प्रदेश का अर्थ होता है खण्ड, भाग और अंश जो सम्पूर्ण है वह कहलाता है अखण्ड। यद्यपि जीव, धर्म, अधर्म, आकाश अखण्ड द्रव्य हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है पर अपने आप में अखंड है। पुद्‌गल का एक परमाणु शुद्ध होता है किन्तु वह एक परमाणु अपने आप में अखण्ड है, अन्य परमाणु मिलने पर स्कंध बनने पर वह खण्ड-खण्ड हो सकता है। ये सभी द्रव्य अपने आप में अखण्ड होने के बावजूद भी इनमें भाग हैं, अंश हैं, अवयव हैं और ये द्रव्य अवयवी कहलाता है। अब इसमें कौन सा भाग हो सकता है जो अवयव-अंश या भाग है उसे कहते हैं प्रदेश। प्रदेशपना इसमें है। प्रदेशत्वगुण के कारण इनमें अंशीपना है अगर प्रदेशत्व गुण नहीं होता तो जीव एक अखण्ड होता, छोटा-बड़ा नहीं होता, पुद्‌गल भी छोटा-बड़ा नहीं हो सकता। धर्म-अधर्म आकाश द्रव्य के लिये कह सकते हैं कि ये तो छोटे बड़े होते ही नहीं इनमें खण्डपना कैसे? किन्तु इनके असंख्यात प्रदेश होते हैं इनमें अंशपना पाया जाता है अतः ये अवयवी हैं इसका आशय है इनके अवयव हैं प्रदेश हैं।

'प्रदेश' की परिभाषायें द्रव्य संग्रह, तत्त्वार्थसार, तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, धवला जी इत्यादि ग्रंथों में दी हैं-

द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता सिद्धांति देव श्री नेमिचंद्राचार्य ने लिखा-

जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाण-दाणरिहं।।27।।

'आकाश के जितने हिस्से को अविभागी पुद्‌गल परमाणु घेरता है उतने हिस्से को 'एकप्रदेश' कहते हैं'। अविभागी पुद्‌गल परमाणु चाक्षुष नहीं है कभी पुद्‌गल स्कंध भी देखने

में नहीं आ रहा है तब उसका वह परमाणु अविभागी हिस्सा है इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रदेश कितना छोटा होगा। ऐसे ही आत्मा जब अखण्ड होती है तो आकाश के एक प्रदेश पर अनंत आत्मा समा सकती हैं और पुद्‌गल भी संख्यात-असंख्यात समा सकते हैं, विस्तार को प्राप्त होते हैं तो ये फैल जाते हैं। एक जीव असंख्यात प्रदेशों को भी घेरता है, एक-एक पुद्‌गल असंख्यात प्रदेशों को भी घेरता है।

चेतनत्वं-चेतनत्व का अर्थ होता है 'चेतनपना' यह भी सामान्य गुण है किन्तु ये सामान्य गुण छहों द्रव्यों में नहीं पाया जाता। यह जीव द्रव्य में पाया जाता है। जब यह गुण जीव द्रव्य में पाया जाता है तो सामान्य गुण क्यों कहा जबकि अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं होता? हाँ यह सामान्य गुण जीवत्व की अपेक्षा से है। अनंत जीवों की अपेक्षा से यह चेतनत्वगुण सामान्य गुण है। चेतनत्व अर्थात् अनुभूति, अनुभवन। जिस गुण के कारण यह जीव अनुभवन करने में समर्थ होता है वह गुण चेतन गुण है और चेतनत्व-चेतनपना जीव में पाया जाता है यह सर्व जीवराशि की अपेक्षा से सामान्य गुण है, अन्य द्रव्य की अपेक्षा से विशेष गुण है जिसे आचार्य महोदय आगे सूत्र में कहेंगे।

अचेतनत्वं-अचेतनत्व गुण जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में पाया जाता है। पुद्‌गल धर्म-अधर्म-आकाश व काल द्रव्यों में अचेतनपना है पर कभी-कभी तो उपचार से जीव में भी अचेतनपना सिद्ध होता है। जैसे तीर्थंकर भगवान् के लिये जब आप कहते हैं-**'अतिशय रूप सुगंध तन नाहि पसेव निहार'** तो यह अतिशय रूप किसका है? क्या भगवान् का? यदि भगवान् का है तो अचेतनपना सिद्ध हो जायेगा। भगवान् का नहीं है तो स्तुति पुद्‌गल की हो जायेगी।' इस प्रकार से अचेतनपना जीव में भी सिद्ध होता है। चेतनपना पुद्‌गल में भी सिद्ध हो सकता है, जीव में भी सिद्ध होता है तो यह सामान्य गुण हुआ। चेतनपना पुद्‌गल में भी सिद्ध हो सकता है क्योंकि मतिज्ञान आदि चेतन रूप माने जाते हैं वे पुद्‌गल के माध्यम से ही उत्पन्न होते हैं। चेतनत्व-अचेतनत्व ये दोनों गुण स्व-स्व द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य गुण हैं।

मूर्त्तत्वं-मूर्त्तत्व गुण। जो मूर्त्तवान् होता है वह रसवान्, गंधवान्, स्पर्शवान् व वर्णवान् भी होता है। यद्यपि ये गुण पुद्‌गल के ही हैं। पुद्‌गलत्व की अपेक्षा से मूर्त्तत्व गुण सामान्य गुण है। जीव उस पुद्‌गल से सम्मिश्र हो जाता है तो कई बार पुद्‌गल का आरोपण जीव में भी किया जाता है। अन्य द्रव्य की अपेक्षा से इसे विशेष गुण भी कह सकते हैं किन्तु स्वद्रव्य

की अपेक्षा से ये सामान्य गुण है। मूर्त्तपना अर्थात् पुद्‌गल में मूर्त्त रूप होने की क्षमता है अतः ये उसका गुण है अन्यथा पुद्‌गल कभी मूर्त्तिक नहीं हो सकता था।

अमूर्तत्त्वं-अमूर्त्तत्व गुण। अमूर्त्तपना यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य का सामान्य गुण है। अमूर्त्तपना शुद्ध जीव का भी गुण है उसकी अपेक्षा भी सामान्य गुण की कोटि में स्वीकार किया जायेगा। अशुद्ध जीव में पुद्‌गल संयोग के कारण मूर्त्तगुण माना गया है।

'द्रव्याणां दशसामान्यगुणाः' इस प्रकार द्रव्य के दस सामान्य गुण हैं। ये गुण एक-एक-द्रव्य की अपेक्षा से नहीं छहों द्रव्यों की अपेक्षा से कहे। यद्यपि अनेक आचार्यों ने द्रव्य के सामान्य गुणों में छः गुणों को स्वीकार किया है किन्तु श्रीमत् देवसेनाचार्य जी महाराज ने उपरोक्त दस गुण स्वीकार किये हैं, जो युक्ति से घटित होते हैं, आगम से विरोध भी नहीं खाते। अन्य आचार्यों ने जो 6 गुण कहे वह अपेक्षा भी ठीक है यह 10 गुण की अपेक्षा भी उचित है। दोनों प्रमाण हमारे लिये स्वीकार करने योग्य हैं।

इस प्रकार यहाँ सामान्य गुण कहे, इससे सिद्ध हो रहा है कि विशेष गुण भी होते हैं क्योंकि अकेले सामान्य गुण से द्रव्यों का सम्पूर्ण स्वरूप पकड़ में नहीं आयेगा। प्रत्येक द्रव्य के सामान्य के साथ विशेष गुण भी अवश्य होते हैं।

प्रत्येकमष्टौ सर्वेषाम्॥10॥

अर्थ–इन दस सामान्य गुणों में से प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण हैं और दो-दो गुण नहीं हैं।

विशेषार्थ–आचार्य महोदय ने पूर्व सूत्र में जहाँ सामान्य गुणों की चर्चा की अब वहीं दसवें सूत्र में बता रहे हैं कि ये दस सामान्य गुण हैं, जरूरी नहीं है कि ये दस सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य में पाये जायें। 'प्रत्येकमष्टौ सर्वेषाम्' सभी (छः) द्रव्यों में आठ गुण पाये जाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व इन दस गुणों में से प्रारंभ के छः गुण तो सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। चेतनत्व-अचेतनत्व में से एक मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्व में से एक इस प्रकार ये दो गुण मिलाकर आठ गुण पाये जाते हैं। जीवद्रव्य में–अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये आठ गुण होते हैं। पुद्‌गल में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व और मूर्त्तत्व ये आठ गुण पाये जाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश,

काल द्रव्य में–अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व व अमूर्त्तत्व ये ही आठ गुण पाये जाते हैं।

इसलिये आचार्य महोदय ने सामान्यता प्रत्येक में आठ-गुण ही कहे। इसका विस्तार से व्याख्यान आगे सूत्रों में कहेंगे। विशेष गुण भी आगे सूत्रों में कहेंगे।

द्रव्यों के विशेष गुण

ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं स्थितिहेतुत्वमवगाहहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्त्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणाः॥11॥

अर्थ–ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व ये द्रव्यों के सोलह विशेष गुण हैं।

विशेषार्थ–यहाँ आचार्य महाराज द्रव्यों के विशेष गुण बता रहे हैं। सभी द्रव्यों के मुख्यतया सोलह विशेष गुण हैं।

णयचक्को में भी प्ररूपित है–

णाणं दंसणं सुह-सत्ति-रूवस्स-गंधफास-गमणठिदी।
वट्टणगाहणहेउमुत्तममुत्तं खु चेदणिदरं च॥13॥

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, गंध, स्पर्श, गमनहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व ये द्रव्यों के विशेष गुण हैं।

ये समूह रूप से कहे, अलग-अलग द्रव्य के विशेषगुण बाद में नियत करेंगे। सबसे पहले यहाँ लिया **'ज्ञान'** गुण ज्ञानगुण आत्मा का गुण है, जीव का गुण है। ज्ञान क्या है? आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने सर्वार्थसिद्धि में बताया–**''जानाति यत्तज्ज्ञानम्, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्, ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानम्''** ज्ञान को ज्योति माना है ज्योति का अर्थ होता है प्रकाश देने वाला। जिस शक्ति के द्वारा आत्मा पदार्थों को साकार करता है उसे ज्ञान कहते हैं अथवा **'भूतार्थ प्रकाशकं ज्ञानम्'** भूतार्थ के प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। वह चिद्ज्योति है अथवा दर्शन के अनंतर ज्ञेय रूप पदार्थों को ग्रहण करने की सामर्थ्य चेतना के जिस गुण में होती है उसे ज्ञान कहते हैं।

प्रमेयगुण सभी पदार्थों में पाया जाता है किन्तु उस प्रमेय को जानने का सामर्थ्य केवल चेतन में ही होता है। वह ज्ञान गुण जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता,

यह जीव का विशेष गुण है। जो विशेषता को ग्रहण करे वह ज्ञान है, आकार को ग्रहण करे सो ज्ञान है, विकल्पों के साथ रहे वह ज्ञान है। जिसका शब्दों के द्वारा आदान-प्रदान व्यापार किया जा सके वह ज्ञान है। ज्ञान की भाव-भासना को शब्द, भाव वा संकेतों के द्वारा दिया व लिया जा सकता है। यद्यपि ज्ञान चेतना एक-दूसरे द्रव्य में नहीं जाती।

'दर्शन गुण' दर्शन गुण का आशय होता है महासत्तावलोकन। किसी भी पदार्थ की महासत्ता का अवलोकन करना दर्शन है। अवांतरसत्ता, विशिष्ट सत्ता वह ज्ञान है।

दर्शन गुण निर्विकल्प निराकार होता है, इसका आदान-प्रदान नहीं होता। मैं अपने दर्शन को दूसरे को नहीं दे सकता, न स्वयं दूसरे का दर्शन ले सकता। 'दर्शन' दृश् धातु से बनने वाला रूढ़ि अर्थ में कह दिया। दर्शन केवल दृश् से ही नहीं होता है दृश् से तो केवल चक्षुदर्शन होता है किन्तु अचक्षु-अवधि-केवल दर्शन भी होता है। यह भी आत्मा का विशेष गुण है। ज्ञानचेतना-दर्शनचेतना हर जीव के पास होती हैं, ऐसा संसार का कोई जीव नहीं जो इनसे रहित हो।

'सुख गुण'-सुख भी आत्मा का विशेष गुण है। इस गुण के माध्यम से आत्मा निराकुलता का अनुभव करती है, वह निराकुलता कर्म के मंद उदय से, कर्म के उपशम-क्षयोपशम से वा क्षय से आती है। मोहनीय कर्म जितना तीव्र रूप से उदय को प्राप्त होता है उतनी ही चित्त में आकुलता आती है और जितना मोहनीय कर्म मंद अवस्था को प्राप्त होता है उतनी ही निराकुलता आती है, उस निराकुलता का नाम ही सुख है। वह निराकुलता सिद्धों ने शाश्वत प्राप्त कर ली है, उन्होंने मोहनीय कर्म को सम्पूर्णतः नष्ट कर दिया। अर्हंतों को भी प्राप्त हो गयी जब तक वे अरिहंत अवस्था में रहेंगे तब तक निराकुलता है। अर्हंत अवस्था शाश्वत नहीं है इसलिये अरिहंतों की निराकुलता को शाश्वत नहीं कह सकते हैं। तो यह सुख भी आत्मा का विशेष गुण है।

सुख वह नहीं है जो इंद्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह तो सुखाभास है।

सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥76॥ प्र.सा.

जो इंद्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख परसंबंध युक्त, बाधा सहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है वह दुःख ही है।

ऐहिकं यत्सुखं नाम, सर्व वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं, किं तु दुःखमसंशयम्॥ पं. ध.-238

जो लौकिक सुख है वह सब इंद्रिय विषयक माना जाता है, इसलिए वह सब केवल सुखाभास ही नहीं है किन्तु निःसंदेह दुःख रूप भी है।

कर्म के वशीभूत अनेक दुःखों से युक्त, अंत सहित, पापबंध का कारण यह सांसारिक सुख है।[1] यह प्राणियों को सुख का कारण नहीं हो सकता।

आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी जी ने सच्चा सुख क्या है तो कहा—जो आत्मोत्पन्न है, जो आत्मा के द्वारा ग्राह्य है, जो कभी नष्ट नहीं होता, जिसको प्राप्त कर पुनः दुःख नहीं होता, दुःखों का अंश भी नहीं है। अनुपम, अनंत, कर्मरहित इत्यादि विशेषताओं सहित सुख कहा है। सिद्धों का शुद्ध स्वभावमय सुख शाश्वत सुख है।[2]

वीर्यगुण—यह जीव द्रव्य का विशेष गुण है। वीर्य का अर्थ होता है 'शक्ति'। शक्ति अंतराय कर्म के क्षय से प्राप्त होती है। यह स्वाभाविक शक्ति होती है। अंतराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली शक्ति वह वैभाविक भाव है पर शक्ति उत्पन्न होती जरूर है। ऐसा संसार का कोई भी जीव नहीं जिसके पास शक्ति न हो क्योंकि सभी जीवों में अंतरायकर्म का क्षयोपशम पाया जाता है। अन्तराय कर्म पूर्णतः कभी उदय में नहीं आता है। जैसे ज्ञानावरणी कर्म पूर्णतया कभी उदय में नहीं आता उसका क्षयोपशम निगोदिया जीव के पास भी रहता है ऐसे ही अन्तराय कर्म का क्षयोपशम रहता है। अंतराय कर्म जब क्षयोपशम को प्राप्त होता है तब जीव शक्ति को प्राप्त करता है। उसके पास कायबल, वचनबल, मनोबल पाये जाते हैं। अन्य प्रकार की शक्तियाँ भी प्रकट की जा सकती हैं। इस प्रकार ये जीवद्रव्य के चार विशेष गुण हैं।

पुद्‌गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार विशेष गुण हैं। जो बिखर जाये, पुनः एकत्रित हो जाये वह पुद्‌गल है। पुद्‌गल के परमाणु से लेकर महास्कंध तक स्पर्शादि चार गुण पाये जाते हैं। ये गुण पुद्‌गल की हर अवस्था में हर समय में पाये जाते हैं। कोई भी पुद्‌गल होता है वह स्पर्श के योग्य होता है क्योंकि वह मूर्त्तिक है। उस पुद्‌गल में आठ प्रकार के स्पर्श में से अविरोधी चार गुण पाये जाते हैं। परमाणु में चार स्पर्श में से दो स्पर्श, पाँच रस में से एक रस, दो गंध में से एक गंध, पाँच वर्ण में से एक वर्ण पाया जाता है। स्कंध में आठ में से चार अविरोधी स्पर्श पाये जाते हैं, कोई एक रस, गंध, वर्ण पाया जाता है। वह मिश्र भी हो सकता है।

---

1. **कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥12॥ र.श्रा.**
2. **अदिसयमाद-समुत्थं, विसयादीदं अणोवम-मणंतं।**
   अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं॥1/13॥ —प्र.सा.

स्पर्श—जो छूकर ज्ञान कराये अर्थात् जिसमें स्पर्श होने की सामर्थ्य हो, तो उसका स्पर्श गुण है। इसके भेद हैं—हल्का, भारी, कड़ा, नरम, रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम।

स्पर्श होने की सामर्थ्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल व शुद्ध जीव द्रव्य में नहीं है। स्पर्शित होने का, स्पर्श करने का सामर्थ्य विभाव अवस्था से युक्त जीव में होता है। इंद्रियों से वह जानता है किंतु वह स्पर्श शुद्ध जीव नहीं कर पाते।

रस—जो चखकर ज्ञान कराये। पुद्गल के स्कंध में कोई न कोई रस पाया जाता है। इसके 5 भेद हैं—खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कसायला। ये मुख्य रस हैं इनसे मिश्र रस भी बनते हैं उसे मिलाकर असंख्यात भेद भी बनते हैं। पुद्गल का रस गुण विशेष गुण है। जो व्यक्ति रस ग्रहण करने योग्य हैं वे जान सकते हैं अन्य धर्मादिद्रव्य नहीं।

गंध—जो सूँघकर ज्ञान कराये। यह दो प्रकार की होती है—सुगंध-दुर्गंध। अशुद्ध जीव गंध को ग्रहण करता है घ्राण इन्द्रिय के माध्यम से, किन्तु ग्रहण तब करता है जब वह उस पुद्गल में पायी जाती है। यह गंधवान् होना पुद्गल का विशेष गुण है।

वर्ण—वर्ण पाँच प्रकार के हैं—लाल, पीला, काला, नीला, सफेद पुद्गल का कोई न कोई रंग होता है, जो चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। जो गुण जिसमें है नहीं, उसे कोई जान नहीं सकता। जब गुण उस पदार्थादि में हैं तभी जानने वाला उसे जान सकता है। जानने वाले का ज्ञान यदि अनंत भी हो, केवली हो, तो केवली भगवान् उसे ही जान सकते हैं जो ज्ञेयरूप है। यद्यपि संसार में अज्ञेय कुछ है नहीं इसलिये वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। पुद्गल के स्पर्श, गंध, वर्ण, रस ये विशेष गुण हैं।

गतिहेतुत्वं—धर्म द्रव्य का विशेष गुण है गतिहेतुत्व क्योंकि यह गुण अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता इसलिये विशेष है। जीव और पुद्गल स्वभाव या विभाव के लिये गति करते हैं तो उनकी गति में धर्मद्रव्य हेतु है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलने के लिये हलन-चलन होता है उसमें जो गतिशीलता पायी जाती है उसमें निमित्त धर्मद्रव्य होता है। उसका यह विशेष गुण अनादि निधन सिद्ध है।

स्थिति हेतुत्वं—अधर्म द्रव्य का यह विशेष गुण है। पुद्गल और जीव द्रव्य यदि ठहरना चाहते हैं तो उन्हें ठहराने में यह अधर्मद्रव्य समर्थ है। ठहरने वालों को ठहराता है, नहीं ठहरने वालों को जबरदस्ती ठहराता नहीं। स्थिति हेतु में यह उदासीन निमित्त है।

अवगाहन हेतुत्वं—आकाश द्रव्य का गुण है, लक्षण है अवगाहना अर्थात् सभी द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देना। आकाश के जितने हिस्से में छहों द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश

कहते हैं। यदि आकाश उन्हें स्थान न दे तो वे द्रव्य ठहर नहीं सकते। जीव और पुद्‌गल चार प्रकार की क्रिया करते हैं उन चार क्रियाओं को करने के लिये इन चार द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। जीव कोई भी हलन चलन करता है उसमें कोई भी परिवर्तन होता है, कोई भी गति करता है वह बिना पुद्‌गल के नहीं कर सकता। क्रियायें चार हैं चलना, बैठना, ठहरना, ठहरकर उसी स्थान पर गतिशील होना (वायब्रेट होना)। जीव को इन पाँचों द्रव्यों की आवश्यकता होती है। जीव धर्मद्रव्य के माध्यम से चलता है गति करता है, अधर्म द्रव्य के माध्यम से ठहरता है, आकाश द्रव्य के माध्यम से अवगाहन करता है और काल द्रव्य के निमित्त से क्रियाशीलता करता है ये शुद्ध व अशुद्ध दोनों द्रव्यों के लिये निमित्त हैं। जीव जब अशुद्ध द्रव्य होता है तब पुद्‌गल की सहायता लेता है और शुद्ध होने के लिये पुद्‌गल को छोड़ता है तभी शुद्ध बन पाता है।

वर्तनाहेतुत्व–काल द्रव्य का लक्षण है वर्तनाहेतुत्व। वर्तना अर्थात् परिवर्तन।

काल द्रव्य अपने आपमें परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के वर्तन में भी हेतु होता है। काल द्रव्य के बिना कोई भी द्रव्य अपने आप में क्रियाशील नहीं हो सकता। अपने स्वभाव में परिणमन नहीं कर सकता। यह वर्तना गुण कालद्रव्य का विशेष गुण है।

चेतनत्वं–चेतनत्व भी विशेष गुण है। यह जीव द्रव्य में पाया जाता है अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता। इसे सामान्य गुण में भी गुण ग्रहण किया? हाँ, अन्य जीव की अपेक्षा से सामान्य है किन्तु अन्य द्रव्य की अपेक्षा से विशेषगुण है। जैन दर्शन बिना अपेक्षा के कथन नहीं करता, क्योंकि जैन दर्शन का कथन सापेक्ष होता है तभी वह सम्यक् होता है, निरपेक्ष होता है तो मिथ्या होता है। यह चेतनत्व गुण दो अपेक्षाओं से सामान्य व विशेष दो रूप में ज्ञान का विषय बनता है। अनुभूति, वेदन, स्वसंवेदन शब्द चेतन के एकार्थवाची रूप गहण किये जाते हैं।

अचेतनत्व–चैतन्य शक्ति से रहित अचेतन्य गुण जीव द्रव्य के अतिरिक्त अन्य पाँच द्रव्यों में पाया जाता है। अचेतनपना उन द्रव्यों में लक्षण स्वरूप कहा जा सकता है।

मूर्त्तत्व–छहों द्रव्यों में मूर्त्त रूप पुद्‌गल द्रव्य ही होता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणों से युक्त मूर्त्त कहलाता है। इनमें एक भी गुण नहीं है तो मूर्त्तपना नहीं, एक गुण ज्यादा है तब भी मूर्त्तपना नहीं। चाक्षुष सभी पुद्‌गलों को देखते और जानते हैं। पुद्‌गल अचाक्षुष भी होता है किन्तु वह भी मूर्त्तिक होता है और वह स्कंध होने की शक्ति से युक्त होता है।

अमूर्त्तत्व–अमूर्त्तपना पुद्गल के अलावा अन्य पाँच द्रव्यों में पाया जाता है। शुद्ध जीव, धर्मादि पाँच द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। पुद्गल शाश्वत मूर्त्तिक ही है और जीव न तो शाश्वत मूर्त्तिक है और न शाश्वत अमूर्त्तिक। व्यवहार नय से कथन करने पर संसारी जीव बंध की अपेक्षा से मूर्त्त होता है किन्तु जब यह जीव स्वभाव अवस्था को प्राप्त होता तब उसमें अमूर्त्तपना होता है। पुद्गल स्वभाव-विभाव दोनों ही अवस्थाओं में मूर्त्तपने को प्राप्त होता है।

इस प्रकार ये छः द्रव्यों के विशेष गुणों का कथन किया।

जीव-पुद्गल विशेष गुण

जीवपुद्गलयोः षट्॥12॥

अर्थ–16 प्रकार के विशेष गुणों में से जीव-पुद्गल में छः-छः विशेष गुण पाये जाते हैं।

विशेषार्थ–जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में छः गुण पाये जाते हैं। यद्यपि अन्य आचार्यों ने अन्य अपेक्षा से जीव और पुद्गल के चार-चार विशेष गुण बताये हैं।

जीव में ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य ये चार गुण बताये व पुद्गल में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण ये चार गुण बताये किन्तु आचार्य महोदय यहाँ दूसरी अपेक्षा से कह रहे हैं कि जीव में इन चार गुण के अतिरिक्त चेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये दो गुण विशेष हैं वहीं पुद्गल में अचेतनत्व और मूर्त्तत्व ये दो गुण विशेष हैं इस प्रकार छः गुण विशेष हैं। यद्यपि ये छः गुण विशेष में भी विशेष गुण हैं क्योंकि अन्य प्रकार से व्याख्या करें तो जीव में अन्य गुण भी हो सकते हैं जो गुण अन्य द्रव्य में संभव नहीं। अभी तो यहाँ मुख्य गुणों की अपेक्षा से बात कही।

जीव द्रव्य में चेतनत्व, अमूर्त्तत्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इनके अतिरिक्त समयसार में जो जीव की 47 शक्तियाँ दी हैं उन शक्तियों की अलग-अलग व्याख्या करें तो जीव के अन्य विशेष गुण भी उत्पन्न होते हैं। दूसरी बात जीव में जो असाधारण भाव पाये जाते हैं वह भी उनके विशेष गुण ही हैं क्योंकि असाधारण भाव अन्य सभी द्रव्यों में नहीं पाये जाते। जीव के विशेष स्वभाव होते हैं जो अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। कुछ गुण स्वभाव रूप में होते हैं तो कुछ गुण विभाव रूप भी हो सकते हैं। गुणों का कभी अभाव नहीं होता वे कभी स्वभाव रूप परिणत होते हैं तो कभी विभाव रूप।

यहाँ पर जीव की ज्ञान शक्ति को कहा, यह ज्ञान शक्ति जीव की कभी भी किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी पर्याय के साथ व किसी भी गुण के साथ नष्ट नहीं हो सकती। ज्ञान वह है जिससे जीव ज्ञेय रूप जानने में समर्थ होता है। वह ज्ञेय रूप पदार्थ

चाहे स्व हो या पर हो। स्व में स्वआत्मा का स्वचतुष्टय व पर की अपेक्षा अनंत पदार्थों का पर चतुष्टय उसे जानने में समर्थ है। 'दर्शन' गुण से यहाँ आशय है दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से या क्षय से पाया जाने वाला दर्शन। दर्शनगुण भी जीव का स्वभाव है। ऐसा कोई जीव संसार में नहीं और मुक्त आत्मा भी नहीं जिसमें दर्शन न पाया जाये। मुक्त जीवों में क्षायिकदर्शन-क्षायिकज्ञान होता है। संसारी जीवों में अरिहंतों को लेते हैं तो केवलदर्शन-केवलज्ञान, छद्मस्थों को लेते हैं तो चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन व अवधिदर्शन यथाशक्य पाये जाते हैं किसी के तीन, किसी के दो किसी के एक मात्र अचक्षुदर्शन भी होता है। बिना दर्शन के कोई जीव नहीं।

अगला गुण है 'सुख'। अनंत सुख मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर प्रकट होता है तो क्यां मोहनीय कर्म जीव के संपूर्ण सुख का नाश कर देता है? नहीं मिथ्याधारणा के कारण जिन पदार्थों में सुख नहीं है किंतु मोहवश उन पुद्गल पदार्थों में वह सुख का अनुभव करता है, जो सुखाभास है इस प्रकार जीव के अंदर सुख का पूर्णतया विनाश कभी नहीं होता। वह सुख भी मोहनीय जनित सुख है भले ही वह मिथ्या सुख है सुखाभास है, इंद्रियों से प्राप्त सुख है। पदार्थों के सेवन से है वह सुखाभास संसार के प्रत्येक प्राणी के पास पाया जाता है। अरिहंतों के सुख को अनंतसुख नाम से संबोधित करते हैं। सिद्धों के सुख को सम्यक्त्व नाम से संबोधित करते हैं। यद्यपि दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति व अनंतानुबंधी कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ इन सातों के क्षय से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। फिर भी सम्यक्त्व की पूर्णता यहाँ नहीं मानी, सम्यक्त्व की पूर्णता 14वें गुणस्थान में मानी है। उसके अनंतर ही मोक्ष हो जाता है इसलिये यहाँ तक अनंतसुख की बात व्यवहार से कही जाती है और सिद्धों में सम्यक्त्व गुण माना जाता है।

तो यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक संसारी प्राणी की सुख अनुभूति, सुख भोगने की क्षमता है और वह सुख भोगता है। उसी द्रव्य का भोग करने से एक को सुख होता है एक को दुःख। यह सुख दुःख परिणति है। यह जीव मोहवश उसी वस्तु से कभी सुखी होता है उसी से कभी दुःखी होता है। सम्पूर्ण मोह का नाश क्षायिक भाव है। मोह के क्षयोपशमादि से सांसारिक सुख प्राप्त होता है।

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति तथा अनंतानुबंधी चार कषाय जब ये उदय में आ रही हैं तो मिथ्यादृष्टि है। क्या सभी मिथ्यादृष्टियों के जीवन में कषाय का उदय एक जैसा होता है? क्या चारित्र मोहनीय प्रकृतियों का उदय एक जैसा होता है? क्या सभी वेदों

का उदय एक साथ आता है? नहीं एक साथ नहीं होता कम ज्यादा होता है। कम ज्यादा क्यों होता है? सबका एक जैसा क्यों नहीं होता? तो इससे सिद्ध होता है कि मोहनीय कर्म की अन्य जो प्रकृतियाँ हैं उन प्रकृतियों के सर्वघाती प्रदेश या देशघाती प्रदेशों में भी असंख्यात् प्रदेश होते हैं। तो सभी जीवों के एक जैसा उदय नहीं आता, किसी के कम ज्यादा भी आता है। कम ज्यादा उदय आने से उसे सुख का प्रतिभास होता है वह अनुभव मोहनीय कर्म के उदय की तारतम्यता से होता है अर्थात् मोहनीय कर्म, मिथ्यात्व भी उदय में आ रहा हो तब भी उस जीव का पूर्णतः सुख का नाश नहीं करता। मिथ्यादृष्टि जीव भी पदार्थों को प्राप्त कर कहता है मैं सुखी हूँ। कोई विकलत्रय जीव भी कह सकता है मैं सुखी हूँ।

यह सुख शब्द चाहे शब्दों में कहे या न कहे पर अंतरंग में वेदन का हमेशा ही सद्भाव रहता है इसलिये प्रत्येक जीव के यह 'सुख' गुण भी पाया जाता है।

अगला गुण दिया 'वीर्य'। एक शक्ति होती है अंतराय कर्म के पूर्ण क्षय से प्राप्त होने वाली क्षायिक शक्ति/क्षायिक वीर्य किन्तु अरिहंत अवस्था के पूर्व वह जीव जब छद्मस्थ अवस्था में है तो उस समय उसके पास अंतराय कर्म का क्षयोपशम होता है ऐसा कोई संसारी जीव नहीं है जिसके पास अंतराय कर्म का क्षयोपशम न हो और सिद्ध भगवान अंतराय कर्म के क्षय से होते हैं तो उनके पास क्षायिक शक्ति होती है। इसलिये ये चार गुण हैं जो जीव के सद्भाव रूप हैं। इन सद्भाव रूप गुणों को घातने वाले जो कर्म हैं उन्हें घातिया कर्म कहते हैं। किन्तु ये बात निश्चित है मूलतः घात कभी नहीं करते। यदि मूलतः ही घात कर दें तो जीव का ही अभाव हो जायेगा क्योंकि जीव के विशेष गुणों का अभाव होते ही सामान्य गुणों का भी अभाव होगा तो द्रव्य का भी अभाव होगा।

इसके साथ आचार्य महोदय ने दो गुण और स्वीकार किये। 'चेतनत्व–आत्मा का गुण है चेतनत्व जो कि अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। चेतना के दो भेद हैं–ज्ञान चेतना व दर्शन चेतना। चेतना का अर्थ है 'अनुभवन' जीव ही अनुभवन करने में समर्थ होता है अन्य द्रव्य समर्थ नहीं होते इसलिये चेतनत्व गुण जीव का विशेष गुण है यद्यपि यह चेतनत्व गुण अन्य जीवों की अपेक्षा से लेते हैं तो सामान्य गुण कहलाता है किन्तु अन्य द्रव्यों की अपेक्षा से कहते हैं तो विशेष गुण कहलाता है।

पुद्गल के गुणों की चर्चा करते समय पुद्गल के भी छः विशेष गुण माने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्त्तत्व। प्रत्येक पुद्गल में सामान्य गुण के अतिरिक्त ये गुण अवश्य ही पाया जाता है। इस प्रकार जीव व पुद्गल में छः गुण पाये जाते हैं।

चार द्रव्यों के विशेष गुण

इतरेषां प्रत्येकं त्रयो गुणाः॥13॥

अर्थ–धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य इन चारों द्रव्यों में तीन तीन विशेष गुण पाये जाते हैं।

विशेषार्थ–आचार्य भगवन् देवसेन स्वामी जी इस 13वें सूत्र में जीव और पुद्‌गल द्रव्य के अतिरिक्त धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य व काल द्रव्य के विशेष गुणों का प्रतिपादन करते हैं। सर्वप्रथम धर्मद्रव्य जिसका मुख्य लक्षण है 'गति हेतुत्व' जो चलते हुये जीव-पुद्‌गलों को चलाने में सहकारी होता है। यह विशेष गुण सिर्फ धर्मद्रव्य में ही पाया जाता है किसी और में नहीं।

प्रवचनसार में भी कहा है–

''धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्तं''

धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व है।

इसके अलावा अचेतनत्व व अमूर्त्तत्व गुण उसमें पाया जाता है। इस प्रकार धर्मद्रव्य गतिहेतुत्व-अचेतनत्व-अमूर्त्तत्व इन तीन गुणों से युक्त है।

अधर्म द्रव्य में स्थिति-हेतुत्व[1], अचेतनत्व व अमूर्त्तत्व ये तीन गुण हैं।

आकाश द्रव्य में अवगाहनत्व, अचेतनत्व व अमूर्त्तत्व ये तीन गुण हैं।

धवला जी पु. 15 में भी कहा है **'ओगाहणलक्खणमायासदव्वं'** आकाश द्रव्य का असाधारण लक्षण अवगाहन देना है।[2]

काल द्रव्य में वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये तीन गुण पाये जाते हैं।

आचार्य श्री अकलंक देव स्वामी ने राजवार्तिक में कहा भी है–

गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति। तत्रासाधारणा वर्तनाहेतुत्वं। साधारणाश्च अचेतनत्वामूर्त्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादयः।

काल में अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्वादि साधारण गुण और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण पाए जाते हैं।

---

1. धम्मेदरदव्वस्स दु, गुणो पुणो ठाणकारणदा। –प्र० सा०
2. आकाशस्यावगाहः॥5/18॥ –त० सू०

यद्यपि ये विशेष गुण हैं क्योंकि अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं फिर भी अचेतनत्व व अमूर्त्तत्व ये दो गुण चारों द्रव्यों के सामान्य गुण भी हैं। क्योंकि चारों द्रव्यों में ये समान रूप से पाये जाते हैं। जीव द्रव्य में अचेतनत्व नहीं है, मूर्त्तत्व नहीं है। पुद्गल द्रव्य में चेतनत्व नहीं है और अमूर्त्तत्व नहीं है इस अपेक्षा से ये विशेष गुण सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ पर शेष चार द्रव्यों के विशेष गुणों को कहा।

चार गुण सामान्य व विशेष भी

अन्तस्थाश्चत्वारो गुणाः स्वजात्यपेक्षया सामान्यगुणाः
विजात्यपेक्षया त एव विशेषगुणाः॥14॥

अर्थ–अन्त के चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व ये चार गुण स्वजाति की अपेक्षा से सामान्य गुण तथा विजाति की अपेक्षा से विशेष गुण कहे जाते हैं।

विशेषार्थ–इस आलाप पद्धति नामक ग्रंथ में आचार्य भगवन् देवसेन जी महाराज इस 14वें सूत्र के माध्यम से द्रव्यों के विशेष गुणों की जो पूर्व में चर्चा की थी, 'जीवपुद्गलयोः षट्' 'इतरेषां प्रत्येकं त्रयो गुणा।' अब मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि चेतनत्व गुण, अचेतनत्व गुण, अमूर्त्तत्व गुण, मूर्त्तत्व गुण इन चार गुणों को सामान्य गुणों में भी ले लिया, यहाँ विशेष गुणों में भी ले लिया दोनों जगह क्यों लेना चाहिये? यदि ये सामान्य गुण हैं तो विशेष गुणों की चर्चा करते समय इनका कथन नहीं होना चाहिये, यदि ये विशेष गुण हैं तो सामान्य की चर्चा करते समय इन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये?

समाधान करते हुए कहा–इसका कारण यह है कि जैन दर्शन में सापेक्ष कथन प्रमाणिक होता है, सापेक्ष कथन के माध्यम से दोनों बातें सिद्ध हो सकती हैं, कैसे? अनंतानुबंधी कषाय यद्यपि है तो चारित्र मोहनीय की प्रकृति किन्तु फिर भी यह सम्यक्त्व का घात करती है क्योंकि अनंतानुबंधी के उदय से वह जीव सम्यक्त्व के पर्वत से गिर जाता है और गुणस्थान सासादन हो जाता है। तो अनंतानुबंधी का उदय सम्यक्त्व का घातक हो गया। दर्शन मोहनीय की तो तीन प्रकृति हैं–मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। उसमें भी सम्यक् प्रकृति दर्शनमोहनीय की होने के बावजूद भी उसके उदय आने पर सम्यक्त्व का घात नहीं होता। क्षयोपशम सम्यक् दर्शन बना रहता है और सम्यक्मिथ्यात्व भी दर्शन मोहनीय की प्रकृति है उसके उदय होने पर भी सम्यक्त्व का कुछ (मिश्र रूप) सद्भाव बना रहता है। मिथ्यात्व का उदय आने पर ही सम्यक्त्व का पूर्ण घात होता है। किन्तु चारित्र मोहनीय की

प्रकृति अनंतानुबंधी होने के बावजूद भी किसी एक का उदय आ जाये तो नियम से सम्यक्त्व का घात हो ही जाता है सम्यक्त्व अंश मात्र में भी नहीं रहता है। ऐसे ही अपेक्षा लगाकर हम कथन करें–

अन्त के चार गुण चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व स्वजाति की अपेक्षा तो सामान्य गुण हैं। जैसे मूर्त्तपना पुद्गल का सामान्य गुण है अन्य द्रव्य की अपेक्षा देखेंगे तो यह पुद्गल का विशेष गुण हो गया। चेतनत्व जीव द्रव्य का सामान्य गुण है किन्तु अन्य द्रव्य की अपेक्षा देखेंगे तो यह जीव का विशेष गुण हो गया। अमूर्त्तत्व गुण पुद्गल के अलावा अन्य द्रव्य की अपेक्षा सामान्य गुण है किन्तु पुद्गल की अपेक्षा देखें तो विशेष गुण है। वही चीज एक रूप से उचित प्रतीत होती है दूसरे रूप से वही अनुचित प्रतीत होती है। देखना यह है कि पक्ष कौन सा है। एक सिक्के के दो पहलू होते हैं जब एक पहलू दिखाई देता है तब दूसरा पहलू दिखाई नहीं देता जब दूसरा दिखाई दे रहा है तो पहला दिखाई नहीं देता तो यहाँ अपेक्षानुसार कथन किया। अपेक्षाकृत कथन करने पर दोनों बातें सिद्ध होती हैं।

दूसरे उदाहरण से ऐसे समझें–राम पिता हैं, पुत्र हैं। अनंगलवण और मदनांकुश की अपेक्षा राम पिता हैं व दशरथ की अपेक्षा वे पुत्र हैं। एक ही व्यक्ति दो अपेक्षाओं से कथन करने पर दो प्रकार का दिखाई देता है, जितनी अपेक्षा उतने प्रकार से ही वह वस्तु या व्यक्ति दिखाई देता है। जैसे बनारस विद्यालय के किसी विद्यार्थी ने पूछा–हमें स्याद्वाद नय समझ में नहीं आता ये क्या है? किसी ने कहा दिन है तो हाँ दिन है, कोई कहे रात है तो हाँ रात है। अगर दिन है तो रात नहीं, रात है तो दिन नहीं किंतु आप दोनों को एक कैसे मानतें हैं कि दिन भी है व रात भी है, यह सप्तभंगी क्या है? तो उन्होंने बताया प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं सभी विशेषताओं को एक साथ नहीं कह सकते। एक विशेषता को कहते समय अन्य विशेषता का अभाव सिद्ध न हो इसीलिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना अनिवार्य होता है। विद्यार्थी ने कहा–हमें बात समझ नहीं आयी तो अध्यापक ने पुनः समझाने हेतु कहा कि आप कल मेरे पास इस विद्यालय की सम्पूर्ण फोटो लेकर आना। फोटो चारों तरफ की हो, जहाँ से भी खींचो यह आप पर निर्भर है।

विद्यार्थी ने उस विद्यालय के अनेक चित्र लिये। कुछ चित्र सामने से, कुछ पीछे से, कुछ दाये-बायें से लिये, ऊपर-नीचे से भी लिये इस तरह दिशा-विदिशाओं से कई चित्र खींचकर अपने अध्यापक के पास लाया। अध्यापक ने इतने सारे चित्रों को देखा और एक चित्र उठाकर पूछा ये चित्र किसका है? उसने कहा महाविद्यालय का। दूसरा चित्र उठाते हुये कहा

तो यह चित्र किसका है–उसने कहा यह भी महाविद्यालय का है। ये सभी चित्र उसी महाविद्यालय के हैं। अध्यापक ने कहा–इन सभी चित्रों में तो बहुत अंतर है। वह बोला–हमने कुछ चित्र सामने से, कुछ पीछे से, कुछ दाँये-बायें से अलग-अलग ऐंगल से खींचे हैं।

अध्यापक समझाते हुये बोले–जब हम एक ही विद्यालय का अलग-अलग दिशाओं से चित्र लेते हैं तो वह अलग-अलग आता है किन्तु विद्यालय एक ही है, ऐसे ही जब एक ही वस्तु को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग अपेक्षा से देखते हैं तो जब जिस अपेक्षा से देखते हैं तब वही चीज दिखाई देती है।

जैसे एक टमाटर है, किसी से पूछा–टमाटर कैसा होता है तो एक ने कहा टमाटर गोल होता है, दूसरे ने कहा टमाटर लाल होता है, तीसरे ने कहा टमाटर खट्टा होता है, चौथे ने कहा वह ठंडा होता है, पाँचवे ने कहा–टमाटर औषधिपरक होता है, रक्त की शुद्धि करता है। छठवें ने कहा–कभी पथरी को पैदा करने वाला होता है। तो सबने अलग-अलग कहा, सभी ने अलग-अलग अपेक्षाओं से टमाटर की विशेषता बतायी। इसी प्रकार से प्रत्येक वस्तु में बहुत सारी विशेषतायें-गुण-धर्म पाये जाते हैं। अलग-अलग अपेक्षा से कथन करने पर वे हमें समझ में आते हैं अपेक्षाओं का निषेध कर दें तो हम उन्हें समझ न सकेंगे।

यहाँ पर भी जो बताया कि अन्त के चार गुण स्वजाति की अपेक्षा नियम से सामान्य गुण हैं वे ही गुण विजाति की अपेक्षा से विशेष गुण हो जाते हैं। जैसे ब्राह्मण, ब्राह्मणत्व की अपेक्षा से सब ब्राह्मण-ब्राह्मण सामान्य हैं किन्तु क्षत्रियों के साथ ब्राह्मण बैठे हैं तो ब्राह्मण विशेष हो गए। हाथ में अंगुलियाँ हैं, यूँ तो वे सामान्य हैं किन्तु विशेषता से कहेंगे तो एक मध्यमा है, एक तर्जनी है, एक अनामिका व एक कनिष्ठा है। एक अंगुष्ठ है। सामान्यत: एक हाथ में पाँच अंगुली व दोनों हाथ-दोनों पैर मिलाकर कह देते हैं बीस अंगुलियाँ हैं यहाँ अँगूठे को भी अंगुली कह दिया तो वह सामान्य अपेक्षा से ही कह दिया और विशेषता से कहेंगे तो सबका अपना अलग-अलग महत्व है।

इस प्रकार सामान्य से अलग कुछ विशेष नहीं होता, विशेष से अलग कोई सामान्य नहीं होता। एक ही गुण का अपेक्षाकृत कथन करने पर वह सामान्य भी हो सकता है और विशेष भी हो सकता है। किन्तु हाँ कई बार ऐसा भी होता है कि जो सामान्य गुण हैं वह सबमें सामान्य रूप से पाये जाते हैं उन्हें हम विशेष नहीं कह सकते। अस्तित्व आदि गुण सामान्य हैं उन्हें हम विशेष बनाना चाहें तो हम नहीं बना सकते या ज्ञान-दर्शन आदि विशेष गुण हैं इन्हें

सभी द्रव्य की अपेक्षा से विशेष मानते हैं किन्तु यदि इन्हें सामान्य कहेंगे तो जीव द्रव्य की अपेक्षा से ये सामान्य गुण भी माने जायेंगे।

इस प्रकार सामान्य भी विशेषवत् माना जा सकता है और विशेष भी सामान्यवत् व्यवहार में लाया जा सकता है।

पर्याय अधिकार
पर्याय लक्षण व भेद

गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यञ्जनपर्यायभेदात्॥15॥

अर्थ–गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं। वे पर्याय दो प्रकार की हैं–अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय।

द्रव्य और उसके गुणादि की चर्चा करने के पश्चात् यहाँ पर्याय की विवक्षा है। जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है अथवा स्वाभाविक या नैमित्तिक, विरोधी या अविरोधी धर्मों में अमुक शब्द व्यवहार के लिए विवक्षित द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पंचाध्यायी में पर्याय को परिभाषित करते हुए कहा है–

'पर्यायाणामेतद्धर्म यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये'

द्रव्य में जो अंश कल्पना की जाती है वह पर्यायों का स्वरूप है अथवा

''स च परिणामोऽवस्था तेषामेव (गुणानामेव)''

परिणमन गुणों की ही अवस्था है अर्थात् गुणों की प्रति समय होने वाली अवस्था का नाम पर्याय है।

'आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने प्रवचनसार में कहा है कि जितने ज्ञेय पदार्थ हैं वे सब द्रव्य स्वरूप हैं और द्रव्य गुणमय हैं तथा उनमें पर्याय होती हैं। जब द्रव्य गुणमय है तो गुण वा द्रव्य की पृथक् कोई सत्ता नहीं है अर्थात् द्रव्य से भिन्न गुण नहीं हैं और गुणों से भिन्न द्रव्य नहीं है। अतः द्रव्य में परिणमन होने से गुणों में भी परिणमन होना स्वाभाविक है और गुणों में परिणमन होने से द्रव्य में परिणमन होना स्वाभाविक है। तभी सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है–

'दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो। तेषां विकार विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः'।

द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं या द्रव्य के विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं। द्रव्य पर्याय भी दो प्रकार की कही गई हैं–समानजातीय

व असमानजातीय। पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि 'दो, तीन वा चार इत्यादि परमाणु रूप पुद्‌गल द्रव्य मिलकर स्कंध बनते हैं, तो यह एक अचेतन द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली समानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। अब असमानजातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं–भवान्तर को प्राप्त हुए जीव के शरीर नोकर्म रूप पुद्‌गल के साथ मनुष्य, देवादि पर्याय रूप जो उत्पत्ति है वह चेतन जीव को अचेतन पुद्‌गल द्रव्य के साथ मेल होने के कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है।

'इस द्रव्य के इतने प्रदेश हैं', इस कल्पना को द्रव्य पर्याय कहते हैं और प्रत्येक द्रव्य संबंधी जो अनंतानंत गुण हैं उनकी प्रतिसमय होने वाली षट्‌गुणी हानि वृद्धि से तारतम्य रूप अवस्था को गुणपर्याय कहते हैं। पंचाध्यायी में भी उल्लिखित है–

यतरे प्रदेशभागस्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।
यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव॥135॥

जितने द्रव्य के प्रदेश रूप अंश हैं, वे सब नाम से द्रव्य पर्याय हैं और जितने गुण के अंश हैं वे सब गुण पर्याय कहे जाते हैं।इस प्रकार जिनागम में द्रव्य के विकार को भी पर्याय कहते हैं एवं गुण का विकार भी पर्याय है।

परिणाम, परिणमन, पर्याय, विवर्त व विकार एकार्थवाची हैं। अतः द्रव्य का परिणमन द्रव्य पर्याय और गुणों का परिणमन गुणपर्याय है।

जैसा कि 'णयचक्को' में उल्लिखित है–

सामण्णविसेसा वि य, जे थक्का एयदवियमासेज्ज।
परिणाम-अह-वियारं, ताणं तं पज्जयं दुविहं॥17॥

प्रत्येक द्रव्य में जो सामान्य और विशेष गुण वर्तमान हैं, उनके परिणमन या विकार को पर्याय कहते हैं।

यही आचार्य श्री देवसेन स्वामी यहाँ बताते हैं कि गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं।

गुणद्वारेणान्वयरूपायाः एकत्वप्रतिपत्तेर्निबंधनकारणभूतगुणपर्यायः।

गुणों के द्वारा अन्वयरूप एकता के ज्ञान का कारण जो पर्याय है, वह गुण पर्याय है। जैसे वर्ण गुण की हरी, पीली आदि पर्याय। हर पर्याय में वर्ण गुण की एकता का ज्ञान है, इससे यह गुण पर्याय है।

पर्याय गुण की होती है या द्रव्य की होती है। पर्याय की कोई पर्याय नहीं होती।

जैसे वृक्ष की छाया पड़ रही है, छाया पर्याय है किन्तु उस छाया की छाया नहीं होगी। एक पर्याय की अन्य पर्याय नहीं होगी। पर्याय द्रव्य अथवा गुण की होती है। इनमें होने वाला विकार पर्याय है। वर्तमान काल में लोकरूढ़िवशात् समभिरूढ़ नय के माध्यम से जानें तो विकार का अर्थ होता है विकृत कृति। जिसमें विकृत परिणमन हो जाए उसको विकार कहते हैं। किन्तु 'वि' का अर्थ विकृत, विरलन, विशेष, विगत आदि अर्थों में आता है। यहाँ 'वि' से 'विशेष' शब्द ग्राह्य है। विकार अर्थात् विशेष परिणमन। वह विशेष परिणमन अच्छे रूप भी हो सकता है और बुरे रूप भी। स्वभाव रूप भी हो सकता है और विभाव रूप भी। शुद्ध रूप भी हो सकता है और अशुद्ध रूप भी। अतः गुणों का परिणमन पर्याय है। परिणाम, परिणमन, भाव, पर्याय ये एकार्थवाची हैं। द्रव्य का भाव अर्थात् वर्तमानकालीन दशा पर्याय है। पर्याय एकसमयवर्ती भी होती है व अनेक समयवर्ती भी इनका कथन आगे करेंगे।

संसार में एक परमाणु को भी न उत्पन्न किया जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता पर्याय निरंतर बदलती रहती हैं। जो दृष्ट व अनुभूतादि है वे सभी पर्यायें हैं। बिना पर्याय के कोई वस्तु, द्रव्य पकड़ में नहीं आता। यदि धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य के समान जीव व पुद्गल में भी स्वाभाविक परिणमन हो तो उन्हें इंद्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकेगा।

द्रव्य त्रिकालवर्ती व नित्य होता है। तब प्रश्न आता है संसार में जो कुछ भी नष्ट होता हुआ दिखता है वह क्या है? वह पर्याय है। पर्याय ही नष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं। द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इनमें उत्पाद-व्यय पर्याय जाननी चाहिए। जैसे-एक मनुष्य मृत्यु को प्राप्त कर देवावस्था को प्राप्त होता है। तब व्यय मनुष्य पर्याय का है, उत्पाद देवावस्था का है और जीवद्रव्य ध्रौव्य है। अतः जीव की एक पर्याय का विनाश व नवीन की उत्पत्ति हुई एवं जीव द्रव्य वही है। यदि ऐसा नहीं मानें तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अलग-अलग हो जाएँगे और ऐसा होने पर यदि उस जीवात्मा के मनुष्य पर्याय का व्यय हुए बिना देवावस्था का उत्पाद चाहेंगे तो वह संभव नहीं या फिर असत् की उत्पत्ति माननी होगी। असत् की उत्पत्ति का अर्थ है गधे के सींग के समान असंभव वस्तुओं की उत्पत्ति। इसी प्रकार यदि मनुष्य पर्याय का विनाश मानें, कोई नवीन पर्याय की उत्पत्ति न मानें तो विनाश मानने से सत् का विनाश मानना पड़ेगा। असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश दोनों ही संभव नहीं हैं।

इस प्रकार सत् (भाव) का नाश नहीं होता और असत् (अभाव) का उत्पाद नहीं होता। उदाहरण देते हुए पंचास्तिकाय में आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी बताते हैं-

मणुसत्तणेण णट्ठो, देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो॥17॥

मनुष्यत्व से नष्ट हुआ जीव देव या अन्य होता है उन दोनों में जीवभाव नष्ट नहीं होता और दूसरा जीवभाव उत्पन्न नहीं होता।

अत: उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परस्पर में अविनाभावी हैं। द्रव्य में होने वाला उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही पर्याय है।

गुण द्रव्य में सदा विद्यमान रहते हैं। गुणों में परिणमन होता है, यही उत्पाद-विनाशशीलता पर्याय है। अत: द्रव्य को गुण पर्याय वाला कहें या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय कहें बात एक ही है। ऊपर जो द्रव्य के परिणमन वा गुणों के परिणमन को पर्याय कहा इस अपेक्षा से पर्याय दो प्रकार की कही जाती हैं–द्रव्य पर्याय व गुण पर्याय। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में निरूपित है–''पर्यायास्तु..... द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि।'' पर्याय गुणात्मक भी है और द्रव्यात्मक भी। यहाँ आचार्य महाराज ने अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय के भेद से दो प्रकार की पर्याय कहीं।

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में लिखा है– षट्हानि वृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागम प्रमाण से स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें होती हैं व जिससे व्यक्त हो प्रगट हो वह व्यंजन पर्याय है। किस कारण? पटादि की भाँति चक्षु गोचर होने से प्रगट होती है अथवा सादि-सांत मूर्त्त विजातीय विभाव-स्वभाव वाली होने से दिखकर नष्ट होने वाले स्वरूप वाली होने से प्रगट होती है। नर-नारकादि व्यंजन पर्याय पाँच प्रकार के संसार प्रपंच वाले जीवों के होती हैं। पुद्गलों को स्थूल-स्थूल आदि स्कंध पर्यायें (व्यंजन पर्यायें) होती हैं।

आचार्य श्री वसुनंदी स्वामी वसुनंदी श्रावकाचार में कहते हैं–

सुहुमा अवायविसया, खणरवइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण, थूलागिरगोयरा चिरविवत्था॥25॥

अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, अवाय (ज्ञान) विषयक है, अत: शब्द से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में बदलती है किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्द गोचर है अर्थात् शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थायी है।

अथवा अभिनव आचार्य श्री धर्मभूषण जी ने न्यायदीपिका में प्ररूपित किया है 'भूत और भविष्यत् के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तुस्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों

ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। अभिव्यक्ति का नाम व्यंजन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदि रूप अर्थ क्रियाकारिता है वह व्यक्ति है उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे–मिट्टी आदि की पिंड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें हैं। अर्थ व व्यंजन पर्याय को बताते हुए आचार्य श्री शुभचंद्र स्वामी कहते हैं–

मूर्त्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः।।6/45।।

व्यंजन पर्याय मूर्त्तिक है, वचन के गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है और अर्थपर्याय सूक्ष्म है, क्षणविध्वंसी है।

इस प्रकार जो पर्याय इंद्रिय के अगोचर, वचनों के अगोचर, सूक्ष्म, क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली एवं केवलज्ञानी के गम्य है वह अर्थ पर्याय है।

व्यंजन का अर्थ होता है व्यतिक्रियंते या पृथक्क्रियंते।

अर्थात् वे पर्यायें जो स्थूल हैं इद्रिंयगोचर, वचनगोचर, चिरस्थायी हैं, द्रव्य में दिखाई दे रही हैं एवं द्रव्य से पृथक् की जा सकती हैं। जैसे जीव की मनुष्यादि पर्याय। ये पर्याय जीव से पृथक् की जा सकती हैं अथवा पुद्गल की स्कंधादि पर्याय भी पृथक् की जा सकती हैं। शुद्धावस्था में स्वभाव व्यंजन पर्याय होती है जो जीव का स्वभाव होने से अपृथक् है किन्तु विभाव द्रव्य व्यंजन पर्यायें पृथक् होती हैं।

पुद्गल अर्थात् परमाणु की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय होती है क्योंकि यह परमाणु पुद्गल की शुद्धावस्था है। सभी द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य एक ऐसा है जो शुद्ध से अशुद्ध, अशुद्ध से शुद्ध होता रहता है।

जीव की यदि एक बार स्वभाव व्यंजन पर्याय हो गई तो कभी विभाव रूप पर्याय नहीं होगी क्योंकि एक बार जीव शुद्ध हो जाए, स्वभाव को प्राप्त हो जाए तो पुनः कभी अशुद्ध नहीं हो सकता, विभाव को प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पुद्गल शुद्ध होकर पुनः अशुद्ध हो सकता है।

धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य की तो मुख्य वृत्ति से एक समयवर्ती अर्थ पर्याय ही होती है और जीव व पुद्गल में अर्थ व व्यंजन दोनों ही पर्याय होती हैं। पूर्व में कही गईं द्रव्य पर्यायें और गुण पर्यायें दोनों ही अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय के भेद से दो-दो प्रकार

की होती हैं। एवं ये भी स्वभाव व विभाव के भेद से 2 प्रकार की होती हैं। इन पर्यायों का कथन ग्रंथकार स्वयं ही आगे करेंगे।

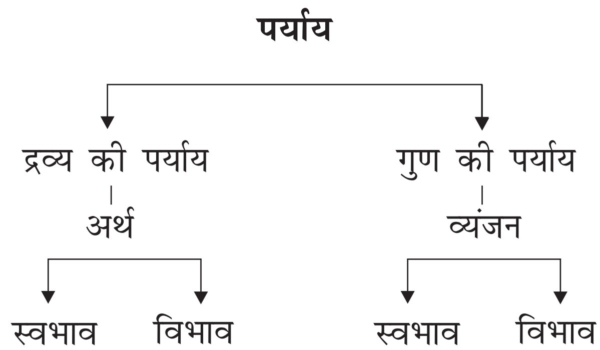

अर्थपर्यायभेद

अर्थपर्यायास्तेद्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्॥16॥

अर्थ–अर्थपर्याय दो प्रकार की है–स्वभावार्थ पर्याय, विभावार्थ पर्याय।

विशेषार्थ–गुण व पर्याय से युक्त द्रव्य होता है। द्रव्य नित्य है व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी जी ने पंचास्तिकाय में कहा है–

पज्जयविजुदं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं, भावं समणा परूवेंति॥12॥

पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होती। दोनों का अनन्यभाव वा अनन्यपना श्रमण प्ररूपित करते हैं।

जैसे मनुष्यादि पर्यायों से रहित जीव नहीं होता और जीव मनुष्यादि पर्यायों से रहित नहीं होता। यदि आम्र में से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण निकाल लें तो आम ही नहीं बचेगा और आम है तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भी होगा। दूध, दही, मावा, छाछ आदि से रहित गोरस नहीं और गोरस से रहित दूध, दही आदि पर्यायें नहीं होतीं। ये पर्यायें पहले दो प्रकार की कहीं–अर्थ व व्यंजन। अर्थ पर्याय भी दो प्रकार की कही–स्वभाव व विभाव।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने भी दो प्रकार की पर्याय निरूपित कीं–स्व-पर सापेक्ष व निरपेक्ष। स्व-पर सापेक्ष पर्याय ही विभाव पर्याय है एवं निरपेक्ष पर्याय ही स्वभाव पर्याय है।

अनादिकाल से छः द्रव्य लोक में विद्यमान हैं व अनंतकाल तक रहेंगे। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश व काल अनादि-अनंत वा शाश्वत शुद्ध हैं। अपने स्वभाव से कभी च्युतु नहीं होते, इनमें कभी भी वैभाविक परिणमन नहीं होता। यदि द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय भी शुद्ध होगी, द्रव्य स्वभावमय है तो पर्याय भी स्वभावमय होगी। शुद्ध द्रव्य में अशुद्ध पर्याय व अशुद्ध द्रव्य में शुद्ध पर्याय आकाश पुष्प के समान असंभव है।

धर्म, अधर्म, आकाश व काल शुद्ध हैं, स्वभावमय हैं अतः इनकी पर्याय भी स्वभावमय है। एवं इन चार द्रव्यों की पर्याय सूक्ष्म, वचन व इंद्रियों के अगोचर, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है अतः अर्थ पर्याय है। इस प्रकार इन चार द्रव्यों की स्वभावार्थ पर्याय है।

जीव व पुद्गल इन दोनों द्रव्यों के सम्बन्ध से ही संसार का यह क्रम प्रवर्तमान है। जीव व पुद्गल ये दोनों द्रव्य शुद्ध व अशुद्ध दोनों अवस्था को प्राप्त होते हैं। जीव यदि शुद्धावस्था को प्राप्त हो जाए तो पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता जबकि अशुद्ध पुद्गल एक बार शुद्ध अवस्था अर्थात् परमाणु अवस्था को प्राप्त हो जाए तो पुनः अशुद्ध हो सकता है। अशुद्ध अर्थात् कर्मों से सहित जीव की पर्याय भी अशुद्ध होगी। विभावमय जीव की पर्याय विभावमय होगी, जबकि स्वभाव से युक्त जीव की पर्याय स्वभावमय होगी। स्वभाव युक्त जीव की वह पर्याय जो सूक्ष्म, इंद्रिय व वचन के अगोचर, प्रतिक्षण परिणमनशील है वह स्वभावार्थ पर्याय है। विभाव युक्त जीव की अर्थ पर्याय विभावार्थ पर्याय है। इस प्रकार स्वभावमय पुद्गल अर्थात् परमाणु की अर्थ पर्याय स्वभावार्थ पर्याय व विभावमय पुद्गल वा स्कंध की अर्थ पर्याय विभावार्थ पर्याय है।

'णयचक्को' ग्रंथ में प्ररूपित भी है-

सब्भावं खु विहावं, दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं।
सव्वेसिं च सहावं, विब्भावं जीवपोग्गलाणं च॥18॥
दव्वगुणाण सहावं, पज्जायं तह विहावदो णेयं।
जीवे जे वि सहावा, ते वि विहावा हु कम्मकदा॥19॥

जिनेन्द्र भगवान! ने द्रव्यों की स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय कही हैं। सब द्रव्यों में स्वभाव पर्याय होती है। केवल जीव और पुद्गल द्रव्य में विभाव पर्याय होती है। द्रव्य और गुणों में स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय जाननी चाहिए। जीव में जो स्वभाव है, कर्मकृत होने से वे भी विभाव हो जाते हैं और भी कहा है-

पोग्गलदव्वे जो पुण, विब्भाओ कालपेरिओ होदि।
सो णिद्धलुक्खसहिदो, बंधो खलु होइ तस्सेव॥

पुद्गल द्रव्य में काल के द्वारा प्रेरित जो विभाव रूप परिणमन होता है वह स्निग्ध और रूक्ष गुण सहित होता है। इसी से उसका बंध होता है अर्थात् पुद्गल द्रव्य के स्निग्ध और रूक्ष गुण में परिणमन होने से एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बंध होता है यही उसका विभाव परिणमन है।

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में भी निबद्ध है कि स्वभाव व विभाव पर्यायों द्वारा जीव व पुद्गल द्रव्य परिणामी हैं। शेष चार द्रव्य विभाव व्यंजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं। अन्य प्रकार से भी कहा है कि ये समानजातीय और असमानजातीय अनेक द्रव्यात्मक एक रूप द्रव्य पर्याय जीव व पुद्गल में ही होती है तथा अशुद्ध ही होती है। क्योंकि ये अनेक द्रव्यों के परस्पर संश्लेष रूप सम्बन्ध से होती है। धर्मादिक द्रव्यों की परस्पर संश्लेष रूप संबंध से पर्याय घटित नहीं होती इसलिए परस्पर संबंध से अशुद्ध पर्याय भी उनमें घटित नहीं होती।

इस प्रकार स्वभाव पर्याय सर्व द्रव्यों में होती है किन्तु विभाव पर्याय जीव व पुद्गल इन दो द्रव्यों में होती है क्योंकि ये दो द्रव्य ही बंध अवस्था को प्राप्त होते हैं।

अर्थपर्याय

अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपा षड्ढानिरूपा, अनंतभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धिः अनंतगुणवृद्धिः इति षड्वृद्धिः तथा अनंतभागहानिः असंख्यातभागहानिः, संख्यातभागहानिः, संख्यातगुणहानिः असंख्यातगुणहानिः अनंतगुणहानिः इति षड्हानिः। एव षट्वृद्धिषड्ढानिरूपाः ज्ञेया॥17॥

अगुरुलघु गुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थपर्यायें हैं। ये पर्यायें बारह प्रकार की हैं छः वृद्धिरूप और छः हानिरूप। अनंतभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि ये छः वृद्धिरूप पर्यायें हैं। अनंतभागहानि असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनंतगुणहानि, ये छः हानि रूप पर्यायें हैं। इस प्रकार छः वृद्धिरूप और छः हानिरूप पर्यायें जाननी चाहिये।

'स्वभाव अर्थ पर्याय' यह अपने अर्थ को स्वयं ध्वनित कर रहा है। अर्थ पर्याय दो प्रकार की कही गई हैं स्वभाव व विभाव। अर्थ पर्याय सूक्ष्म, इंद्रिय व वचन के अगोचर, प्रतिक्षण, परिणमनशील होती है। व्यंजन पर्याय दो जीव व पुद्‌गल द्रव्य में होती है किन्तु अर्थ पर्याय छहों द्रव्यों में होती है। स्वभाव अर्थ पर्याय का कारण है–अगुरुलघु गुण। 'अगुरुलघु गुण' यह प्रत्येक द्रव्य का सामान्य गुण है। यदि शब्द की अपेक्षा से इस गुण का अर्थ जानें तो वह इस प्रकार होगा–'अगुरुलघु'। यहाँ 'अ' अभाव के या रहित के अर्थ में ग्रहण होगा। जैसे अनादिनिधन शब्द का अर्थ लेते हैं–अनादि व अनिधन अर्थात् जो आरंभ व अंत से रहित हो। उसी प्रकार 'अगुरुलघु' को समझेंगे अगुरु व अलघु। गुरु अर्थात् वृद्धि, अगुरु अर्थात् वृद्धि से रहित। अलघु यानि हानि से रहित। अर्थात् किसी भी द्रव्य का एक भी प्रदेश न ही वृद्धि को प्राप्त होता है और न ही हानि को। जिस द्रव्य में जितने प्रदेश हैं उतने ही रहेंगे यह अगुरुलघु गुण का ही प्रभाव है। अगुरुलघु गुण जिस द्रव्य में है वह दूसरे द्रव्य को अपने रूप नहीं होने देता और इस गुण के कारण द्रव्य स्वयं परद्रव्य रूप नहीं हो सकता।

जीव, पुद्‌गलादि द्रव्य रूप नहीं हो सकता, पुद्‌गल अन्य जीव, धर्मादि द्रव्य रूप नहीं हो सकता, धर्मादि द्रव्य भी अन्य द्रव्य रूप नहीं हो सकते। स्कंध-परमाणु व परमाणु-स्कंध हो सकता है। पुद्‌गल के प्रदेशों की व्यवस्था अलग है। परमाणु की अपेक्षा पुद्‌गल अप्रदेशी व स्कंध होने से संख्यात असंख्यात, अनंत, अनंतानंत प्रदेशी हो सकता है। किन्तु पुद्‌गल द्रव्य के प्रदेशों की संख्या नियत है। अनंतकाल पहले भी उतनी ही थी, आज भी उतनी ही है, अनंतकाल बाद भी उतनी ही होगी।

यहाँ प्रश्न आता है कि जब एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में प्रदेशों का आदान-प्रदान संभव नहीं है तब आत्मा-जीव को अचेतन व मूर्त्त और पुद्‌गल को चेतन व अमूर्त्त क्यों माना? समाधान ये है कि जीव को अचेतन व मूर्त्त तथा पुद्‌गल को चेतन व अमूर्त्त जो कहा यह सब उपचार का कथन है। जब नय से कथन नहीं होता तो उपनयों का आश्रय लेते हैं। जैसे जहाँ कंपनी का मालिक (owner) न हो, अनुपस्थित हो तो वहाँ मैंनेजर काम करता है, उसी प्रकार जहाँ नय काम करने नहीं आता वहाँ उपनय काम करते हैं। पुद्‌गल के संयोग से जीव को कथंचित् मूर्त्त व अचेतन कहा व उसी प्रकार पुद्‌गल को अमूर्त्त व चेतन संज्ञा कथंचित् प्राप्त हुई। किन्तु आत्मा कभी अचेतन नहीं हो सकता और पुद्‌गल कभी चेतन नहीं हो सकता।

अगुरुलघु गुण द्रव्य का जाति से विजातीय परिणमन नहीं होने देता। एक भी पुद्गल प्रदेश को जीव का या जीव के प्रदेश को पुद्गल रूप नहीं बनाया जा सकता। किसी द्रव्य का एक प्रदेश भी दूसरे द्रव्य के प्रदेश रूप कदापि नहीं हो सकता, यह अगुरुलघु गुण का कार्य है। इस अगुरुलघु गुण का परिणमन ही स्वाभाविक अर्थ पर्याय है। णयचक्को ग्रंथ में भी कहा है–

अगुरुलहुगाणंता, समयं समयं समुब्भवा जे वि।
दव्वाणं ते भणिया, सहावगुणपज्जया जाण॥21॥

द्रव्यों के अनंत अगुरुलघु गुण जो प्रति समय हानि-वृद्धि रूप परिणमन करते हैं उसे स्वभाव गुण पर्याय जानना चाहिए।

प्रवचनसार की तत्त्वप्रबोधिनी टीका में भी उद्धृत है कि समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघु गुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थान पतित हानि वृद्धि रूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभाव गुण पर्याय है।

''स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमय-समुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः।''

शुद्ध गुण पर्याय की भाँति सर्व द्रव्यों की अगुरुलघु गुण की षट्हानि-वृद्धि रुप से शुद्ध अर्थ पर्याय होती है।

प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु गुण होता है। वह अगुरुलघु गुण प्रति समय छह हानि वृद्धि रूप परिणमन करता रहता है। यही स्वभाव गुण पर्याय है क्योंकि यह परनिरपेक्ष है। प्रत्येक शुद्ध द्रव्य में अनंत गुण होते हैं। उन अनंत गुणों में एक अगुरुलघु गुण भी होता है जिसमें अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं। उस अगुरुलघु गुण में ही नियत क्रम से अविभाग-प्रतिच्छेदों की छः प्रकार की वृद्धि और छः प्रकार की हानि रूप प्रति समय परिणमन होता रहता है। यह प्रति समय का परिणमन ही शुद्ध द्रव्यों की स्वभाव पर्यायें हैं।

धवला जी पु. 6 में निबद्ध है यद्यपि अगुरुलघु गुण सामान्य गुण है, सर्व द्रव्यों में पाया जाता है तथापि संसार अवस्था में कर्म परतंत्र जीवों में उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का अभाव है। यदि कहा जाए कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव द्रव्य का विनाश प्राप्त होता है क्योंकि लक्षण के विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है ऐसा न्याय है, सो भी बात नहीं है अर्थात् अगुरुलघु गुण के विनाश होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता

क्योंकि ज्ञान और दर्शन को छोड़कर अगुरुलघुत्व जीव का लक्षण नहीं है, क्योंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है।

संसारी जीव जो कर्मबद्ध हैं उनके कर्मोदय कृत अगुरुलघुत्व है किन्तु मुक्त जीवों के कर्मों का क्षय हो जाने पर स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का आविर्भाव होता है। पुद्‌गल जो कालप्रेरित स्कंध रूप हैं उनके तदनुरूप अगुरुलघुत्व है किन्तु पुद्‌गल परमाणु के स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का आविर्भाव होता है।

अंगुल के असंख्यातवे भाग बार अनंतवे भाग वृद्धि होने पर एक बार एक असंख्यातवे भाग वृद्धि होती है। पुनः अंगुल के असंख्यातवे भाग बार अनंतवे भाग वृद्धि होने पर एक असंख्यातवे भाग वृद्धि होती है। इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवे भाग बार असंख्यातवे भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातवे भाग वृद्धि होती है। पुनः पूर्वोक्त प्रकार अंगुल के असंख्यातवे भाग बार असंख्यातवे भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातवे भाग वृद्धि होती है। इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवे भाग बार संख्यातवे भाग वृद्धि होने पर एक बार संख्यातगुणी वृद्धि होती है। पूर्वोक्त प्रकार अंगुल के असंख्यातवे भाग बार संख्यातगुणी वृंद्धि होने पर एक बार असंख्यातगुण वृद्धि होती है। अंगुल के असंख्यातवे भाग बार असंख्यातगुण वृद्धि होने पर एक बार अनंतगुण वृद्धि होती है। इस प्रकार छः वृद्धि होने पर छः हानियाँ होती हैं।

एक षट्स्थान पतित वृद्धि में अनंतगुण वृद्धि एक होती है। असंख्यात गुण वृद्धि कांडक प्रमाण अर्थात् अंगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण होती है।[1] संख्यातगुण वृद्धि कांडक x (कांडक + 1) = कांडक^2 + कांडक प्रमाण होती है। संख्यात भाग वृद्धि (कांडक + 1) (कांडक^2 + कांडक) = कांडक^3 + 2 कांडक^2 + कांडक प्रमाण होती है। असंख्यात भाग वृद्धि (कांडक + 1) (काडक^3 + 2 कांडक^2 + कांडक) = (कांडक^4 + 3 कांडक^3 + 3 कांडक^2 + कांडक) प्रमाण होती है। अनंतभाग वृद्धि (कांडक + 1) (कांडक^4 + 3 कांडक^3 + 3 कांडक^2 + कांडक) = (कांडक^5 + 4 कांडक^4 + 6 कांडक^3 + 4 कांडक^2 + कांडक प्रमाण होती हैं।

इसी प्रकार एक षट्स्थान पतित हानि में अनंतगुणहानि, असंख्यातगुण हानि, संख्यातगुण हानि, संख्यातभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, अनंतभागहानि का प्रमाण जानना चाहिए।

अनंतभाग वृद्धि की उर्वक (3) संज्ञा है, असंख्यात भाग वृद्धि की चतुरंक (4), संख्यातभाग वृद्धि की पचाक (5), संख्यातगुण वृद्धि की षडक (6), असंख्यातगुण वृद्धि की सप्ताक (7) और अनंतगुणवृद्धि की अष्टाक (8) संज्ञा जाननी चाहिए।

जीव की विभावार्थ पर्याय

विभावार्थपर्यायाः षड्विधाः मिथ्यात्व-कषाय-राग-द्वेष-पुण्य-पापरूपाऽध्यवसायाः।।18।।

विभाव अर्थ पर्याय छः प्रकार की है–मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य व पाप। ये छः अध्यवसाय विभावार्थ पर्यायें हैं।

जीव व पुद्गल की विभाव व स्वभाव दोनों पर्यायें होती हैं। स्वभाव पर्याय तो सभी द्रव्यों में होती है किन्तु विभावपर्याय धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य इनमें कभी नहीं होती क्योंकि ये सदैव स्वभावमय होते हैं। जीव व पुद्गल द्रव्य विभावमय हैं तो विभाव पर्याय और यदि स्वभावमय हैं तो स्वभाव पर्याय होती है। यहाँ विभाव पर्याय का कथन है।

पूर्व में स्वभावार्थ पर्याय का निमित्त बताया गया अगुरुलघु गुण और अब विभावार्थ पर्याय का निमित्त यहाँ आचार्य महाराज बताते हैं कि इसका निमित्त कारण है मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य, पाप। उपादान कारण हैं–जीव। मिथ्यात्वादि कारणों से जीव के भावों में परिणमन हो रहा है। भावों का यह परिणमन अत्यंत सूक्ष्म है, इंद्रिय अगोचर है, वचनों के अगोचर है अतः विभाव अर्थ पर्याय है। जीव की स्थूल मनुष्यादि पर्याय व्यंजन पर्याय है जिसे अभी आगामी सूत्रों में देखेंगे। यहाँ अर्थ पर्याय का कथन है, कषाय के असंख्यात लोकप्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं एवं कषाय की मंदता से विशुद्ध स्थान भी वृद्धि को प्राप्त होते हैं। मिथ्यात्व की तीव्रता भी होती है, मिथ्यात्व की मंदता भी होती है। जीव के विभाव रूप कषायादि षट्स्थान हानि वृद्धि क्रमशः होती है।

माना किसी संक्लेशित जीव की संक्लेशता में हानि प्रारंभ हुई तब वह हानि क्रम से होगी अनंतभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि व अनंतगुणहानि। संक्लेशता की हानि ही विशुद्धि है। अब विशुद्धि बढ़ना प्रारंभ हुई तब वह भी क्रम से वृद्धिंगत होगी। अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि।

आचार्य भगवन् श्री जयसेन स्वामी ने भी पंचास्तिकाय टीका में जीव की अशुद्ध पर्याय का कथन इस प्रकार किया है–

'अशुद्धार्थपर्यायाः जीवस्य षट्स्थानगतकषायहानिवृद्धिविशुद्धिसंक्लेशरूपशुभाशुभ-लेश्यास्थानेषु ज्ञातव्याः।'

कषायों की षट्स्थानगत हानि वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेश रूप शुभ अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की अशुद्ध अर्थात् विभाव अर्थ पर्यायें जाननी चाहिये।

जीव के लिए मोहनीय कर्म विभावार्थ पर्याय का मुख्य कारण बनता है मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष सब मोहनीय के ही रूप हैं। पुण्य-पाप रूप परिणाम भी मुख्यत: मोहनीय कर्म के कारण होते हैं। 11वे, 12वे गुणस्थान में होने वाले परिणाम योग के निमित्त से माने जाते हैं। 13वे गुणस्थान में साता वेदनीय का बंध उपचार से माना जाता है। किन्तु यहाँ पर भी जो परिणामों में तारतम्यता आती है वह भी षट्वृद्धि-षट्हानि रूप ही होती है। इनका सूक्ष्म परिणमन विभावार्थ पर्याय ही जाननी चाहिए।

यह जीव के संबंध में बात हुई इसी प्रकार पुद्गल के विषय में भी जानना चाहिए। विभाव पर्याय का यहाँ प्रसंग है तब विभाव रूप पुद्गल का ही ग्रहण होगा। विभाव पुद्गल का आशय है द्वयणुकादि स्कंध। इन स्कंधों में स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि का सूक्ष्म परिणमन (षट्स्थान हानिवृद्धि) पुद्गल की विभावार्थ पर्याय है। आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने पंचास्तिकाय गाथा 16 की टीका में स्पष्ट किया है–)

'पुद्गलस्य विभावार्थपर्यायाः द्वयणुकादिस्कंधेषु वर्णान्तरादिपरिणमनरूपाः,

द्वि-अणुक आदि स्कंधों में वर्णादि से अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ पर्यायें हैं।

इस प्रकार जीव व पुद्गल की ही विभाव अर्थ पर्याय समझनी चाहिए।

जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय

विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधाः नरनरकादिपर्यायाः अथवा चतुरशीतिलक्षाः योनयः॥19॥

अर्थ–नर नारक आदि रूप चार प्रकार की अथवा चौरासी लाख योनि रूप जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय हैं।

विशेषार्थ–यहाँ जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय का कथन किया गया है। जीव की विभाव पर्याय अर्थात् जब जीव कर्मोपाधि से सहित है, विभाव में है तब उसकी जो भी पर्याय है। द्रव्य कहने से गुण पर्याय का परिहार स्वत: हो गया। यहाँ जीव की गुण पर्याय नहीं, जीव की द्रव्य पर्याय का कथन है। संपूर्ण जीव द्रव्य को ग्रहण करना है उसके किसी

गुण को नहीं। व्यंजन पर्याय का अर्थ है जो स्थूल, चिरस्थायी, इंद्रियगोचर, वाग्गोचर हो। इस प्रकार विभावरूप परिणत द्रव्य (जीव) की व्यंजन पर्याय विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है।

यद्यपि द्रव्य गुणों व पर्यायों का समूह ही है। किन्तु एक गुण का परिणमन गुण पर्याय है और संपूर्ण गुणों का समूह रूप द्रव्य का परिणमन द्रव्य पर्याय है। जैसे-भीड़। एक व्यक्ति को भीड़ नहीं कहा जा सकता है किन्तु व्यक्तियों के बिना भीड़ कुछ भी नहीं है। वैसे ही एक गुण को द्रव्य नहीं कहा जा सकता। जीव संपूर्ण चैतन्य गुणों का पिंड है। भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति अलग-अलग है किन्तु भीड़ का फोटो एक साथ लिया तो वह भीड़ की समग्र पर्याय है Individual व्यक्ति को देखेंगे तो वह उसकी पर्याय होगी। उसी प्रकार भीड़ पक्ष में द्रव्य की पर्याय द्रव्य पर्याय और भीड़ का एक individual व्यक्ति पक्ष में गुण की पर्याय गुण पर्याय है।

विभाव पर्याय मात्र विभावगत जीव व पुद्गल की होती है। ग्रंथकार स्वयं उनका कथन क्रमशः करेंगे। यहाँ जीव की विभाव व्यंजन पर्याय का प्रसंग है। विभाव जीव शब्द कहते ही संसारी जीव का ग्रहण हो जाता है। तब जीव नाना गतियों में भ्रमण करता है, जन्म-मरण करता है, 84 लाख योनि, 199½ लाख कोटिकुलों में भटकता है ये सभी पर्याय विभाव हैं क्योंकि ये स्वभाव से अन्यथा हैं, जीव का स्वभाव नहीं हैं। नर, नारक, तिर्यंच, देवादि पर्यायें ये चारों जीव की द्रव्य पर्यायें हैं ये किसी जीव की गुण रूप पर्याय नहीं हैं। जीव आत्मा जिस भी शरीर को प्राप्त करती है वह उसकी विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। किसी भी कुल, जाति आदि में जन्म ले वह उसकी विभाव व्यंजन पर्याय है। णयचक्को में भी निरूपित है–

जं चदुगदिदेहीणं देहायारं पदेसपरिणामं।
अह विग्गहगइजीवे तं दव्वविहावपज्जायं॥22॥

चारों गति के प्राणियों के तथा विग्रह गति वाले जीव के आत्मप्रदेशों का परिणाम जो शरीराकार है वह जीवद्रव्य की विभाव पर्याय है।

पंचास्तिकाय गाथा 16 की टीका में प्ररूपित है–जीव जब दूसरी गति को जाता है तब नवीन शरीर रूप नोकर्म पुद्गलों के साथ संबंध को प्राप्त करता है। उससे मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारक पर्यायों की उत्पत्ति होती है। चेतनरूप जीव के साथ अचेतनरूप पुद्गल के मिलने से जो मनुष्यादि पर्याय हुई यह असमानजाति द्रव्य-पर्याय है। ये समानजातीय तथा असमानजातीय अनेक द्रव्यों की एकरूप द्रव्य-पर्यायें पुद्गल और जीव में ही होती हैं। ये अशुद्ध ही होती हैं क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर संश्लेष सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं।

जीव की ये नर-नारकादि पर्यायें, आयु आदि कर्म जनित हैं, स्वभाव से अन्यथा हैं इसलिए विभाव पर्यायें हैं। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा भी है—

कम्मणामसमक्ख सभावमघ अप्पणो सहावेण।
अभिभूय-णर-तिरिय-णेरइय वा सुर कुणदि॥17॥

नाम संज्ञा वाला कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देवपर्यायों को करता है।

इस प्रकार नर नारकादि अथवा 84 लाख योनि रूप जीव की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय कही गई है।

जीव की विभाव गुण व्यंजन पर्याय

विभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः मत्यादयः॥20॥

अर्थ—मतिज्ञान आदिक जीव की विभाव-गुण-व्यंजनपर्यायें हैं।

विशेषार्थ—आत्मा के गुणों का कर्मरूप पुद्गलों के गुणों के आकार रूप कथंचित् संक्रमण होना वैभाविक भाव कहलाता है।

'तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावा वैभाविकश्चितः' —पं.ध.

अथवा सहज अर्थात् स्वभाव से रूपान्तर का ग्रहण करना विभाव है।

'सहजादो रूवन्तरगहणं जो सो हु विब्भावो— न.च.वृ.

कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भावों को विभाव कहते हैं। कर्मोपाधि सापेक्ष जीव के गुणों की स्थूल, वचनगोचर व स्थिर पर्यायें विभाव गुण व्यंजन पर्यायें हैं। जैसे जीव का ज्ञान, दर्शनादि गुण। कर्म से युक्त जीव के ज्ञान गुण की पर्याय कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान हैं। दर्शन गुण की कर्मोपाधि सहित चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन ये पर्यायें हैं। यह अर्थ पर्यायें नहीं हैं। अर्थ पर्याय तो प्रतिक्षण विनाशीक होती है जबकि इनकी स्थिति तो अधिक होती है। इनका तो जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त होता है। इस प्रकार ज्ञानगुण की ये विकार युक्त पर्यायें विभाव पर्याय कहलाती हैं। 'णयचक्को में कहा भी है—

मदिसुदओहीमणपज्जयं च अण्णाणं तिण्णि जे भणिया।
एवं जीवस्स इमे विहावगुणपज्जया सव्वे॥23॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और तीन अज्ञान-कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान ये सब जीव की विभाव गुण पर्याय हैं।

इस प्रकार आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने मतिज्ञानादि गुणों को विभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें स्पष्ट किया।

जीव की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय

स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनसिद्धपर्यायाः॥21॥

अर्थ–अंतिम शरीर से कुछ कम जो सिद्ध पर्याय है, यह जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजनपर्याय है।

विशेषार्थ–'स्वभाव' शब्द कहा अर्थात् यहाँ विभाव का कथन नहीं है, शुद्ध पर्याय ग्रहण करना है। द्रव्य कहा अर्थात् गुण की पर्याय नहीं है। व्यंजन पर्याय कहा अर्थात् वह प्रतिक्षण विनाशीक नहीं है, एक समय की नहीं है, चिरकाल स्थायी है। इस प्रकार वह स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय कहलाती है। यहाँ आचार्य भगवन् जीव की स्वभाव व्यंजन पर्याय का कथन करते हैं। जीव स्वभाव रूप अवस्था से सिद्धालय में रहता है। जीव की वह सिद्ध पर्याय चिरकाल स्थायी होने से व्यंजन पर्याय है। अत: जीव की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है–सिद्ध पर्याय। 'णयचक्को' ग्रंथ में भी प्ररूपित है–

देहायारपएसा, जे थक्का उहयकम्मणिम्मुक्का।
जीवस्स णिच्चला खलु, ते सिद्धा दव्वपज्जाया॥24॥

जीव के द्रव्य-भाव कर्मों से मुक्त हुए जो प्रदेश शरीराकार रूप से स्थित होकर निश्चल हैं वे शुद्ध द्रव्य पर्याय हैं।

यहाँ बताया जाता है कि सर्व कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्ध पर्याय में भी आत्म प्रदेश किंचित् न्यून शरीराकार ही रहते हैं।

कहा गया है–

लोयविणिच्छयगंथे, लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाण।
ओगाहणपरिमाण, भणिद किंचूण चरिमदेहसमो॥9॥ –ति.प.

लोक विनिश्चय ग्रंथ में लोक विभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है। द्रव्य संग्रह में भी निरूपित किया है–**'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा'** अर्थात् सिद्धों की अवगाहना अन्तिम शरीर से कुछ न्यून है। वृहद् द्रव्य संग्रह की

टीका में भी दृष्टांत सहित यह कथन प्राप्त होता है **'किञ्चिदून चरमशरीराकारेण गतसिक्खमूषगर्भाकारवत् पुरुषाकार:।'** मोम रहित मूसा के (सांचे के) बीच के आकार की तरह अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले केवलज्ञानमूर्ति अमूर्तिक सिद्ध भगवान् विराजते हैं।

''तत् किञ्चिदूनत्वं शरीराङ्गोपाङ्गजनितनासिकादिछिद्राणामपूर्णत्वे सति...''।

वे सिद्ध चरम शरीर से किंचित् ऊन (न्यून) होते हैं और वह किंचित् ऊनता शरीर व अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों की पोलाहट के कारण से है।

इस विषय में आचार्य भगवन् श्री यतिवृषभस्वामी ने तिलोय पण्णति ग्रंथ में प्ररूपित किया है–

दीहत्तं बाहल्लं, चरिमभवे जस्स जारिसं ठाणं।
तत्तो विभागहीणं, ओगाहण सव्वसिद्धाणं।।9/10।।

अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहल्य हो उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

जीव की किसी एक गुण की पर्याय न होने के कारण सिद्ध पर्याय द्रव्य की पर्याय है। कर्मोपाधि से रहित होने से स्वभाव पर्याय है। सादि-अनंत होने से यह व्यंजन पर्याय है। अत: सिद्ध पर्याय जीव की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है।

जीव की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय

स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया: अनन्तचतुष्टयरूपा: जीवस्य।।22।।

अर्थ–अनंत ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टयरूप जीव की स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं।

विशेषार्थ–गुण कहने से स्पष्ट है कि यहाँ द्रव्य का कथन नहीं है, जीव के गुणों का कथन है। गुण भी स्वाभाविक हैं ऐसा 'स्वभाव' कहने से ग्रहण हो जाता है। व्यंजन पर्याय कहने से आशय है जीव के वे गुण जो प्रतिक्षण विनाशीक नहीं होते चिरकाल स्थायी हैं। गुणों की शुद्धावस्था को स्वभाव गुण पर्याय कहते हैं क्योंकि यह परनिमित्त के बिना स्वत: होती है। जीव के स्वाभाविक गुण अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख व अनंत वीर्य क्योंकि ये सादि अनंत हैं अत: व्यंजन पर्याय हैं। इस प्रकार अनंतचतुष्टय रूप जीव की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है।

कोई शंका करता है कि अनंत चतुष्टय रूप गुण इंद्रिय अगोचर हैं तो उन्हें अर्थ पर्याय क्यों नहीं कहते?

समाधान–यह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ पर्याय प्रतिक्षण नष्ट होती है, जबकि अनंत दर्शनादि गुण सादि-अनंत हैं अतः यह जीव की गुण व्यंजन पर्याय है। णयचक्को में भी कहा है–

णाणं दंसणं सुहं वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं।
तं सुद्धं जाण तुमं, जीवे गुणपज्जयं सव्वं॥25॥

जीव में जो द्रव्य कर्म और भाव कर्म से रहित ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यगुण होते हैं उन्हें तुम जीव की शुद्ध गुण पर्याय जानो।

नियमसार गाथा 15 की टीका में आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारि देव ने स्वभाव पर्याय के दो भेद किए हैं–कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय। सहज शुद्ध नियम से अनादि अनन्त, अमूर्त्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले और शुद्ध ऐसे सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परम वीतराग सुखात्मक शुद्ध अंतस्तत्त्व स्वरूप जो स्वभाव अनंत चतुष्टय स्वरूप है, उसके साथ तन्मयरूप से रहने वाली जो पंचम पारिणामिक भाव रूप परिणति है वह कारण शुद्ध पर्याय है और सादि अनंत, अमूर्त्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले, शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलशक्ति युक्त फल रूप अनंत चतुष्टय के साथ जो परमोत्कृष्ट क्षायिक भाव की शुद्ध परिणति है वही कार्य शुद्ध पर्याय है अर्थात् सहज ज्ञानादि स्वभाव अनंतचतुष्टय युक्त कारण शुद्ध पर्याय में से केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय युक्त कार्यशुद्धपर्याय प्रकट होती है, इसलिए परम पारिणामिकभाव परिणति कारण शुद्ध पर्याय और शुद्ध क्षायिक भाव परिणति कार्य शुद्ध पर्याय है।

जीव की पर्याय

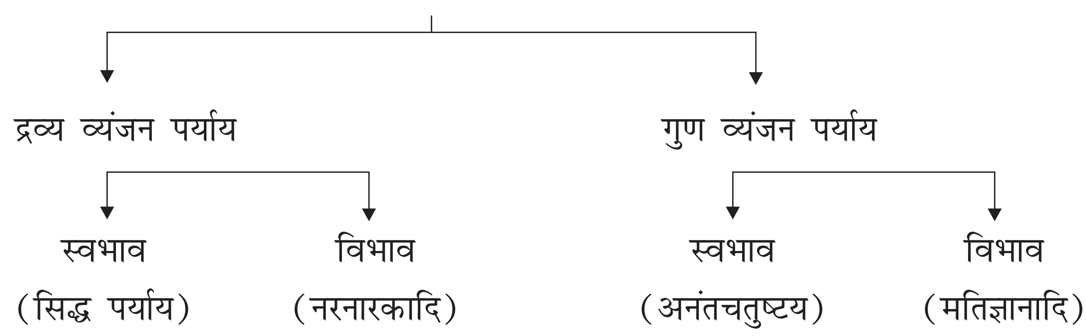

पुद्गल की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय

पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः॥23॥

अर्थ–द्वि-अणुकादि स्कंध पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय है।

विशेषार्थ–पूर्व चार सूत्रों में जीव की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय, विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय व विभाव गुण व्यंजन पर्यायों को समझा। अब चार सूत्रों में पुद्गल की इस प्रकार की चार पर्यायों का कथन करेंगे। यहाँ पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय की विवक्षा है। विभाव अर्थात् स्वभाव नहीं है, द्रव्य अर्थात् किसी एकादि गुण की विवक्षा नहीं है, व्यंजन अर्थात् चिरस्थायी व इंद्रिय-वचन-गोचर। परमाणु पुद्गल का शुद्ध रूप है किन्तु यहाँ अशुद्ध द्रव्य की विवक्षा है अर्थात् द्वि-अणुकादि स्कंध। दो या दो से अधिक परमाणुओं से बने स्कंध की पर्याय अशुद्ध द्रव्य पर्याय है। एक समय से अधिक अर्थात् चिरकाल स्थायी होने से व्यंजन पर्याय है।

आचार्य श्री वीरनंदि स्वामी जी आचारसार में कहते हैं–

द्व्यणुकादिमहास्कंधपर्यन्तानंतपर्ययाः।
परमाणोर्विभावाः स्युर्भेदसंघात संभवाः॥3/15॥

परमाणु की भेद और संघात से उत्पन्न होने वाली द्वि अणु आदि महास्कंध पर्यंत अनंत विभाव पर्यायें होती हैं।

जब दो या दो से अधिक परमाणु बंध को प्राप्त होते हैं तब वह स्कंध कहलाता है। बंध का अर्थ दो वस्तुओं का परस्पर में मिल जाना मात्र नहीं है किन्तु बन्ध वह संबंध विशेष है जिसमें दो वस्तुएँ अपनी वास्तविक दशा को छोड़कर तीसरी दशा में हो जाती हैं। जैसे– हाइड्रोजन के दो व ऑक्सीजन का एक परमाणु मिलकर जल रूप हो जाते हैं जबकि H_2 व (O) अलग-अलग Gases हैं। यदि परमाणुओं का केवल संयोग मात्र माना जाए और बंध विशेष न माना जाए तो उनके संयोग से स्थिर स्थूल वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं। रासायनिक सम्मिश्रण के बिना स्कंध उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए आचार्यों ने परमाणु बंध के स्वरूप का विश्लेषण बहुत सूक्ष्मता से किया। उन्होंने बताया कि स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से ही परमाणुओं का बंध होता है। यद्यपि परमाणु में अनेक गुण रहते हैं किन्तु बंध में कारण स्निग्ध और रूक्षगुण ही हैं। यदि दोनों परमाणुओं के गुणों का अनुपात बन्ध योग्य होता है तो बन्ध होता है अन्यथा नहीं होता। स्निग्ध गुण वाले परमाणुओं का भी बन्ध होता है और रूक्ष

गुण वाले परमाणुओं का भी बन्ध होता है। जिस परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण का भाग जघन्य होता है उसका बन्ध नहीं होता और न समान गुण वालों का ही बन्ध होता है क्योंकि इस प्रकार के गुण वाले परमाणु यद्यपि परस्पर में मिल सकते हैं किन्तु स्कंध उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः दो अधिक गुण वालों का ही परस्पर में बंध हो सकता है। कहा भी है—**'द्वयधिकादिगुणानां तु'** इस प्रकार के बंध से ही स्कंधों की उत्पत्ति होती है।

'णयचक्को' में भी कहा है—

संखासंखाणंता बादरसुहुमा य हुंति ते बंधा।
परिणविदा बहुभेया पुढवीआदीहि णायव्वा॥28॥

संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्तप्रदेशी बादर और सूक्ष्म स्कंध बनते हैं। वे पृथ्वी आदि रूप से परिणत स्कंध अनेक प्रकार के जानने चाहिए। ये स्कंध ही पुद्गल द्रव्य की विभाव पर्याय है।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने नियमसार में स्कंध के छह भेद किए हैं। जिनका कथन इस प्रकार है—

अइथूलथूलथूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं॥21।
भूपव्वदमादीया, भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया॥22।
छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य॥23॥
सुहुमा हवंति खंधा, पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीआ खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंति॥24॥

अति स्थूल स्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म। जो स्कंध छेदा-भेदा जा सके और अन्यत्र ले जाया जा सके उसे अति स्थूल-स्थूल कहते हैं जैसे—पृथ्वी, पर्वत आदि। जिसे छेदा-भेदा तो ना जा सके किन्तु अन्यत्र ले जाया जा सके उसे स्थूल या बादर कहते हैं जैसे—घी, तेल, पानी आदि। जिसे न छेदा-भेदा जा सके और न अन्यत्र ले जाया जा सके उसे स्थूल सूक्ष्म कहते हैं जैसे—धूप, छाया आदि। जो स्कंध नेत्र के सिवाय शेष चार इंद्रियों का विषय हो उसे सूक्ष्मस्थूल कहते हैं। जो स्कंध कर्मवर्गणा के योग्य

होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं और जो स्कंध कर्म वर्गणा के अयोग्य होते हैं उन्हें अतिसूक्ष्म कहते हैं। गोम्मटसार, जीवकांड, द्रव्यसंग्रहादि ग्रंथों में पुद्गल के छठे भेद सूक्ष्म-सूक्ष्म में परमाणु का ग्रहण किया है। अतः परमाणु को छोड़कर अन्य सभी पुद्गल की विभाव पर्याय हैं। प्राकृत नयचक्र में प्ररूपित है–

पुढवी जलं च छाया, चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू।
अइथूलथूलथूला सुहुमं सुहुमं च अइसुहुमं।।31।।

पृथ्वी, जल, छाया, चक्षु के सिवाय शेष चार इंदियों का विषय, कर्म वर्गणा के योग्य स्कंध व कर्म वर्गणा के अयोग्य स्कंध ये पुद्गल की विभाव पर्यायें हैं। इन्हें क्रम से अति स्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म कहते हैं। विशेषता ये है कि यहाँ पुद्गल के 5 भेद ही कहे गए हैं।

इनके अतिरिक्त शब्द, बन्धादि भी पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय हैं। वृहद् द्रव्यसंग्रह में निहित है–

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।16।।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत व आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं अथवा इसी गाथा की टीका में कहा गया है–

'शब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्यायाः ज्ञातव्याः।'

शब्द आदि के अतिरिक्त शास्त्रोक्त अन्य भी जैसे सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव द्रव्य व्यंजन पर्यायें जाननी चाहिये।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय कही गईं अब पुद्गल की विभाव गुण व्यंजन पर्याय के संबंध में जानेंगे।

पुद्गल की विभाव गुण व्यंजन पर्याय

रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः।।24।।

अर्थ–द्वि–अणुक आदि स्कंधों में एक वर्ण से दूसरे वर्ण रूप, एक रस से दूसरे रस रूप, एक गंध से दूसरे गंध रूप व एक स्पर्श से दूसरे स्पर्श रूप होने वाला चिरकाल-स्थायी परिणमन पुद्गल की विभाव गुण व्यंजन पर्याय है।

विशेषार्थ—स्पर्श, रस, गंध व वर्ण ये 4 गुण प्रत्येक पुद्गल द्रव्य में पाए जाते हैं। स्पर्श के रूखा, चिकना, ठंडा, गरम, लघु, गुरु, कठोर व मृदु ये 8 भेद कहे जाते हैं। रस के खट्टा, मीठा, कसायला, चरपरा, कड़वा ये 5 भेद कहे जाते हैं, गंध के सुगंध व दुर्गंध एवं वर्ण के लाल, पीला, शुक्ल, कृष्ण व नीला। पुनः इनके असंख्यात भेद होते हैं।

द्व्यणुकादि स्कंध पुद्गलों की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है और उनमें पाए जाने वाले चिरस्थायी गुणों की विभाव गुण व्यंजन पर्याय है। जब द्रव्य का वैभाविक परिणमन होगा तब द्रव्य के गुणों का भी वैभाविक परिणमन होगा ही। दोनों में से एक का स्वभाविक व दूसरे का वैभाविक परिणमन हो ऐसा संभव नहीं है क्योंकि गुणों का समूह ही द्रव्य कहलाता है।

एक आम जो अभी कच्चा है तब उसका रंग, हरा, स्वाद खट्टा है और जब वह आम पक जाता तब रंग हरे से पीला, रस खट्टे से मीठादि रूप परिणमित हो जाता है। तब वर्ण का वर्णान्तर, रस का रसान्तर आदि रूप परिणमित होना जिस परिणमन, पर्याय का समय एक समय से अधिक है वह विभाव गुण व्यंजन पर्याय है।

पुद्गल का शुद्ध रूप न होने से विभाव है, गुण में परिणमन है अतः गुण पर्याय है व स्थायी है अतः व्यंजन पर्याय है। प्राकृत नय चक्र में भी कहा है—

रूवाइया य उत्ता जे दिट्ठा दुअणुआइखंधम्मि।
ते पुग्गलाण भणिया, विहावगुणपज्जया सव्वे।।33।।

द्व्यणुक आदि स्कंधों मे जो रूपादि गुण देखे जाते हैं वे सब पुद्गलों की विभावगुण पर्याय जानना चाहिए।

आचार्य भगवन् श्री जयसेन स्वामी ने पंचास्तिकाय गाथा 16 की टीका में कहा है—**''पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्व्यणुकादिस्कंधेषु वर्णान्तरादिपरिणमनरूपा, विभावव्यञ्जनपर्यायाश्च पुद्गलस्य द्व्यणुकादिस्कंधेष्वेव चिरकालस्थायिनो ज्ञातव्यः।''**

द्वि-अणुक आदि स्कंधों में वर्ण से वर्णान्तरादि जो (क्षणक्षयी) परिणमन होता है वह पुद्गल की विभाव गुणार्थ पर्याय है और यदि वह परिणमन चिरकाल स्थायी है तो वह विभाव गुण व्यंजन पर्याय जाननी चाहिए।

अतः स्कंधों के 4 गुणों में जो सुचिरकालवर्ती परिणमन है वह विभाव गुण व्यंजन पर्याय है।

पुद्गल की स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय

अविभागिपुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः॥25॥

अर्थ–अविभागी पुद्गल परमाणु पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय है।

विशेषार्थ–पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं। अविभागी अर्थात् जिसका दूसरा भाग नहीं किया जा सकता। वर्तमान में वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन से परमाणु का निर्माण मानते हैं किन्तु परमाणु तो अविभागी मूलकण है। इसका कभी कोई दूसरा भेद नहीं हो सकता। तिलोयपण्णत्ति में आचार्य भगवन् परमाणु को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–

अंतादि-मज्झ-हीणं, अपदेसं इंदिएहिं ण हि गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा॥98॥

जो द्रव्य अन्त, आदि एवं मध्य से विहीन, प्रदेशों से रहित (अर्थात् एकप्रदेशी), इंद्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सके, विभाग रहित है उसे जिनेन्द्र भगवान् परमाणु कहते हैं।

जंबूद्वीप पण्णत्ति में प्ररूपित है–

जस्स ण कोइ अणुदरो, सो अणुओ होदि सव्वदव्वाणं।
जावे परं अणुत्तं, तं परमाणू मुणेयव्वा॥17॥

सब द्रव्यों में जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणुत्तर न हो वह अणु होता है। जिसमें अत्यन्त अणुत्व हो उसे सब द्रव्यों में परमाणु जानना चाहिए।

अथवा आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी पंचास्तिकाय में कहते हैं–

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो, एक्को अविभागी मुत्तिभवो॥84॥

सब स्कंधों का जो अंतिम खंड है अर्थात् जिसका दूसरा खंड नहीं किया जा सके उसे परमाणु जानो। वह परमाणु अविभागी, एक प्रदेशी, शाश्वत, अशब्द व मूर्त्तिक है।

आचार्य भगवन् वीरनंदि स्वामी आचारसार ग्रंथ में लिखते हैं–

अणुञ्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः।
कायञ्च स्कन्धभेदोत्थञ्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः॥3/13॥
विभ्रदेकरसं गन्धं वर्णं शीतचतुष्टये।
स्पर्शे चाबाधकौ स्पर्शावेकदा सर्वदेदृशः॥3/14॥

जिसका दूसरा विभाग नहीं होता, जो प्रचय शक्ति की अपेक्षा कायवान् है, जो स्कंध के भेद से उत्पन्न होता है, जो चतुष्कोण है, अतीन्द्रिय है वह पुद्गल परमाणु है। उस अणु में एक समय में एक साथ एक वर्ण, एक रस, एक गंध और शीत-ऊष्ण, रूक्ष-स्निग्ध इस चतुष्टय में से अबाधित अर्थात् शीत-ऊष्ण में से एक, रूक्ष-स्निग्ध में से एक ऐसे पाँच गुण पाए जाते हैं।

प्रवचनसार में भी निबद्ध है–

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्ता य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणु हवदि॥163॥

पुद्गल परमाणु अप्रदेश है, एक प्रदेश मात्र है, स्वयं अशब्द है, स्निग्धता या रूक्षता के कारण द्विप्रदेशादि स्कंधरूप बंध अवस्था का अनुभव करता है।

परमाणु अप्रदेशी है। वृहद् द्रव्य संग्रह में भी निरूपित है–

एयपदेसो वि अणू, णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥26॥

एक प्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है, इस कारण सर्वज्ञदेव ने पुद्गल परमाणु को उपचार से काय कहा है 'नाणोः' अणु के कोई प्रदेश नहीं होता इस प्रसंग पर आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि परमाणु स्वयं एक प्रदेश मात्र है। जिस प्रकार एक आकाश प्रदेश में प्रदेश भेद न होने से वह अपद्रेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेश रूप है इसलिए उसमें प्रदेश भेद नहीं होता। दूसरे अणु से अल्प परिमाण नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणु से छोटी है। जिससे इसके प्रदेश भेद को प्राप्त होवें।

अतः स्वयमेव आदि और अन्त होने से परमाणु अप्रदेशी है। यदि अणु के भी प्रदेशप्रचय हों तो फिर वह अणु ही नहीं कहा जाएगा किन्तु उसके प्रदेश अणु कहे जायेंगे।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी धवला जी पु. 13 में कहते हैं कि परमाणु निरवयव होता है क्योंकि परमाणु शब्द के वाच्यरूप उसके अवयव पृथक्-पृथक् नहीं पाये जाते। यदि उसके पृथक्-पृथक् अवयव माने जाते हैं तो वह परमाणु नहीं ठहरता क्योंकि जितने भेद होने चाहिए उनके अंत को वह अभी प्राप्त नहीं हुआ है। यदि कहा जाए कि परमाणु के ऊर्ध्व भाग, अधोभाग और मध्यभाग रूप से अवयव बन जाएँगे, सो भी बात नहीं

है क्योंकि इन भागों के अतिरिक्त अवयवी संज्ञा वाले परमाणु का अभाव है। इस प्रकार इस नय के अवलंबन करने पर परमाणु निरवयव है, यह बात सिद्ध होती है।

पुनः कहा परमाणु सावयव होता है क्योंकि यदि परमाणु को सर्वदा निरवयव माना जाए तो स्कंधों की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जब परमाणुओं के अवयव नहीं होंगे तो उनका एक देश स्पर्श नहीं बनेगा और एक देश स्पर्श के बिना सर्व स्पर्श मानना पड़ेगा जिससे स्कन्धों की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उत्पन्न हुए स्कन्धों की उपलब्धि है इसलिए परमाणु सावयव है।

इस प्रकार परमाणु एक और अखण्ड है इसलिए तो वह निरवयव माना गया है और उसमें ऊर्ध्वादिभाग होते हैं इसलिए वह सावयव माना गया है। द्रव्यार्थिक नय अखंड द्रव्य को स्वीकार करता है और पर्यायार्थिकनय उसके भेदों को स्वीकार करता है। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा परमाणु को निरवयव कहा है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सावयव कहा।

यह परमाणु पुद्गल का शुद्ध रूप है। किसी एकादि गुण की विवक्षा न होने से द्रव्य ग्रहण होता है एवं चिरकाल स्थायी होने से व्यंजन पर्याय है। इस प्रकार यह अविभागी परमाणु पुद्गल की स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन पर्याय है।

पुद्गल द्रव्य की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय

वर्णगन्धरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः॥26॥

अर्थ—पुद्गल परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और परस्पर अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं। इन गुणों की जो चिरकाल स्थायी पर्यायें हैं वे स्वभाव-गुण-व्यंजन पर्यायें हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध वर्ण पाया ही जाता है। परमाणु पुद्गल का सबसे सूक्ष्म भेद है। अतः परमाणु में भी स्पर्श, रस, गंध व वर्ण पाया जाता है। तिलोयपण्णत्ति में कहा भी है—

पूरंति गलंति जदो, पूरणगलणेहिं पोग्गला तेण।
परमाणुच्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि॥99॥
वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि।
खंदं पि व कुणमाणा, परमाणू पुग्गला तम्हा॥100॥

क्योंकि स्कन्धों के समान परमाणु भी पूरते हैं और गलते हैं, इसलिए पूरण गलन क्रियाओं के रहने से वे भी पुद्गल के अंतर्गत हैं, ऐसा दृष्टिवाद अंग में निर्दिष्ट है। परमाणु स्कंध की तरह सर्वकाल में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श इन गुणों में पूरण-गलन की क्रिया करते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं।

परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इन चार गुणों की पाँच पर्याय पाई जाती हैं। रस की कोई 1 पर्याय, गंध की कोई 1 पर्याय, वर्ण की कोई 1 पर्याय, स्पर्श की कोई दो पर्याय होती हैं। स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक व ऊष्ण-शीत में से कोई एक। इस प्रकार 5 पर्याय पाई जाती हैं। पंचास्तिकाय में कहा है-

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं, परमाणुं तं वियाणाहि॥88॥

जिसमें एक रस, एक रूप एक गंध और दो स्पर्श गुण होते हैं जो शब्द की उत्पत्ति में कारण तो है किन्तु स्वयं शब्द रूप नहीं है और स्कंध से जुदा है, उसे परमाणु जानो।

आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी तत्त्वार्थ राजवार्तिक में निरूपित करते हैं-परमाणु में एक रस, एक गंध और एक वर्ण है तथा उसमें शीत और ऊष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक, इस तरह दो अविरोधी स्पर्श होते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठिन स्पर्श परमाणु में नहीं पाये जाते, क्योंकि वे स्कंध के विषय हैं।

इस प्रकार शुद्ध पुद्गल द्रव्य परमाणु के इन गुणों में होने वाला चिरकाल स्थायी परिणमन पुद्गल की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय जाननी चाहिए।

पुद्गल की पर्याय

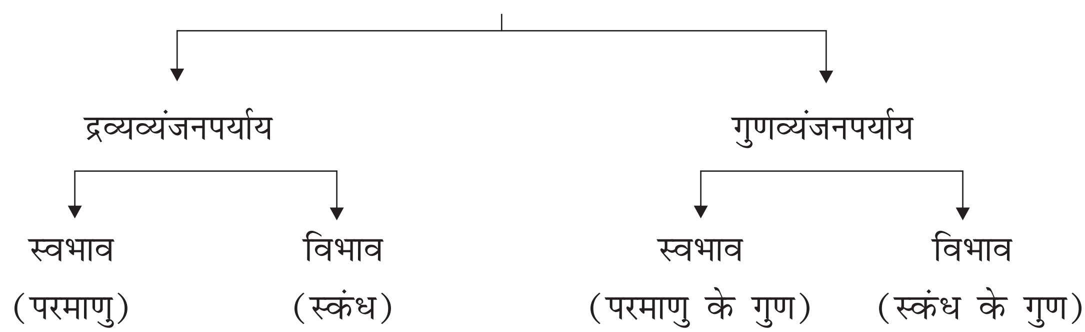

॥इति व्यञ्जन पर्याय॥

अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले॥1॥

अर्थ–अनादि अनंत द्रव्य में अपनी-अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं।

विशेषार्थ–सभी द्रव्य नित्य व शाश्वत हैं, द्रव्य कभी उत्पन्न नहीं होता और ना ही नष्ट होता है। किन्तु हाँ! द्रव्य कभी कूटस्थ नहीं होता उसमें पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती हैं। जैसे आत्मा या जीव द्रव्य। कर्मयुक्त जीव कभी मनुष्य पर्याय धारण करता है तो कभी देव पर्याय धारण करता है। कभी नरक पर्याय धारण करता है तो कभी तिर्यंच पर्याय धारण करता है। पर्यायें तो निरंतर परिणमित हो रही हैं एक पर्याय उत्पन्न होती है एक पर्याय नष्ट होती है जैसे मनुष्य पर्याय नष्ट होती है, देव या अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। किन्तु जीव या आत्मा नष्ट नहीं होती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है क्योंकि यहाँ मात्र द्रव्य दृष्टि है जबकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य है क्योंकि यहाँ पर्यायदृष्टि है। श्री जयधवला जी पु. 1 में कहा भी है–

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं॥

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे सदा अविनष्ट और अनुत्पन्न स्वभाव वाले हैं।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल छहों ही द्रव्य नित्य व अनित्य दोनों हैं और इसका स्पष्टीकरण नयों के माध्यम से या सापेक्ष कथन से ही संभव है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। यदि एक भी अपेक्षा या नय का अभाव कर दिया जाए तो वस्तु के सम्यक् स्वरूप को नहीं जाना जा सकेगा। वस्तु स्वरूप की सिद्धि द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दोनों नयों के अवलंबन से ही हो सकती है। कहा भी है–

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स।
सासययवियत्तिवायी जम्हा उच्छेदवादीया॥ (ज.ध. 1)

द्रव्यार्थिक नय के पक्ष में संसार नहीं बन सकता है। उसी प्रकार सर्वथा पर्यायार्थिक नय के पक्ष में भी संसार नहीं बन सकता है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय नित्यव्यक्तिवादी है और पर्यायार्थिक नय उच्छेदवादी है।

प्रवचनसार की तत्त्व प्रबोधिनी टीका में भी कहा है वस्तुतः सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक होने से, वस्तु का स्वरूप देखने वालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जानने वाली दो आँखें हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके, जब केवल द्रव्यार्थिक (निश्चय) चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब 'वह सब जीव द्रव्य हैं' ऐसा भासित होता है और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके केवल पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब वह जीव द्रव्य (नारक, तिर्यक् आदि रूप) अन्य अन्य प्रतिभासित होता है और जब उन दोनों आँखों को एक साथ खोलकर देखा जाता है तब जीव सामान्य व उसमें व्यवस्थित (नारक, तिर्यक् आदि) विशेष भी तुल्यकाल में ही दिखाई देता है। वहाँ एक आँख से देखना एकदेशावलोकन है और दोनों आँखों से देखना सर्वावलोकन है।

द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य अनादिनिधन है, वह न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने पंचास्तिकाय में कहा है–

'उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।।

तथापि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं व नष्ट होती हैं। द्रव्य के बिना पर्याय का और पर्याय के बिना द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् पर्याय से रहित कोई द्रव्य नहीं होता और द्रव्य नहीं हो तो पर्याय कहाँ होंगी, नहीं हो सकतीं। आचार्य महाराज ने कथन के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण दिया जैसे–जल व लहरें। जल के बिना लहरें और लहरों (तरंग, हलचल) के बिना जल संभव नहीं है। जल में लहरें उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं। किन्तु लहरों के उत्पन्न होने से जल उत्पन्न नहीं होता और नष्ट होने से वह नष्ट नहीं होता। जल में लहरों के समान अनादिनिधन द्रव्य में पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न व नष्ट होती हैं। कुछ द्रव्यों की कुछ पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं और कुछ दृष्टि के अगोचर। कुछ पर्यायें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व कुछ केवलज्ञान का विषय हैं किन्तु प्रत्येक द्रव्य में पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न व नष्ट होती हैं।

धर्माधर्मनभः काला, अर्थपर्यायगोचराः।
व्यञ्जनेन तु सम्बद्धौ, द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ।।2।।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यंजन पर्यायें भी होती हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये सभी द्रव्य पर्याय से युक्त होते हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये चारों द्रव्य शाश्वत शुद्ध होते हैं। ये ना तो कभी अशुद्ध थे, ना हैं और ना ही होंगे। शुद्ध द्रव्यों की शुद्ध पर्यायें ही होती हैं। शुद्ध द्रव्य में होने वाला परिणमन जो सूक्ष्म, प्रतिक्षणध्वंसी, वचनागोचर है वह अर्थ पर्याय जाननी चाहिए। शुद्ध द्रव्यों में अगुरुलघु गुण के कारण प्रतिक्षण षट्हानि-वृद्धि रूप अर्थपर्याय होती रहती हैं। शुद्ध द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है, व्यंजन पर्याय नहीं होती क्योंकि ये व्यंजन पर्याय स्थूल, मूर्त्तिक व बंध के संबंध से होने वाली क्रियानिमित्तक पर्यायें हैं। ये धर्म, अधर्म, आकाश व काल अनादिनिधन शुद्ध द्रव्य हैं इनमें मात्र अर्थपर्यायें ही होती हैं क्योंकि इनका परिणमन देखने में नहीं आता।

सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनंदि स्वामी ने वसुनंदि श्रावकाचार में निरूपित किया है–

परिणामजुदो जीवो गइगमणुवलंभओ असंदेहो।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं।।26।।
वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा।
अत्थ परिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था।।27।।

जीव परिणाम युक्त अर्थात् परिणामी है, क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियों में निःसंदेह गमन पाया जाता है इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायों के परिणमन देखे जाने से पुद्गल को परिणामी जानना चाहिए। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य व्यंजनपर्याय के अभाव में यद्यपि अपरिणामी कहलाते हैं तथापि अर्थ पर्याय की अपेक्षा ये द्रव्य परिणामी हैं क्योंकि अर्थ पर्याय सभी द्रव्यों में होती है।

जीव व पुद्गल ये दोनों द्रव्य शुद्ध व अशुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। पुद्गल के संबंध से जीव स्वभाव से च्युत हुआ विभाव में परिणमन करता है। जीव की अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायें होती हैं क्योंकि स्वभाव में स्वभाव रूप और विभाव में विभाव रूप अर्थ पर्यायें ही होती हैं। जीव की नर, नारकादि पर्याय व्यंजन पर्याय हैं अथवा जीव की जो भी पर्याय दृष्टिगोचर, स्थूल, चिरकालीन स्थायी हैं वह सब व्यंजन पर्याय हैं एवं जीव की कषायादि, विभाव अर्थ पर्याय हैं। किन्तु जब वही जीव कर्मों से निर्मुक्त हो जाता है, स्वभाव अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब उन शुद्ध, सिद्धों में मात्र अर्थपर्यायें ही होती हैं क्योंकि अब वहाँ

बंध के संबंध का अभाव होने से व्यंजन पर्याय का अभाव होता है और अगुरुलघुगुण में षट्गुण हानि-वृद्धि रूप अर्थपर्याय होती हैं।

इसी प्रकार पुद्गल में समझना चाहिए। बंध को प्राप्त होने से इनमें क्रियानिमित्तक पर्यायें या व्यंजन पर्यायें होती हैं। इस प्रकार जीव व पुद्गल में ही व्यंजन पर्यायें होती हैं।

स्वभावाधिकार

द्रव्य का लक्षण

गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।।27।।

अर्थ–गुण-पर्याय वाला द्रव्य है।

विशेषार्थ–गुण और पर्याय से युक्त द्रव्य होता है। पर्याय उत्पादव्ययशील होती हैं और गुण ध्रौव्य होते हैं। इस प्रकार द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है। गुण और पर्याय से भिन्न द्रव्य नहीं होता और द्रव्य से भिन्न गुण व पर्याय नहीं होते। 'णयचक्को' में कहा भी है–

गुणपज्जयदो दव्वं दव्वादो ण गुणपज्जया भिण्णा।
जम्हा तम्हा भणियं दव्वं गुणपज्जयमणण्णं।।41।।

गुण-पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं हैं और द्रव्य, गुण-पर्याय से पृथक् कुछ भी नहीं है इसलिए द्रव्य को गुण व पर्यायों से अभिन्न कहा है।

दर्शन, ज्ञानादि से रहित जीव नहीं है और जीव से अलग ज्ञान नहीं है। स्पर्श, रस, गंधादि से रहित पुद्गल नहीं है और पुद्गल से पृथक् स्पर्श, रसादि कुछ भी नहीं है। गुणों से पृथक् द्रव्य नहीं है और द्रव्य से पृथक् गुण नहीं होते। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी पंचास्तिकाय में प्ररूपित करते हैं–

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।।13।।

द्रव्य बिना गुण नहीं होते, गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता, इसलिए द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव अर्थात् अभिन्नपना है।

जिस प्रकार दूध, दही, घी, मक्खन इत्यादि से रहित गोरस नहीं होता उसी प्रकार पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता; जिस प्रकार गोरस से रहित दूध, दही, घी, मक्खन इत्यादि नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होती। पंचास्तिकाय में उल्लिखित है–

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति॥12॥

पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होती। दोनों का अनन्य भाव श्रमण प्ररूपित करते हैं।

पूर्व में आचार्य महाराज द्रव्य का लक्षण सत् व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कह चुके हैं किन्तु यहाँ और अधिक स्पष्टीकरण के लिए कहा कि गुणपर्यायवान् द्रव्य है। 'मतुप्' प्रत्यय का सूत्र में प्रयोग किया गया है। जैसे गुण अलग है और गुणवान् अलग है, धन अलग है धनवान् अलग है। किंतु धन से रहित धनवान् नहीं होता, गुण से रहित गुणवान् नहीं होता। मूलभूत तत्त्व भिन्न है आरोपण किया हुआ भिन्न है।

द्रव्य में गुण आत्मभूत लक्षण के समान हैं और नाना पर्यायों की अपेक्षा अर्थात् द्रव्य में कोई न कोई पर्याय प्रति समय होगी ही, इस अपेक्षा से यह आत्मभूत लक्षण है और एक पर्याय की अपेक्षा पर्याय-द्रव्य का अनात्मभूत लक्षण है। गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी होती हैं। गुण व पर्याय से युक्त द्रव्य होता है। ध्रौव्य मात्र द्रव्य नहीं होता। मात्र गुण या पर्याय भी द्रव्य नहीं होता। समूचे गुण, पर्यायों का समूह द्रव्य कहलाता है। गुण व गुणी की पर्याय अविनाभावी होती है वह एक-दूसरे से अलग नहीं होती। व्यवहार में जानने के लिए गुण-गुणी, स्वभाव-स्वभावी में भेद है। जैसे जीव का ज्ञान गुण, उस ज्ञान गुण से युक्त जीव अर्थात् ज्ञायक। इनमें आने वाली पर्याय इनसे पृथक् नहीं होती। उक्तं च-

गुण इदि दव्वविहाण दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो।
तेहि अणूण दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं॥

द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को विशेष गुण और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। द्रव्य इन दोनों से युक्त होता है तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है अर्थात् द्रव्य-गुण व पर्याय से अभिन्न होता है।

द्रव्यों के सामान्य व विशेष स्वभावों का कथन

स्वभावाः कथ्यन्ते-अस्तिस्वभावः नास्तिस्वभावः नित्यस्वभावः अनित्यस्वभावः एकस्वभावः अनेकस्वभावः भेदस्वभावः अभेदस्वभावः भव्यस्वभावः अभव्यस्वभावः परमस्वभावः एते द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावाः, चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः

मूर्त्तस्वभावः अमूर्त्तस्वभावः, एकप्रदेशस्वभावः अनेकप्रदेशस्वभावः विभावस्वभावः शुद्धस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां दशविशेषस्वभावाः॥28॥

स्वभावों का कथन किया जाता है–1. अस्तिस्वभाव 2. नास्तिस्वभाव 3. नित्यस्वभाव 4. अनित्यस्वभाव 5 एकस्वभाव 6. अनेकस्वभाव 7. भेदस्वभाव 8. अभेदस्वभाव, 9. भव्यस्वभाव 10. अभव्यस्वभाव 11. परमस्वभाव ये ग्यारह, द्रव्यों के सामान्य स्वभाव हैं। 1. चेतनस्वभाव 2. अचेतनस्वभाव 3. मूर्त्तस्वभाव 4. अमूर्त्तस्वभाव 5. एकप्रदेशस्वभाव 6. अनेकप्रदेशस्वभाव 7. विभावस्वभाव 8. शुद्ध स्वभाव 9. अशुद्ध स्वभाव 10. उपचरित स्वभाव ये दश, द्रव्यों के विशेष स्वभाव हैं।

स्व अर्थात् अपने असाधारण धर्म के द्वारा होना सो स्वभाव कहा जाता है। द्रव्यों का स्वरूप ही उनका स्वभाव है अथवा द्रव्य का आभ्यंतर भाव स्वभाव कहलाता है। धवला पु. 7 में कहा–**'को सहावो णाम? अब्भंतरभावो'** आभ्यंतर भाव को स्वभाव कहते हैं। वस्तु की जो शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती वे स्वभाव कहलाती हैं। न्यायविनिश्चय ग्रंथ की टीका से उद्‌धृत भी है–**'अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः'** दूसरे पदार्थ की अपेक्षा न होने से वह स्वभाव कहा गया है। गुण के समान स्वभाव भी दो प्रकार के होते हैं–सामान्य व विशेष। जो स्वभाव छहों द्रव्यों में पाए जाते हैं वे सामान्य स्वभाव कहलाते हैं एवं जो स्वभाव सबमें समान रूप से न पाए जाकर किन्हीं-किन्हीं द्रव्यों में पाए जाते हैं वे विशेष स्वभाव कहलाते हैं। यहाँ गुणाधिकार का कथन करने के पश्चात् स्वभावाधिकार का कथन किया गया क्योंकि स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा परस्पर गुण तो स्वभाव होते हैं किन्तु धर्मों की अपेक्षा स्वभाव गुण नहीं होते। गुण और गुणी अपनी-अपनी पर्याय से परिणमन करते हैं। जो परिणति अर्थात् पर्याय है वह ही स्वभाव है। गुण और स्वभाव में यह विशेषता है। इसलिए स्वभाव का अधिकार पृथक् कहा गया है।

यहाँ द्रव्य के अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परम स्वभाव ये 11 सामान्य स्वभाव कहे गए हैं। णयचक्को में भी निरूपित है–

अत्थि त्ति णत्थि णिच्चं अणिच्चमेगं अणेग भेदिदरं।
भव्वाभव्वं परमं सामण्णं सव्वदव्वाणं॥58॥

अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परमभाव ये 11 सामान्य स्वभाव हैं जो सब द्रव्यों में पाए जाते हैं।

अस्ति व नास्ति स्वभाव–लोक में जितने भी द्रव्य हैं सभी सत् रूप हैं। **'सद् द्रव्यलक्षणम्'।** ये सभी द्रव्य स्वचतुष्टय, स्वस्वरूप की अपेक्षा अस्ति वा सत् रूप हैं किन्तु ये सभी द्रव्य परस्वरूप वा परद्रव्यादि/पर चतुष्टय की अपेक्षा से असत् रूप हैं, नास्ति हैं। एक ही वस्तु है भी और नहीं भी। जैसे पैन, पैन रूप है किन्तु नोटबुक रूप नहीं है। इसी प्रकार सभी द्रव्य, पदार्थ स्वरूप से सत् हैं और पररूप से असत् हैं। सभी पदार्थ अस्ति स्वरूप वाले भी हैं और नास्ति–स्वरूप वाले भी हैं। ये दोनों पदार्थ मिलकर वस्तु की प्रतिनियत सत्ता को कायम रखे हुए हैं। यदि द्रव्य का अस्ति स्वभाव न माना जाए अर्थात् स्वस्वरूप की अपेक्षा सद्भाव न माना जाए तो वह आकाश में पुष्प के समान असत् हो जाएगा और यदि नास्ति स्वभाव न माना जाए अर्थात् परस्वरूप की अपेक्षा असत् न माना जाए तो एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अभाव न होने से वे मिलकर एक हो जायेंगे। अतः द्रव्य स्यात् अस्ति है व स्यात् नास्ति है।

स्यादस्ति। स्यात् केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? स्वस्वरूपेणास्तित्वमिति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा स्वस्वरूपेणास्तित्वं तथा पररूपेणाप्यस्तित्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यान्नास्तीति पररूपेणैव कुर्यात् स्यादस्तित्वाददोषतास्य फलं चास्यानेकस्वभावाधारत्वं नास्तिस्वभावस्य तु संकरादिदोषरहितत्वं।

स्यात्–किसी अभिप्राय से द्रव्य अस्तिरूप है, सद्भाव रूप है। वह अभिप्राय क्या है? स्वस्वरूप से वह है, यह अभिप्राय है। फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार स्वस्वरूप से है उसी प्रकार परस्वरूप से भी है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् परस्वरूप से नहीं है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। कथंचित् अस्तित्व होने से दोष नहीं है। इसका फल अनेक स्वभाव–आधारत्वपना है। इतना विशेष है कि नास्तिस्वभाव के संकरादि दोष रहितपना है।

नित्य व अनित्य स्वभाव–लोक में जितने भी द्रव्य हैं वे सभी नित्य हैं उनका कभी विनाश नहीं होता। गुण ध्रौव्यात्मक होते हैं, गुणों के ध्रौव्यपना होने से द्रव्य में ध्रौव्यपना होता है। पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता किन्तु प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन वा परिणमन होता रहता है, पर्याय निरंतर बदलती रहती हैं। पर्यायें नष्ट होती रहती हैं व उत्पन्न होती रहती हैं अतः पर्यायों की अपेक्षा द्रव्य अनित्य है। जैसे–जीव ने मनुष्य पर्याय धारण की पुनः मनुष्य पर्याय नष्ट होकर देव पर्याय प्राप्त हुई। मनुष्य पर्याय का नाश हुआ व देव पर्याय उत्पन्न हुई

इस अपेक्षा से जीव अनित्य है किन्तु जीव अर्थात् आत्मा न कभी नष्ट हुई थी, न हुई है और न होगी इस अपेक्षा से द्रव्य नित्य है।

तत्त्वार्थ सूत्र के 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा कि जिस रूप से वस्तु को पहले देखा था, उसी रूप में देखने पर 'यह वही है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। यदि पूर्वदृष्ट रूप से वर्तमान रूप में अत्यंत विरोध हो या उसके स्थान में नयी ही वस्तु उत्पन्न हो गयी हो तो 'वह यही है' इस प्रकार का स्मरण नहीं हो सकता और उसके न होने से जितना लोकव्यवहार है वह सब गड़बड़ा जाएगा। इसलिए प्रत्यभिज्ञान में कारण जो एकरूपता है उसका नष्ट न होना ही नित्यता है किंतु सर्वथा नित्य तो कुछ भी नहीं है। इसी से पदार्थ नित्य स्वभाव भी है और प्रतिक्षण में बदलने वाली पर्याय की दृष्टि से अनित्य स्वभाव है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य व पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। स्यात् नित्य व स्यात् अनित्य है।

स्यान्नित्य। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? द्रव्यरूपेण नित्यमिति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेणानित्यत्व-माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनित्य इति पर्यायरूपेणैव कुर्यात्। स्यान्नित्यत्वाद-दोषतास्यफलं चास्य चिरकालावस्थायित्वं। अनित्यस्वभावस्य तु कर्मादान-विमोचनादिकस्वहेतुभिः।

स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से द्रव्य नित्य है। वह अभिप्राय क्या है? द्रव्य रूप से नित्य है, यह अभिप्राय है। फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार द्रव्य रूप से नित्य है उसी प्रकार पर्याय रूप से भी नित्य है इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् पर्याय रूप से अनित्य है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होने से नित्यता के निर्दोषता है। इसका फल चिरकाल तक स्थायीपना है। किंतु अनित्य स्वभाव से तो कर्म ग्रहण व मोचन निज हेतुओं के द्वारा होते हैं।

एक व अनेक स्वभाव–द्रव्य में अनेक स्वभाव होते हैं किन्तु वे स्वभाव कभी भी उस द्रव्य से पृथक् नहीं होते। अतः जहाँ स्वभावों के अनेक होने से प्रत्येक द्रव्य अनेक स्वभाव वाला है, वहाँ स्वभावों के अखण्ड एक रूप होने से प्रत्येक द्रव्य एक स्वभाव वाला है। अर्थात् वे अनेक स्वभाव उस द्रव्य की एकरूपता और अखंडता में बाधक नहीं हैं बल्कि द्रव्य की एकता और अखण्डता के कारण वे अनेक स्वभाव भी एक रूप और अखण्ड हो रहे हैं अतः द्रव्य एक स्वभाव है।

एकत्व की अपेक्षा से द्रव्य में अखंडपना है। अखंडपना होने से द्रव्य के गुण पृथक्-पृथक् बिखरते नहीं हैं। उन गुणों की अनेक पर्याय होती हैं। गुणों में प्रतिक्षण परिणमन होने से अनेक पर्याय होती हैं और अनेक पर्यायों से अनेक स्वभाव रूप द्रव्य होता है। द्रव्य स्यात् एक स्वभाव वाला है, स्यात् अनेक स्वभाव वाला है।

स्यादेक। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? सामान्यरूपेणैकत्वमिति तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा सामान्यरूपेणैकत्वं तथा विशेषरूपेणाप्येकत्व-माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनेक इति विशेषरूपेणैव कुर्यात्। स्यादेकत्वाददोषतास्य फलं चास्य सामान्यत्वसमर्थः। अनेकस्वभावस्य त्वनेकस्वभावभावदर्शकत्वं।

स्यात् द्रव्य के एकपना है। स्यात् अर्थात् किसी अभिप्राय से। वह अभिप्राय क्या है? सामान्य रूप से द्रव्य के एकपना है, यह अभिप्राय है। फिर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार सामान्य रूप से द्रव्य के एकपना है, उसी प्रकार विशेष रूप से द्रव्य के अनेकपना है, इस प्रकार की आपत्ति का निवारण करना स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् विशेषरूप से अनेकपना है, इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए। स्यात् या कथंचित् का प्रयोग होने से एकत्व के निर्दोषता है। इसका फल सामान्यपने में समर्थ है। अनेकस्वभाव से तो अनेकपना है।

भेद व अभेद स्वभाव—वचन भेद से द्रव्य में भेद दिखाई देता है। प्रत्येक द्रव्य में विभिन्न गुण हैं, स्वभाव हैं जैसे पुद्गल स्पर्श, गंधादि गुणों से युक्त होता है तथा वह अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्यादि स्वभाव वाला है। इस प्रकार कथन करने से द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। अतः वचनभेद से प्रत्येक द्रव्य भेद स्वभाव वाला है किन्तु वास्तव में उस द्रव्य के अंदर कोई भेद नहीं है क्योंकि गुणादि द्रव्य से पृथक् कुछ भी नहीं है। द्रव्य तो एक अखण्ड वस्तु रूप है। अतः प्रत्येक द्रव्य अभेद सत्ता वाला होने से अभेद स्वभाव वाला है। द्रव्य स्यात् भेद स्वभाव वाला व स्यात् अभेद स्वभाव वाला है।

स्याद्भेदः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? सद्भूत-व्यवहारेण भेद इति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा सद्भूतव्यवहारेण भेदस्तथा द्रव्यार्थिकेनापि माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात्। स्याद्भेदत्वाददोषतास्य फलं चास्य व्यवहारसिद्धिः। अभेदस्वभावस्य तु परमार्थसिद्धिः।

कथंचित् भेद है। किसी अभिप्राय से अर्थात् सद्भूत व्यवहार से भेद है। स्यात् शब्द से

यहाँ क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार सद्भूतव्यवहार नय से भेद है उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय से भेद न हो, यह स्यात् पद का प्रयोजन है। कथंचित् अभेद है, यह प्रयोग द्रव्यार्थिक नय से करना चाहिए। कथंचित् का प्रयोग होने से भेदपना के निर्दोषता है और इसका फल व्यवहार की सिद्धि है किंतु अभेद स्वभाव से परमार्थ की सिद्धि होती है।

भव्य व अभव्य स्वभाव–जहाँ जीव के औपशमिकादि 5 भावों की चर्चा की गई वहाँ जीव के पारिणामिक भाव के अन्तर्गत भव्यत्व व अभव्यत्व का ग्रहण किया है। जो सम्यक्त्वादि ग्रहण करने के योग्य है वह भव्य और जो इनके अयोग्य है वह अभव्य कहलाता है। किन्तु यहाँ उनकी विवक्षा नहीं है। 'भव्य' शब्द का अर्थ होता है–होने के योग्य और 'अभव्य' का अर्थ होता है–नहीं होने के योग्य। प्रत्येक द्रव्य के होने की मर्यादा है। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी मर्यादा में ही होता है, उससे बाहर नहीं। चेतन द्रव्य चेतन रूप से ही होने के योग्य है, उसी अनुरूप परिणमन के योग्य है अचेतन रूप से नहीं। अचेतन द्रव्य अचेतन रूप से होने के योग्य है, चेतन रूप से नहीं। कोई भी द्रव्य पर द्रव्य रूप परिणमित नहीं हो सकता।

जैसे कोई जीव जिसने मनुष्य पर्याय धारण की वह बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्धादि रूप हो सकता है किन्तु वह (आत्मा) मनुष्य पैन, तख्त, मेज आदि रूप परिणमित नहीं हो सकता। जिस रूप वह द्रव्य परिणमित हो सकता है वह भव्य स्वभाव है और मनुष्य पैनादि रूप परिणमित नहीं हो सकता वह अभव्य स्वभाव है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य का भव्य स्वभाव भी है और अभव्यस्वभाव भी है, स्यात् भव्य है और स्यात् अभव्य है।

स्याद्भव्यः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? स्वकीयस्वरूपेण भवनादिनि। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा स्वकीयरूपेण भवनं तथा पररूपेण भवनमाभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादभव्य इति पररूपेणैव कुर्यात्। स्याद्भव्यत्वाददोषतास्य फलं चास्य स्वपर्यायपारिणामित्वं। अभव्यस्य तु परपर्यायत्यागित्वं।

कथंचित् भव्य है। किसी अभिप्राय से अर्थात् स्वकीय स्वरूप से परिणमन हो सकने से भव्यस्वरूप है। स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार स्वकीय स्वरूप से परिणमन हो सकता है वैसे परकीय रूप से परिणमन न हो सके यह यहाँ पर स्यात् शब्द से प्रयोजन है। कथंचित् अभव्य है, यह कथन 'पररूप से परिणमन नहीं होने से' ही करना चाहिए। कथंचित्

अभव्यता मानने से इसमें दोष नहीं है और इसका फल स्वकीय रूप से परिणत होना है किन्तु अभव्यता का फल परपर्याय रूप से परिणमन का त्यागपना है।

परमस्वभाव–प्रत्येक द्रव्य में एक पारिमाणिक या स्वाभाविक परमस्वभाव होता है जो कि उनका मूलभूत स्वभाव होता है। द्रव्य स्यात् परम स्वभावरूप है।

स्यात्परमः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? पारिणामिकस्वभावत्वेनेति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा पारिणामिकस्वभावप्रधानत्वेन परमस्वभावत्वं तथा कर्मजस्वभावप्रधानत्वेन माभूदिति स्याच्छब्दः। स्याद्विभाव इति कर्मजरूपेणैव कुर्यात्। स्यात्परमत्वाददोषतास्य फलं चास्य स्वभावादचलिता वृत्तिः। विभावस्य तु स्वभावे विकृतिः।

कथंचित् परमस्वभावरूप है। किसी अभिप्राय से अर्थात् पारिणामिक भाव से परमस्वभाव रूप है। स्यात् शब्द से यहाँ क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार पारिणामिक भाव से परमस्वरूप है उसी प्रकार कर्मजनित भाव से परम स्वभाव न हो। कथंचित् विभावरूप है, यह कर्मजभाव से होता है। कथंचित् परमस्वभाव होने से दोष नहीं है, इसका फल स्वभाव से अचलित रूप वृत्ति है। किन्तु विभाव का फल स्वभाव में विकृति है।

ये 11 स्वभाव सभी द्रव्यों के सामान्य स्वभाव हैं अर्थात् सभी द्रव्यों में पाए जाते हैं। अब 10 विशेष स्वभावों को कहते हैं सभी द्रव्यों में नहीं पाए जाने के कारण ये विशेष स्वभाव कहलाते हैं।

चेतन व अचेतन स्वभाव–जो जानता व देखता है वह चेतन है। जिसमें जानने व देखने की शक्ति नहीं है वह अचेतन है। जानने, देखने या अनुभव करने रूप भाव चेतनभाव कहलाता है और जहाँ जानने–देखने या अनुभव करने रूप भाव विद्यमान नहीं है वह अचेतनभाव है।

स्याच्चेतनः। स्यात्केनचिदपि। कोसावभिप्रायो? चेतनस्वभावप्रधानत्वेनेति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा स्वभावप्रधानत्वेन चेतनत्वं तथाऽचेतनस्वभावेनापि चेतनत्व माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादचेतन इति व्यवहारेणैव कुर्यात्। स्याच्चेतनत्वाददोषतास्य फलं चास्य कर्मादानहानिर्वा। अचेतनस्वभावस्य तु कर्मादानमेव।

जीव कथंचित् चेतन है। किसी अभिप्राय से अर्थात् चेतनस्वभाव की प्रधानता से चेतन है। यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार चेतन स्वभाव की प्रधानता से चेतनत्व है,

वैसे अचेतनत्व की अपेक्षा न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अचेतन है, यह व्यवहार से कहना चाहिए। कथंचित् चेतनपना होने से इसके दोष नहीं है, इसका फल कर्म की हानि है। किन्तु अचेतन स्वभाव के मानने का फल कर्म का ग्रहण ही है।

मूर्त्त व अमूर्त्त स्वभाव–जिसमें स्पर्श, रस, गंध व वर्ण पाए जाते हैं वह मूर्त्तिक कहलाता है इसका भाव मूर्त्तिक स्वभाव जानना चाहिए। जिसमें स्पर्श, रसादि गुण नहीं पाए जाते वह अमूर्त्तिक है व इसका भाव अमूर्त्तिक स्वभाव कहलाता है।

स्यान्मूर्त्तः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? असद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तं इति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथाऽसद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तत्वं तथा परमभावेन मूर्त्तत्वमाभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादमूर्त्त इति परमभावेनैव कुर्यात्। स्यान्मूर्त्तत्वाद-दोषतास्य फलं चास्य कर्मबन्धः। अमूर्त्तस्य तु स्वभावापरित्यागित्वं।

जीव कथंचित् मूर्त्त है। किसी अभिप्राय से अर्थात् असद्भूत व्यवहार नय से मूर्त्त है। यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार असद्भूत-व्यवहार नय से मूर्त्त है वैसे परमभाव से मूर्त्त न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अमूर्त्त है यह परमभाव से कहना चाहिए। कथंचित् मूर्त्त होने से इसके दोष नहीं है, इसका फल कर्मबंध है। किन्तु अमूर्त्त मानने का फल स्वभाव का अपरित्याग है।

एकप्रदेश व अनेकप्रदेश स्वभाव–पुद्गल का एक परमाणु जितने क्षेत्र को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इसके अनुसार जिस द्रव्य की जैसी अवगाहना होती है, तदनुसार उसका एकप्रदेशित्व या बहुप्रदेशित्व स्वभाव होता है।

स्यादेकप्रदेशः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायो? भेदकल्पनानिरपेक्षेणेति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकप्रदेशत्वं तथा व्यवहारणाप्येकप्रदेशत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनेकप्रदेश इति व्यवहारेणैव कुर्यात्। स्यादेकप्रदेशत्वाददोष-तास्य फलं चास्य निश्चयादेकत्व-समर्थनं। अनेकप्रदेशस्य तु अनेककार्यकारित्व।

कथंचित् एकप्रदेशी है। किसी अभिप्राय से अर्थात् भेदकल्पना-निरपेक्ष अभिप्राय से एकप्रदेशी है। यहाँ स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जैसे भेद कल्पना-निरपेक्षता से एक प्रदेशपना है उसी प्रकार व्यवहार से एक प्रदेशपना न हो, यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अनेक प्रदेशी है ऐसा व्यवहार नय से ही मानना चाहिए। कथंचित् एकप्रदेशपना होने से दोष नहीं है और इसका फल निश्चय से एकपने का समर्थन है। किन्तु अनेकप्रदेशत्व का फल अनेकक्रियाकारित्व है।

विभाव स्वभाव—एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के संयोग से अन्य भाव रूप परिणमन करने का नाम विभाव है। इस प्रकार का स्वभाव विभाव स्वभाव है। जीव व पुद्‌गल द्रव्य का विभाव में रहना विभाव स्वभाव है।

शुद्ध व अशुद्ध स्वभाव—कर्मों के क्षय से प्रकट हुए स्वभाव को शुद्ध स्वभाव कहते हैं और कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए भाव को अशुद्ध स्वभाव कहते हैं। जीव और पुद्‌गल का पारस्परिक संयोग होने पर जीव संसार में परिभ्रमण करता है। पुद्‌गल का शुद्ध रूप परमाणु है किन्तु परमाणु कभी स्कंध रूप ग्रहण कर अशुद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। जीव अशुद्ध से शुद्धावस्था में पहुँचने के पश्चात् पुनः कभी अशुद्धावस्था को प्राप्त नहीं करता। पुद्‌गल शुद्ध से अशुद्ध व अशुद्ध से शुद्ध होता रहता है। धर्मादि अन्य द्रव्य अशुद्धावस्था को प्राप्त नहीं करते। अशुद्धावस्था न होने से ये अशुद्ध स्वभाव से युक्त नहीं होते।

स्याच्छुद्धः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? केवलस्वभाव-प्रधानत्वेनेति। तर्हि स्याच्छब्देन किं। यथा केवलस्वभावप्रधानत्वेन शुद्धस्वभावत्वं तथा मिश्रस्वभावप्रधानत्वेन शुद्धत्वमाभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादशुद्ध इति मिश्रभावेनैव कुर्यात्। शुद्धत्वाददोषता तस्य फलं चास्य स्वभावावाप्तिः। अशुद्धस्वभावस्य तु तद्विपरीता।

कथंचित् शुद्ध है। किसी अभिप्राय से अर्थात् केवल स्वभाव की प्रधानता से शुद्ध स्वभाव है। स्यात् शब्द से यहाँ क्या प्रयोजन है? जैसे केवल स्वभावपने से शुद्धता है वैसे मिश्र स्वभावपने से शुद्धता न हो इसलिये स्यात् शब्द है। कथंचित् अशुद्ध है, ऐसा प्रयोग मिश्रस्वभाव से ही करना चाहिये। कथंचित शुद्धपना होने से इसके निर्दोषता है और इसका फल स्वभाव की प्राप्ति है, किन्तु अशुद्ध स्वभाव का फल स्वभाव की प्राप्ति नहीं है।

उपचरित स्वभाव—व्यवहार नय से जो द्रव्य का स्वभाव होता है उसे उपचरित कहा जाता है। स्वभाव का अन्यत्र उपचार करना उपचरित स्वभाव है जैसे मार्जार (बिलाव) को सिंह कहना। वह उपचरित स्वभाव कर्मज व स्वाभाविक के भेद से दो प्रकार का कहा जाता है।

स्यादुपचरितः। स्यात्केनचिदभिप्रायेण। कोसावभिप्रायः? स्वभावस्याप्यन्यत्रो-पचारादिति। तर्हि स्याच्छब्देन किं? यथा स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरित-स्वभावत्वं तथानुपचारेणप्युपचारत्वमाभूदिति स्याच्छब्दः। स्यादनुपचरित इति निश्चयादेव कुर्यात्।

स्यादुपचरितादददोषता तस्य फलं चास्य परज्ञतादयः। अनुपचरितस्वभावस्य तथापि विपरीता।

कथंचित् उपचरित है। किसी अभिप्राय से अर्थात् स्वभाव के भी अन्यत्र उपचार से उपचरित स्वभाव है। यहाँ पर स्यात् शब्द से क्या प्रयोजन है? जैसे उपचरित नय से अन्यत्रस्वभाव का उपचार होने से उपचरितपना है, वैसे अनुपचरित स्वभाव से उपचारपना न हो यह स्यात् शब्द का प्रयोजन है। कथंचित् अनुपचरित है, यह निश्चय से समझना चाहिए। कथंचित् उपचरितपना होने से दोष नहीं है और उसका फल परज्ञता व सर्वज्ञता है। अनुपचरित का फल उससे विपरीत आत्मज्ञता है।

समयसार की आत्मख्याति टीका में स्याद्वादाधिकार में प्ररूपित है कि अनेकांत का ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु तत् रूप है वही अतत् स्वरूप है, जो सत्स्वरूप है वही वस्तु असत्स्वरूप है, जो वस्तु नित्यरूप है वही वस्तु अनित्यरूप है। इस तरह एक वस्तु में वस्तुपने की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाश होता है।

इससे उस मत का खंडन हो जाता है जो अनेकांत व स्याद्वाद का आश्रय न लेकर एकांत से वस्तु स्वरूप को 'ऐसा ही है' अथवा 'नित्य ही है, अनित्य है ही नहीं आदि रूप मानकर एकधर्म की सिद्धि करते हैं।

परसमयाणं वयणं मिच्छा खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाण पुण वयणं सम्मं खु कहचि वयणादो॥

परसमयों (अजैनों) का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन 'कथंचित्' कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है।

इस प्रकार यहाँ द्रव्य के 11 सामान्य स्वभाव व 10 विशेष स्वभावों का कथन किया गया।

जीव पुद्गलों के भावों की संख्या

जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः॥29॥

अर्थ–जीव व पुद्गल में 21 स्वभाव पाए जाते हैं।

विशेषार्थ–पूर्व में द्रव्य के 11 सामान्य स्वभाव व 10 विशेष स्वभाव इस प्रकार 21 स्वभाव कहे गए। जीव और पुद्गल में ये इक्कीस स्वभाव होते हैं। अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद, भव्य-अभव्य व परमस्वभाव ये ग्यारह सामान्य स्वभाव

हैं। यद्यपि अस्ति-नास्ति आदि स्वभाव परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं किन्तु यदि सापेक्ष कथन किया जाए, नय का आश्रय लेकर कथन किया जाए तो ये विरोधी नहीं हैं। यही स्याद्वाद का सामर्थ्य है।

आचार्य भगवन् श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है कि कथंचित् के अर्थ में 'स्यात्' निपात शब्द का प्रयोग होता है, जो एकांत का निषेधक और अनेकान्त का द्योतक है।

सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः। -पंचा. टीका

आचार्य श्री मल्लिषेण स्वामी भी स्याद्वाद मंजरी में निरूपित करते हैं-

स्यादित्यव्ययमनेकान्तताद्योतकं ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः,
नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्।

'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है। इसलिए नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मरूप एक वस्तु का कथन स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और शब्द के द्वारा उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन एक ही समय में संभव नहीं है क्योंकि शब्दों की शक्ति परिमित है। वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। स्याद्वाद के बिना वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता। स्याद्वाद एक समय में मुख्य रूप से एक धर्म का ही प्रतिपादन करता है और शेष धर्मों का गौण रूप से द्योतन करता है। द्रव्य में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्यादि स्वभाव का कथन स्याद्वाद शैली से ही संभव है। आचार्य भगवन् श्री अमृतचन्द्र जी ने एक सुंदर दृष्टान्त द्वारा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली को प्ररूपित किया है-

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥225॥ पु. सि.

जिस प्रकार दधिमंथन करने वाली गोपी मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला कर देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मंथन करके इष्ट तत्त्व घृत को प्राप्त करती है, उसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अर्थात् एक धर्म को मुख्य व अन्यों को गौण कर अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि करती है।

यहाँ जीव व पुद्गल के 21 स्वभावों का कथन है। जीव व पुद्गल स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत् हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की

अपेक्षा से असत्–नास्ति रूप हैं। सापेक्ष कथन करने पर एक ही वस्तु को अस्ति व नास्ति रूप मानने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता। अस्ति व नास्ति स्वभाव में शीत और ऊष्ण के समान सहानवस्थान लक्षण विरोध संभव नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु में दोनों का एक साथ सद्भाव देखा जाता है। परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध भी नहीं हो सकता क्योंकि यह विरोध उन्हीं दो पदार्थों में पाया जाता है, जो एक ही स्थान में संभव हैं। जैसे एक सेब फल में रूप और रस में परस्परपरिहार–स्थिति लक्षण विरोध है। असंभव दो पदार्थों में यह विरोध नहीं पाया जाता है, जैसे पुद्गल में ज्ञान और दर्शन का विरोध कभी नहीं हो सकता। एक संभव हो और दूसरा असंभव हो, तो ऐसे पदार्थों में भी यह विरोध संभव नहीं है जैसे पुद्गल में गंध और दर्शन का विरोध संभव नहीं है, अर्थात् परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध संभव पदार्थों में ही होता है। यदि कोई कहता है कि अस्ति–नास्ति स्वभाव में परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध है, तो उसके कहने से ही दोनों का एक ही स्थान में सद्भाव सिद्ध होता है।

बध्यघातकलक्षण विरोध भी एक बलवान् तथा दूसरे अबलवान् पदार्थों में पाया जाता है, जैसे सर्प व नकुल में। अस्ति और नास्ति स्वभाव दोनों को समान बल वाला होने से उनमें यह विरोध भी संभव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि अस्ति स्वभाव और नास्ति स्वभाव दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इसी प्रकार जीव व पुद्गल में नित्य व अनित्य स्वभाव क्रमशः द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से घटित होता है। गुण–गुणी आदि संज्ञा से इनका भेदस्वभाव है तो अखंड होने से अभेद स्वभाव है। इस प्रकार एक–अनेक, भव्य–अभव्य व परम स्वभाव के विषय में भी जानना चाहिए।

विशेष स्वभावों में जीव चेतन व अचेतन दोनों स्वभावों से युक्त है। चेतन स्वभाव तो सर्वविदित है ही किन्तु जीव में अचेतन स्वरूप भी स्वीकार किया गया है। जीव और पुद्गल कर्म–नोकर्म अनादिकाल से दूध और पानी की तरह परस्पर में मिले हुए हैं। इस निमित्त नैमित्तिक संबंध को लेकर असद्भूत व्यवहारनय से पुद्गल के अचेतनत्व और मूर्त्तत्व धर्म का आरोप चेतन में किया जाता है और जीव के चेतनत्व और अमूर्त्तत्व–धर्म का आरोप पुद्गल में किया जाता है। आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी ने स्वरूप संबोधन नामक ग्रंथ में कहा है–

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतरत्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः॥3॥

प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा आत्मा अचित् है और ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से चिदात्मक है अतएव आत्मा चेतनात्मक भी है और अचेतनात्मक भी है।

तथा दूसरी अपेक्षा से कथन करते हैं–जीव अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ है। उन कर्मों ने जीव का चेतनगुण घात रखा है। कहा भी है–

का वि अउव्वा दीसदि पोग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवल-णाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स॥211॥ स्वा.का.अ.

पुद्‌गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिससे जीव का केवलज्ञान स्वभाव भी नष्ट हो जाता है।

आचार्य भगवन् श्री अकलंकदेव स्वामी राजवार्तिक में कहते हैं–

'पौरुषेयपरिणामानुरञ्जित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्, पुद्‌गलद्रव्यादेशाच्च स्यादचेतनत्वमिति।'

'कर्म' पुरुष के परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चेतन है, पुद्‌गल द्रव्य की दृष्टि से वह अचेतन है।

जीव का यह अचेतन भाव द्रव्य कर्मों के संबंध से होता है और पौद्‌गलिक कर्म जीव से भिन्न द्रव्य है, इसलिए असद्‌भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव में अचेतन भाव है। इस प्रकार जीव में चेतन व अचेतन दोनों स्वभाव सापेक्ष कथन करने पर प्राप्त होते हैं।

जीव अमूर्त्त स्वभाव से युक्त है क्योंकि वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। किन्तु पुद्‌गल कर्म से संबंध के कारण वह मूर्त्तिक भी है।

पंचास्तिकाय की गाथा 97 की टीका में प्ररूपित है–

स्पर्शरसगन्धवर्णसद्‌भावस्वभावमूर्त्तः। स्पर्शरसगंधवर्णाऽभावस्वभावममूर्तं। अमूर्त्तस्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्त्तोऽपि।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का सद्‌भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त्त है। स्पर्श, रस, गंध वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त्त है। जीव स्वरूप से अमूर्त्त है किन्तु पररूप से अनुरक्त होने की अपेक्षा मूर्त्त है।

कहा भी है–

बंधं पडि एयत्तं, लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयतो होइ जीवस्स॥

आत्मा और कर्म बंध की अपेक्षा से एक हैं तो भी लक्षण की अपेक्षा वह भिन्न हैं इसलिए जीव का अमूर्त्तिक भाव अनेकान्तरूप है। वह बंध की अपेक्षा से मूर्त्त है और स्वभाव अपेक्षा से मूर्त्त नहीं है।

जीव द्रव्य-आत्मा को सर्वथा एकप्रदेशी माना जाए तो वह अनेक प्रकार की क्रियाएँ नहीं कर सकेगा और सर्वथा अनेकप्रदेशी माना जाए तो आत्मा अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता क्योंकि स्वभावशून्यता का प्रसंग आता है। इस प्रकार जीव एकप्रदेशी भी है व अनेकप्रदेशी भी है।

आत्मा को एकांततः शुद्ध मानने पर वह कर्म से युक्त नहीं हो सकती। सर्वथा निर्मल होने से संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा और एकांततः अशुद्ध मानने पर वह कर्म से रहित नहीं हो सकती, जिससे मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः (आत्मा) जीव द्रव्य में शुद्ध व अशुद्ध स्वभावों की सिद्धि होती है।

जब तक आत्मा कर्म पंक का प्रक्षालन कर सिद्धालय में अवस्थित नहीं होती तब तक वह विभाव में है अतः वह विभाव भी स्वभाव स्वरूप है। आत्मा को सर्वथा उपचरित स्वभाव मानने पर आत्मा में आत्मज्ञता नहीं बन सकेगी और सर्वथा अनुपचरित स्वभाव मानने पर उसमें परज्ञतादि नहीं बन सकेगी क्योंकि शुद्ध आत्मा (सिद्ध) निश्चय से स्व को जानता व देखता है व व्यवहार या उपचार से पर को जानता व देखता है अर्थात् अनुपचरित स्वभाव से आत्मा आत्मज्ञ है व उपचरित स्वभाव से परज्ञ है। इस प्रकार आत्मा उपचरित स्वभाव से भी युक्त है।

इसी प्रकार पुद्गल में सामान्य 11 स्वभावों का कथन जानना चाहिए। दस विशेष स्वभाव का कथन भी उसी प्रकार ज्ञातव्य है। पुद्गल द्रव्य अचेतन तो है व जीव के संयोग से स्यात् चेतन भी है।

पौद्गलिक कर्म आत्म परिणामों से अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चैतन्य है किन्तु पुद्गल द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा अचेतन है अथवा आत्मा से संयोग के कारण ही स्वभावतया मूर्त्त यह पुद्गल, अमूर्त्तिक भी कहा जाता है। यथा–

वण्णरस पंचगंधा दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो॥

पुद्गल का एक परमाणु एक प्रदेश स्वभाव और शुद्ध स्वभाव वाला है किंतु अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर स्कंधरूप परिणत होने पर अनेक प्रदेश स्वभाव और अशुद्ध स्वभाव वाला है। पुद्गल परमाणु परस्पर मिलकर स्कंध उत्पन्न कर विभाव रूप परिणमन करते हैं जिससे यह विभाव स्वभाव वाला है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य में दस विशेष स्वभावों की सिद्धि होती है।

एतावता जीव व पुद्गल द्रव्य के 21 स्वभाव कहे गए हैं।

धर्मादि तीन द्रव्यों में स्वभावों की संख्या

चेतनस्वभावः मूर्त्तस्वभावः विभावस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एतैर्विना धर्मादित्रयाणां षोडशस्वभावाः सन्ति॥30॥

अर्थ–धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा आकाश द्रव्य इन तीन द्रव्यों में चेतन स्वभाव, मूर्त्त स्वभाव, विभाव स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव, उपचरित स्वभाव के बिना सोलह स्वभाव होते हैं।

विशेषार्थ–अस्ति-नास्ति आदि 11 स्वभाव द्रव्य के सामान्य स्वभाव कहे जाते हैं। सामान्य स्वभावों की सिद्धि जिस प्रकार जीव-पुद्गल द्रव्य में हुई है उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों में भी ज्ञातव्य है। दस विशेष स्वभावों में से चेतन, मूर्त्त, विभाव, अशुद्ध व उपचरित स्वभाव धर्मादि तीन द्रव्यों में नहीं पाया जाता।

यद्यपि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य व पुद्गल द्रव्य ये पाँचों ही अचेतन स्वभाव से युक्त होते हैं, मात्र जीव द्रव्य ही चेतन स्वभाव वाला है किन्तु जीव के साथ बंध हो जाने के कारण पुद्गल में तो कथंचित् चेतन स्वभाव स्वीकार किया गया है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य आकाश व काल द्रव्य जीव के साथ बंध को प्राप्त नहीं होते अतः ये चारों द्रव्य अचेतन स्वभावी हैं, चेतन स्वभाव का इनमें निषेध है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसमें पाया जाता है वह मूर्त्त है। षट्द्रव्यों में मात्र पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिक है किन्तु पुद्गल के साथ बंध को प्राप्त होने के कारण जीव में भी मूर्त्तिक स्वभाव प्राप्त हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य स्पर्शादि से रहित हैं और पुद्गल के साथ बंध को भी प्राप्त नहीं होते अतः इनमें मूर्त्त स्वभाव नहीं पाया जाता। ये सदा अमूर्त्तिक स्वभावी हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य किसी अन्य द्रव्य से कदाचित् भी बंध को प्राप्त नहीं होते। किसी अन्य द्रव्य से बंध के प्राप्त होने पर अथवा स्वभाव को छोड़ विभाव रूप परिणमन करने पर इनमें विभाव स्वभाव, उपचरित स्वभाव वा अशुद्ध स्वभाव प्राप्त होता है किन्तु धर्मादि चार द्रव्य इनसे मुक्त हैं अतः इनमें विभाव, उपचरित व अशुद्ध स्वभाव नहीं पाए जाते। न तो ये विभाव रूप परिणमित होते हैं, अन्य द्रव्य से बंध न होने से अशुद्ध नहीं होते और जिनमें ऐसा होता है कथंचित् उस अन्य द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करने से अन्य द्रव्य के स्वभाव का उपचार होता है। अशुद्ध व विभाव यहाँ नहीं है अतः उपचार का भी प्रसंग यहाँ प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार 11 सामान्य स्वभाव एवं अचेतन स्वभाव, अमूर्त्त स्वभाव, एकप्रदेश स्वभाव, अनेकप्रदेश स्वभाव व शुद्ध स्वभाव ये 5 विशेष स्वभाव-कुल 16 स्वभावों की सिद्धि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य व आकाश द्रव्य में होती है।

कालद्रव्य में स्वभावों की संख्या

तत्र बहुप्रदेशत्वं विना कालस्य पंचदशस्वभावाः॥31॥

अर्थ–उनमें बहुप्रदेश स्वभाव के बिना शेष पन्द्रह स्वभाव कालद्रव्य में पाए जाते हैं।

विशेषार्थ–11 सामान्य स्वभाव जो अन्य पाँच द्रव्यों में पाए जाते हैं वे तो नियमतः कालद्रव्य में हैं ही। विशेष स्वभावों में धर्मादि द्रव्य में जो 5 विशेष स्वभाव पाए जाते हैं उनमें से बहुप्रदेशत्व बिना काल में 4 स्वभाव पाए जाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहलाते हैं।

सभी द्रव्यों की सत्ता होने से सभी 6 द्रव्य अस्ति रूप हैं। किन्तु काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य काय रूप भी हैं। शरीर के समान जो होते हैं उसे काय कहते हैं अर्थात् जिसमें बहुत प्रदेशों का समूह हो वे बहुप्रदेशी काय कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं। जीव, धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं। यद्यपि जीव में संकोच-विस्तार की शक्ति है किन्तु जीव के प्रदेशों की संख्या में कोई अंतर नहीं आता। आकाश अनंत प्रदेशी है। पुद्गल यद्यपि मूल रूप से परमाणु है जो कि एक प्रदेशी है, परंतु परस्पर में मिलकर अनेक प्रदेशी स्कंध बन जाने की शक्ति के कारण इसे भी उपचार से बहुप्रदेशी माना जाता है व पुद्गल स्कंध बहुप्रदेशी होते हैं।

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वणहू।।26।। वृ.द्र.सं.

एक प्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है, इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं।

पुद्गल संख्यात, असंख्यात व अनंतप्रदेशी है। अत: पाँच द्रव्य जो अनेक प्रदेशी हैं वे कायवान् कहे जाते हैं। किन्तु कालद्रव्य सर्वथा एक प्रदेशी ही है क्योंकि वह स्वयं अणुरूप है और परस्पर में मिलकर भी स्कंध रूप नहीं हो सकता।

काल द्रव्य एक प्रदेशी है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह संख्या में भी एक ही है। इसका केवल इतना ही अर्थ समझना चाहिए कि काल द्रव्य अणुरूप है, इसलिए इसको कदाचित् कालाणु भी कहते हैं। जिस प्रकार लोक में परमाणु अनेक हैं उसी प्रकार कालाणु भी अनेक हैं। अंतर मात्र इतना है कि परमाणु तो अनंतानंत हैं किंतु कालाणु लोकाकाश प्रदेश प्रमाण असंख्यात हैं। इस कथन से उन वैदिकदर्शनकारों की धारणा का खंडन होता है जो काल द्रव्य को तो स्वीकार करते हैं किन्तु इसे कोई प्रदेशात्मक नहीं मानते।

कालाणुओं को लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर एक-एक करके बैठा हुआ कल्पित किया जाता है। अत: जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। आचार्य भगवन् श्री नेमिचन्द्र स्वामी ने वृहद् द्रव्य संग्रह में कहा भी है–

लोयायासपदेसे, इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासीमिव, ते कालाणू असंखदव्वाणि।।22।।

जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।

अत: काल को अस्तिकाय स्वीकार नहीं किया।

होंति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत-आयासे।
मुत्ते तिविहपदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ।।25।।

जीव, धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं और आकाश में अनंत प्रदेश हैं। पुद्गल में संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेश हैं और काल के एक ही प्रदेश है इसलिए काल काय नहीं है।

नियमसार में आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं–

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुपदेसत्तं॥34॥

काल छोड़कर अन्य द्रव्यों को जिनसमय में 'अस्तिकाय' कहा गया है क्योंकि उनमें जो बहुप्रदेशीपना है वही कायत्व है।

इस प्रकार काल द्रव्य के बहुप्रदेशीपना न होने से यह बहुप्रदेशी स्वभाव वाला नहीं है। एवं काल के अन्य पन्द्रह स्वभाव उसी प्रकार से जानने चाहिये।

एकविंशतिभावाः स्युर्जीवपुद्गलयोर्मताः।
धर्मादीनां षोडशस्युः काले पंचदशस्मृताः॥3॥

अर्थ—जीव और पुद्गल द्रव्यों में इक्कीस, धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों में सोलह तथा काल द्रव्य में पंद्रह स्वभाव जानना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्व 29, 30, 31 सूत्र में जो द्रव्यों में स्वभावों की संख्या कही है उसे ही यहाँ श्लोक में निबद्ध किया गया है व स्वभावों के नाम भी सूत्रों में दिए गए हैं। एक छंद से ही संपूर्ण द्रव्यों के स्वभावों की संख्या ज्ञात हो सके, अतः इस सुगमता हेतु आचार्य महाराज ने यहाँ श्लोक प्रतिपादित किया है।

प्रमाण अधिकार

वस्तुतत्त्व जानने के उपाय

ते कुतो ज्ञेयाः?॥32॥

अर्थ—वे (21 प्रकार के स्वभावादि) कैसे जाने जाते हैं?

विशेषार्थ—पूर्व में आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने अपनी प्रतिज्ञानुसार जो द्रव्यों के लक्षण, गुण व स्वभाव कहे हैं उन्हें कहने के पश्चात् शिष्यों के जिज्ञासा करने से पूर्व ही आचार्य महाराज स्वयं प्रश्न कर रहे हैं कि गुण, स्वभावादि किसके द्वारा जाने गए हैं? प्रश्नोत्तरी शैली ज्ञान संवर्द्धन के लिए एक प्रचलित शैली है। प्रश्न के बाद उत्तर देने में शिष्य के मस्तिष्क में उस उत्तर का ठहराव होता है।

आचार्य भगवन् श्री विद्यानंदि स्वामी ने भी श्लोकवार्तिकालंकार में कहा है कि जब तक सामने वाला प्रश्न न पूछे तब तक समाधान नहीं देना चाहिए, तत्त्वोपदेश नहीं करना चाहिए। पहले उसमें रुचि, जिज्ञासा उत्पन्न करनी चाहिए तब उपदेश देना चाहिए। आचार्य महाराज भी

यहाँ सामने वाले अध्ययनकर्त्ता के चित्त में स्वयं ही जिज्ञासा उत्पन्न कर रहे हैं कि जो लक्षण, गुण, स्वाभावादि कहे गये हैं, वे स्वयं उत्पन्न ज्ञान से वा अनुमानादि से कह रहे हैं अथवा कैसे जाने गए हैं? इसका उत्तर स्वयं आचार्य महाराज अगले सूत्र में दे रहे हैं–

प्रमाणनयविवक्षातः।।33।।

अर्थ–प्रमाण और नय की विवक्षा से इनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।

विशेषार्थ–आचार्य श्रीमद्देवसेन स्वामी ने पूर्व सूत्र में जो प्रश्न किया उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जो द्रव्य के स्वभावादि कहे गए हैं वे प्रमाण व नय की विवक्षा के द्वारा कहे गए हैं क्योंकि प्रमाण व नय के बिना वस्तुतत्त्व का ज्ञान संभव नहीं है। आचार्य श्री यतिवृषभ स्वामी तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में निरूपित करते हैं–

जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।82।।

जो जीव प्रमाण,नय, निक्षेपों के द्वारा अर्थ की परीक्षा नहीं करता है उसे अयुक्त भी युक्त और युक्त भी अयुक्त के समान प्रतिपादित होता है।

प्रमाणादि के द्वारा वस्तु तत्त्व का बोध समीचीन रूप से होता है, तभी सम्यक् रूप से जाना जा सकता है और वही न्याय है।

'नीयते परिच्छद्यते वस्तुतत्त्वं येन स न्यायः'।

जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो उसे न्याय कहते हैं। तर्क, न्याय या परीक्षा को अत्यन्त आदरणीय और उपादेय भी कहा है।

आचार्य श्री अमितगति स्वामी ने इसका महत्व दर्शाते हुए अमितगति श्रावकाचार में कहा है–

लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वंचनभीतचित्ताः।।1/29।।

विचारवान् पुरुष तो सर्वसमर्थ लक्ष्मी प्रदान कराने वाले धर्म को ठगाए जाने के भय से स्वर्ण की भाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

दुःखनिवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, किन्तु यह तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही समीचीनतः हो सकता है। जिस प्रकार व्यापार तो वस्तुओं के क्रय-विक्रय से ही होता है परंतु वह वस्तुओं का क्रय-विक्रय तराजू, मीटर, लीटर आदि पैमानों के बिना ठीक-ठीक नहीं हो

सकता, अतः व्यापारी को उन तराजू आदि पैमानों का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए, उसी प्रकार दुःखनिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान से होती है, परन्तु वह पदार्थों का ज्ञान, तत्त्वज्ञान न्याय के बिना समीचीनतया नहीं हो सकता, अतः दुःखनिवृत्ति के अभिलाषी को न्याय का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए। वस्तु स्वरूप को जानने के लिए परीक्षा आवश्यक है इसी भाव को लेकर आचार्य श्री सोमदेव सूरि 'यशस्तिलक चम्पू' में लिखते हैं–

एकांतः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः॥
दाहच्छेदकषा शुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया॥73-74/6

पक्ष और शपथ ये दोनों ही तत्त्वबोध के लिए व्यर्थ हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष परप्रत्यय मात्र से तत्त्व का विश्वास नहीं करते। दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध हुए स्वर्ण में शपथ क्या करेगी? तथा दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध न हुए स्वर्ण में भी शपथ क्या करेगी? एतावता प्रमाण व नयादि से परीक्षा किए बिना तत्त्वबोध संभव नहीं। इसलिए द्रव्य के स्वभावादि की प्रमाणिकता के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा क्योंकि न्याय प्रमाण-नय स्वरूप है–**'प्रमाणनयात्मको न्यायः'।**

आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने भी प्रमाण व नय को जीवादि तत्त्वों के अधिगम का साधन बतलाया **'प्रमाणनयैरधिगमः।'**

सकलादेश को प्रमाण कहते हैं। **'सकलादेशो प्रमाणाधीनः'** एवं विकलादेश को नय कहते हैं **'विकलादेशो नयाधीनः'** सकलादेश वा प्रमाण एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखंडरूप से ग्रहण करता है और विकलादेश वा नय एक धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करके वस्तु का ग्रहण करता है। अतः प्रमाण व नय वस्तु तत्त्व का बोध समीचीन रूप से कराता है।

'प्रमाणनयविवक्षातः' इस सूत्र को कहकर आचार्य महाराज ने ग्रंथ की अत्यंत प्रमाणिकता को भी व्यक्त किया। प्रमाण व नय का स्वरूप आगे आचार्य महाराज स्वयं कहेंगे।

प्रमाण का लक्षण

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं।।34।।

अर्थ–सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

विशेषार्थ–प्रमाण की विभिन्न परिभाषाएँ आचार्यों के माध्यम से प्राप्त हुई हैं। प्रमेयरत्नमाला में कहा है–

'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्'।

जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व को एकदम सही रूप में (संशयादि रहित) जाना जाता है, पहचाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में आचार्य महाराज ने कहा कि 'ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने या अगृहीत को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है।[1]

आचार्य श्री माणिक्यनंदी स्वामी स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते है।[2] आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी ने स्व और पर के अवभासक ज्ञान को प्रमाण बताया है।[3] आचार्य श्री विद्यानंद जी स्वामी ने प्रमाणपरीक्षा में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसे स्वार्थव्यवसायात्मक कहा है।[4] आप्तमीमांसा में तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहा है[5] अथवा स्वपर व्यवसायी ज्ञान प्रमाण है।[6] सम्यग्ज्ञान को प्रमाण न्यायदीपिका में भी कहा गया है।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेदयदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।42।।

जो ज्ञान न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और जैसा का तैसा संदेह रहित जानता है, शास्त्र के ज्ञाता पुरुष उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आचार्य अकलंक देव स्वामी राजवार्तिक में कहते हैं–

---

1. तत्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्।।
गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।।11/10।77-78
2. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। –प.मु.
3. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणम्।
4. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।
5. तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्।
6. स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्। –प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार

'नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्'

नय व प्रमाण के विकल्पपूर्वक जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अथवा सम्यग्दर्शन के अविनाभावी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ज्ञान में सम्यक्पना श्रद्धान के सम्यक् होने से आता है, जो वस्तु तत्त्व व स्वात्मादि का ज्यों का त्यों प्रतिपादन करता है।

यहाँ कोई शंका करता है 'क्या सम्यग्दृष्टि सदैव सम्यक् ही जानता है? क्या वस्तुतत्त्व के विषय में समीचीन ज्ञान रखता है?' तब सामाधान करते हैं कि 'यह इष्ट ही है, सम्यग्दृष्टि वस्तुतत्त्व, आत्म स्वरूपादि को समीचीन रूप से समझता है किन्तु यदि वह गुरु को प्रमाण करके (कदाचित् गुरु मुख से शब्द स्खलित होने पर अथवा स्वयं के समझने में त्रुटि होने पर) स्वयं नहीं जानते हुए असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है तब भी वह सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं होता।' सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य भगवन् श्री नेमिचंद्र स्वामी कहते हैं–

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।27।। गो.जी.

पुनः कोई प्रश्न करता है कि एक बार तो गलती से वस्तु तत्त्व में कुछ विपरीतता उस सम्यग्दृष्टि को हो सकती है किन्तु यदि पुनः आगम प्रमाण या अन्य गुरु उसे समझायें और वह तब भी हठाग्रह न छोड़े तब तो वह मिथ्यादृष्टि ही होगा, तब तो उसका ज्ञान मिथ्या कहलायेगा।

हाँ, ऐसा तो हमें इष्ट ही है। गोम्मटसार जीवकांड में निरूपित है–

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।28।।

असद्भूत पदार्थ के श्रद्धान करने वाले सम्यग्दृष्टि को यदि पुनः कोई परमागम का ज्ञाता विसंवाद रहित दूसरे सूत्र द्वारा उस असद्भूत अर्थ को यथार्थरूप से बतलावे, फिर भी वह जीव असत् आग्रहवश असद्भूत को ही स्वीकार करे, यथार्थ को स्वीकार न करे तो उसी समय से वह जीव मिथ्यादृष्टित्व को प्राप्त हो जाता है।

प्रमाण के भेद

तद्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात्॥35॥

अर्थ–प्रत्यक्ष प्रमाण और इतर अर्थात् परोक्ष प्रमाण के भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है।

विशेषार्थ–आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी महाराज ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में प्रमाण के दो भेद किए हैं–'तत्प्रमाणे'। इस सूत्र से प्रत्यक्ष व परोक्ष भेद हुए।[1]

आगम में इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा मात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है–**'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा'** इस प्रकार अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा किया गया है। **अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्।** प्रति + अक्ष – अक्ष अर्थात् मात्र आत्म के प्रति जो नियत है वह प्रत्यक्ष है। जिस ज्ञान में इन्द्रिय मन और प्रकाश आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा होती है वह ज्ञान परोक्ष है। आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कुछ इसी प्रकार से प्रत्यक्ष व परोक्ष ज्ञान को परिभाषित किया है।

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं॥58॥

आचार्य भगवन् अकलंक देव स्वामी ने लघीयस्त्रय में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है **'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं....'** एवं न्यायविनिश्चय ग्रंथ में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। साकार ज्ञान जब परमार्थ रूप से विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। **'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा'** जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा न हो वह विशद कहलाता है। अतः दार्शनिक परंपरा से विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद कहे गए हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष को मुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं।[2] जो ज्ञान इंद्रिय और मन की सहायता से होता है उसे लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से प्रसिद्ध होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते

---

1. अ) तद्द्वेधा। प्रत्यक्षेतरभेदात्। प.मु.
   ब) प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति। न्यायदीपिका
2. अ) तत्प्रत्यक्षं द्विविधं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। –न्यायदीपिका 2/11
   ब) मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत्। –न्यायदीपिका 2/13

हैं।[3] अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार प्रकार का कहा गया है।

सर्वतः निर्मल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के विकल और सकल दो भेद हैं।[4] जो कुछ भी पदार्थों को विषय करता है वह विकल प्रत्यक्ष है।[5] विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। जिस पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विषय सर्वद्रव्य–पर्याय है उसे सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।[6] सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान है जो सर्व द्रव्यों और उसकी सर्व पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है।

अविशद, अस्पष्ट या अनिर्मल ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।[7] स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद कहे हैं।[8]

आगम में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान का विभाजन प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण के रूप में किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य भगवन् ने कहा भी है–

'आद्ये परोक्षम्' अर्थात् आदि के दो मति व श्रुत ज्ञान परोक्ष हैं एवं 'प्रत्यक्षमन्यत्' शेष अन्य 3 ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। जिनमें अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष व केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

---

3. इंद्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतो सांव्यवहारिकम्। –परीक्षामुख सूत्रम् 2/5
4. सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। तद्द्विविधम्-विकलं सकलं च –न्यायदीपिका –2/13
5. तत्र कतिपयविषयं विकलम् –न्यायदीपिका
6. सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम् –न्यायदीपिका
7. अविशदप्रतिभासं परोक्षम्। –न्यायदीपिका
8. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदात् –प.मु.

न्यायानुसारः-

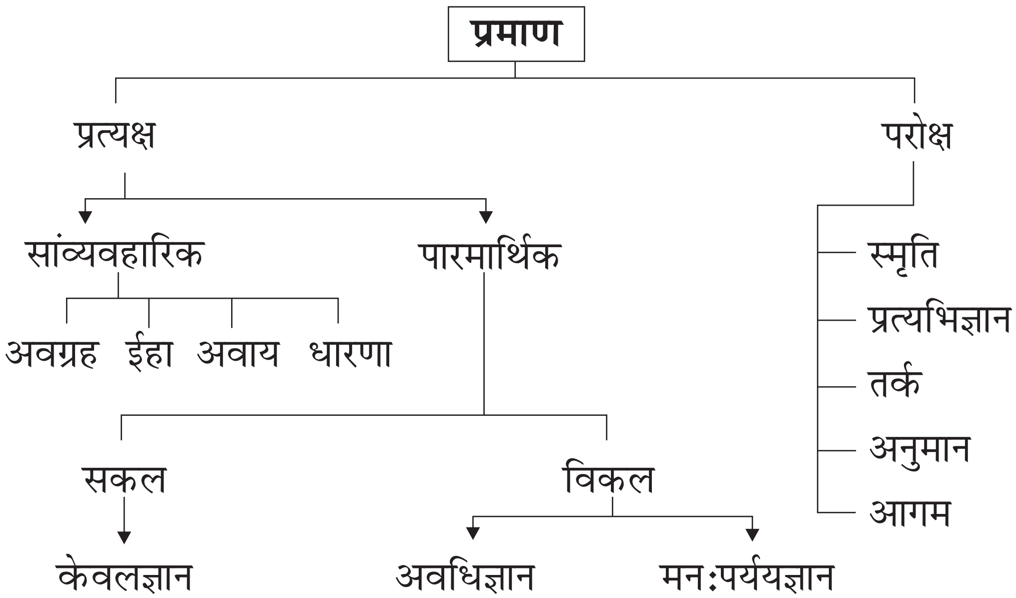

आगमानुसारः-

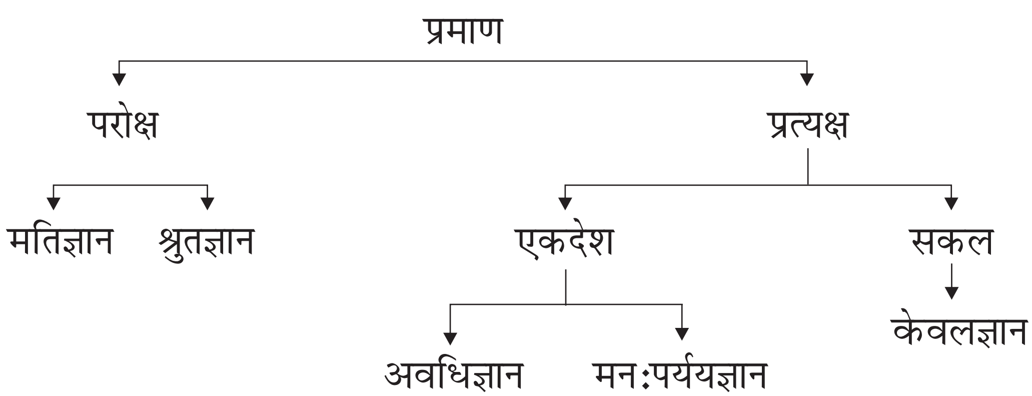

एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान

अवधिमनःपर्ययावेकदेशप्रत्यक्षौ॥36॥

अर्थ–अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ये दोनों एकदेश प्रत्यक्ष हैं।

विशेषार्थ–अवधि का अर्थ है–मर्यादा या सीमा। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थों को जानता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है।[1] न्यादीपिका के अनुसार अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मूर्त्तिक पदार्थ के ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[2] अवधिज्ञान को शास्त्रों में सीमाज्ञान भी कहा गया है।[3]

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अवधिज्ञान का सीमादि रूप लक्षण करने पर मर्यादा रूप मतिज्ञानादि अलक्ष्यों में यह लक्षण चला जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोष प्राप्त होता है?

तब कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रूढ़ि की मुख्यता से किसी एक ही ज्ञान में अवधि शब्द की प्रवृत्ति होती है। अवधिज्ञान से नीचे के सभी ज्ञान सावधि हैं और ऊपर का केवलज्ञान निरवधि है। इसका ज्ञान कराने के लिए अवधिज्ञान में अवधि शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न–इस प्रकार का कथन करने पर मन:पर्ययज्ञान से व्यभिचार दोष आता है?

उत्तर–नहीं, क्योंकि मन:पर्ययज्ञान भी अवधिज्ञान से अल्प विषय वाला है, इसलिए विषय की अपेक्षा उसे अवधिज्ञान से नीचे स्वीकार किया है। फिर भी संयम के साथ रहने के कारण मन:पर्ययज्ञान में जो विशेषता आती है, उस विशेषता को दिखलाने के लिए मन:पर्यय ज्ञान को अवधिज्ञान से नीचे न रखकर ऊपर रखा है इसलिए कोई दोष नहीं।

प्रश्न–मर्यादा अर्थ में रूढ़ अवधि शब्द ज्ञान के अर्थ में कैसे रहता है?

उत्तर–नहीं, क्योंकि जिस प्रकार असि से सहचरित पुरुष के लिए उपचार से असि कहने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार अवधि से सहचरित ज्ञान को अवधि कहने में कोई विरोध नहीं है।[4]

---

1. तत्र अवधीयत इति मर्यादा, सा च 'रूपिष्वधेः' इति वचनात् रूपवद् द्रव्यविषया अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। –प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/18
2. तत्रावधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम्॥2/13
3. अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णिदं समए। –पंचसंग्रह (प्राकृत) 1/123
4. जयधवल पु. 1 व धवल पु. 9

यह अवधिज्ञान दो, तीन, छः या आठ प्रकार का भी होता है। भवप्रत्यय व गुणप्रत्यय की अपेक्षा इसके दो भेद हैं।

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।

गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिह्न भवो॥371॥ गो. जी.

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है तथा तीर्थंकरों के भी होता है और यह संपूर्ण अंग से उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य व तिर्यंचों के होता है और संखादि चिह्नों से होता है।

अथवा जिस अवधिज्ञान का कारण (चिह्न, जिन चिह्नों से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।) वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है और जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र के बिना शरीर के सब अवयवों से होता है वह अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान है। तीर्थंकर, देवों और नारकियों के अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान ही होता है।

अवधिज्ञान देशावधि, सर्वावधि व परमावधि के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि ही होता है। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही होते हैं। देशावधि भी गुणप्रत्यय होता है।[5]

परमावधि ज्ञान संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है एवं अपने उत्पन होने वाले भव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। सर्वावधिज्ञान भी चरम शरीरी संयत के होता है। 'सर्व' का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो जो अर्थ होता है वह भी उपचार से सर्व कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञान की होती है (केवलज्ञान से ज्ञात अर्थ है मर्यादा जिसकी) वह 'सर्वावधिज्ञान है। 'देश' का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है। वह जिस ज्ञान की अवधि (मर्यादा) है वह देशावधि ज्ञान है।

इसके होने पर जीव मिथ्यात्व को भी प्राप्त होता है और असंयम को भी प्राप्त होता है क्योंकि ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है।[6]

---

5. **भवपच्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वोही।**
   गुणपच्चइगो णियमा देसोही वि य गुणे होदि॥373॥ –गो.जी.
6. **धवला पु. 13**

अवधिज्ञान हीयमान, वर्धमान, अनवस्थित, अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी के भेद से 6 प्रकार का है और इन्हीं में प्रतिपाती व अप्रतिपाती दो भेद और जोड़ने से 8 प्रकार का हो जाता है।

कृष्णपक्ष के चन्द्रमण्डल के समान जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर वृद्धि और अवस्थान बिना नि:शेष विनष्ट होने तक घटता ही जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर शुक्लपक्ष के चन्द्रमण्डल के समान प्रतिसमय अवस्थान के बिना जब तक अपने उत्कृष्ट विकल्प को प्राप्त होकर अगले समय में केवलज्ञान को उत्पन्न कर विनष्ट नहीं हो जाता तब तक बढ़ता ही रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कदाचित् बढ़ता है, कदाचित् घटता है और कदाचित् अवस्थित रहता है वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर वृद्धि व हानि के बिना दिनकरमण्डल के समान केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक उपस्थित रहता है वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीव के साथ जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है और जो उत्पन्न होकर जीव के साथ नहीं जाता वह अननुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाश को प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर विनष्ट होता है अन्यथा विनष्ट नहीं होता, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

मन:पर्ययज्ञान–परकीय मनोगत अर्थ मन कहलाता है। 'पर्यय' में परि शब्द का अर्थ सब ओर और अय शब्द का अर्थ विशेष है। मन का पर्यय मन:पर्यय है। उस मन की पर्यायों अर्थात् विशेषों को मन:पर्यय कहते हैं। मन की पर्याय को मन:पर्यय कहते हैं तथा उसके साहचर्य से ज्ञान भी मन:पर्यय कहलाता है। इस प्रकार मन:पर्यय रूप जो ज्ञान है वह मन:पर्यय ज्ञान है।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धंचिंतियमणेयभेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए।।438।। गो.जी.

चिन्तित-अचिन्तित व अर्द्धचिन्तित इत्यादि अनेक भेदयुक्त द्रव्य को मनुष्य लोक में जो जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान कहा गया है।

मन:पर्ययज्ञान दो प्रकार का है–ऋजुमति व विपुलमति। ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान ऋजुमनगत, ऋजुवचनगत और ऋजुकायगत अर्थ को नियम से विषय करता है। इस प्रकार ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान तीन प्रकार का है। विपुलमति मन:पर्ययज्ञान 6 प्रकार का है।

ऋजुमनगत, ऋजुवचनगत व ऋजुकायगत चिन्तन किए जा रहे अर्थ विषय करने वाले तथा कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा चिन्तन किए जाने वाले ज्ञान की अपेक्षा विपुलमति के छह भेद हो जाते हैं।

जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उसका उस प्रकार से चिंतन करने वाला मन ऋजु है और उससे विपरीत चिन्तन करने वाला मन अनृजु है। जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उस-उस प्रकार से ज्ञापन करने वाला वचन ऋजु है, तद् विपरीत वचन अनृजु है। जो अर्थ जिस प्रकार से स्थित है उसको उसी प्रकार से अभिनय द्वारा दिखलाने वाला काय ऋजु है और उससे विपरीत काय अनृजु है। जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गए व सरल रूप से ही कहे गए अर्थ को जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। यह नहीं बोले गए, आधे बोले गए और विपरीत रूप से बोले गए अर्थ को नहीं जानता है, क्योंकि जिस मनःपर्यय ज्ञान में मति ऋजु है वह ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान है, ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है।[7]

विपुल का अर्थ है–विस्तीर्ण। विपुल है मति जिसकी वह विपुलमति कहा जाता है।[8] विपुलमति मनःपर्ययज्ञान चिन्तित व अचिन्तित (जिसका भूत में चिन्तवन हो चुका था भविष्य में चिन्तवन होगा) ऐसे त्रैकालवर्ती रूपी द्रव्य (पुद्गल व संसारी जीव) को भी जानता है।

जिस प्रकार अवधिज्ञान शंखादि शुभ चिह्नों से युक्त समस्त अंग से उत्पन्न होता है उस प्रकार मनःपर्ययज्ञान जहाँ पर द्रव्य मन होता है उन्हीं प्रदेशों से उत्पन्न होता है।[9] ऐसा नियम है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान प्रवर्द्धमान चारित्र के धारक संयतों के पाया जाता है और इसके ज्ञान के स्वामी तद्भव मोक्षगामी होते हैं। परंतु ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान विषयक जघन्य क्षेत्र कोस पृथक्त्व और उत्कृष्ट क्षेत्र योजन पृथक्त्व है। विपुलमति का जघन्य क्षेत्र योजन पृथक्त्व तथा उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण है। ऋजुमति विषयक जघन्य काल दो-तीन भव और उत्कृष्ट सात-आठ भव प्रमाण है। विपुलमति विषयक आठ-नौ भव जघन्य काल है और उत्कृष्ट काल असंख्यात भव है।

---

7. धवल पु. 13
8. धवल पु. 9
9. सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
   मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा।।442।। गो.जी.

सकलप्रत्यक्ष ज्ञान

केवलं सकलप्रत्यक्षं।।37।।

अर्थ—केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

विशेषार्थ—मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है। श्री तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है—

'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।10/1

'केवल' असहाय को कहते हैं। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा से रहित है, त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायों से समवाय संबंध को प्राप्त अनंत वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुटित अर्थात् सर्वव्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है उसे केवलज्ञान कहते हैं।[1] केवलज्ञान असहाय है क्योंक वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित है अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक की अपेक्षा से रहित है इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते हैं।[2]

न्यायदीपिका ग्रंथ के अनुसार **'सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम्'** जिस पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विषय सर्वद्रव्य-पर्याय है उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष एक केवलज्ञान ही है, उसके अन्य कोई भेद नहीं हैं। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी महाराज ने केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा **'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'** जो ज्ञान सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। प्रवचनसार में भी कहा है—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।37।।

उन जीवादि समस्त द्रव्यों की सर्व विद्यमान पर्यायों को और अविद्यमान पर्यायों को तात्कालिक अर्थात् वर्तमान पर्याय की तरह विशेषता सहित ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान जानता है। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो केवलज्ञान से न जाना गया हो। वीरभक्ति के अंतर्गत भी इंद्रभूति गौतम गणधर ने इस प्रकार कहा—

---

1. केवलमसहायमिंदियालोयणिरवेक्खं तिकालगोयराणंतपज्जायसमवेदाणंतवत्थुपरिमसंकुडियमसक्तं केवलणाणं। —धवला 9
2. केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्।... आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्। – क.पा.

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वदा॥
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमते सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥

जो सम्पूर्ण चेतन-अचेतन विधिवत् द्रव्यों को और उनके गुणों को भूत-भावी-वर्तमान सम्पूर्ण पर्यायों में सदा सर्वकाल प्रतिसमय में एक साथ जानते है अतः वह सर्वज्ञ कहे जाते हैं, उन सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् महावीर के लिये नमस्कार हो।

जैसे सूर्य अपने प्रकाश में जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत् प्रकाशित करता है, वैसे सिद्ध परमेष्ठी का केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञेयों को युगपत् जानता है।[3] यदि कहा जाए कि केवली आत्मा के एकदेश से पदार्थों का ग्रहण करता है, सो भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के सभी प्रदेशों में विद्यमान आवरणकर्म के निर्मूल नाश हो जाने पर केवल उसके एक अवयव से पदार्थों का ग्रहण मानने में विरोध आता है इसलिए प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थों को युगपत् अपने सभी अवयवों से केवली जानते हैं यह सिद्ध है।[4] ऐसा केवलज्ञान सर्वलोकालोक का स्वरूप जानता है। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है। यह लोकालोक स्वभाव से ही अनंत है, उससे भी यदि अनंतानंत विश्व है तो उसको भी जानने की सामर्थ्य केवलज्ञान में है।

केवलज्ञान इन्द्रियजन्य कभी नहीं होता क्योंकि यदि इन्द्रियजन्य हो तो सर्वद्रव्यों व उनकी सर्वपर्यायों को नहीं जान सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय में ही प्रवृत्ति कर सकती हैं। सूक्ष्म-अन्तरित-दूरवर्ती पदार्थों को वे नहीं जान सकती। जो स्वभाव से विप्रकृष्ट हों, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं जैसे—परमाणु आदि। जो काल से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें अन्तरित कहते हैं, जैसे—राम, सीता आदि। जो क्षेत्र से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें दूरवर्ती कहते हैं जैसे सुमेरु पर्वतादि।

सर्व द्रव्य-पर्यायों को जानने वाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। द्रव्य, गुण और पर्यायों के भेद का ज्ञान अन्यथा नहीं बन सकने के कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है, ऐसे ज्ञान के

---

3. **भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ।**
सव्वं वि तहा जुगवं केवलणाणं पयासेदि॥2142॥

4. **ण चेगावयवेण चेव गेण्हदि, सयलावयवगय-आवरणस्स णिम्मूलविणासे संते एगावयवेणेव गहणविरोहादो। तदो पत्तमपत्तं च अक्कमेण सयलावयवेहि जाणदि त्ति सिद्धं। —क. पा. 1**

अवयवों का नाम कला है, इन कलाओं के साथ वह अवस्थित रहता है इसलिए सकल है।

केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद सर्वोत्कृष्ट अनंतानंत स्वरूप हैं अतः केवलज्ञान में यह शक्ति है कि ऐसे अनंतानंत लोकालोक होते तो उनको भी जान लेता, किन्तु उस शक्ति की व्यक्ति उतनी ही होती है जितने कि ज्ञेय हैं। प्रवचनसार ग्रंथ में जो कहा **'णाणं णेयपमाणं'** अर्थात् ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, वह केवलज्ञान की शक्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से कहा। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अधिक हो, अतः केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या सर्वोत्कृष्ट अनंतानंत कही है। संख्या प्रमाण में इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं है।

परोक्ष ज्ञान

मतिश्रुते परोक्षे॥38॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष ज्ञान हैं।

विशेषार्थ—पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ संबंधी विज्ञान है पर परोक्ष कहा गया है। यह अस्पष्ट, अनिर्मल, अविशद होता है। अक्ष का अर्थ आत्मा है। अक्ष से जो इतर है वह पर है। आत्मा से इतर कारणों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्षज्ञान है। उपात्त और अनुपात्त इतर कारणों की प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है। यहाँ 'उपात्त' शब्द से इन्द्रियाँ व मन तथा 'अनुपात्त' शब्द से प्रकाश व उपदेशादिक का ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार गमन शक्ति से युक्त होते हुए भी स्वयं गमन करने में असमर्थ व्यक्ति का लाठी आदि आलंबन की प्रधानता से गमन होता है, उसी प्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर ज्ञान स्वभावी; परंतु स्वयं पदार्थ को ग्रहण करने में असमर्थ हुए आत्मा के पूर्वोक्त प्रत्ययों की प्रधानता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष है।

इंद्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किए जाते हैं, जो मनन करता है या मननमात्र मति कहलाता है।[1] यह मति का निरुक्त्यर्थ है। अतः पाँच इन्द्रियों और मन से जो पदार्थ का ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।[2] मतिज्ञान को आभिनिबोधिक के नाम से भी जाना जाता है। आभि + नि + बोधक 'आभि' अर्थात् अभिमुख, 'नि' अर्थात्

---

1. इन्द्रियैर्मनसा च यथासमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। –स.सि.
2. पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम्। –ध.पु. 1

नियमित पदार्थ का पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो बोध या ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक है। इंद्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य क्षेत्र में पदार्थ का अवस्थित होना अभिमुख कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने योग्य क्षेत्र में स्थित अपने नियत विषय को ही जानती है जैसे स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श नियत है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से मतिज्ञान चार प्रकार का है। इन्द्रिय और अर्थ का संबंध होने पर, सामान्यावलोकन रूप दर्शन के तुरंत बाद, जो पदार्थ का अवान्तर सत्ता रूप ज्ञान होता है उसे अवग्रह कहते हैं।[3] जैसे–यह पुरुष है। अवग्रह से ग्रहण किए गए पदार्थ को विशेष जानने के लिए अभिलाषा रूप जो ज्ञान होता है, विशेष जिज्ञासा होती है वह ईहा है।[4] जैसे–पुरुष इस प्रकार अवग्रह द्वारा गृहीत अर्थ में भाषा, आयु और रूपादि विशेषों से होने वाली आकांक्षा का नाम ईहा है। ईहा द्वारा ज्ञात पदार्थ का विशेष ज्ञान द्वारा यथार्थ निश्चय होना अवाय है।[5] जैसे–यह पुरुष 40 वर्ष का ही है आदि अवाय द्वारा ज्ञात वस्तु का जिस कारण से कालांतर में विस्मरण नहीं होता उसे धारणा कहते हैं।[6]

मतिज्ञान 336 प्रकार का भी होता है। वह इस प्रकार से है–अवग्रह दो प्रकार का होता है अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। उनमें अर्थावग्रह 5 इंद्रिय व मन से होता है। बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव, इन 12 प्रकार के पदार्थों को मतिज्ञान विषय करता है। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय आदि 6 के द्वारा हुआ अवग्रह $6 \times 12 = 72$ प्रकार का है। ईहा, अवाय और धारणा इनमें से प्रत्येक एक इंद्रिय के निमित्त से 12 प्रकार का है। 5 इंद्रिय व 1 मन के निमित्त से $72 \times 4 = 288$ भेद होते हैं।

व्यंजनावग्रह चक्षु व मन के माध्यम से नहीं होता। अतः स्पर्शनेन्द्रिय आदि 4 के द्वारा हुआ अवग्रह $12 \times 4 = 48$, व्यंजन अवग्रह के पश्चात् ईहा, अवाय, धारणा नहीं होता। इस प्रकार अर्थावग्रह के 288 व व्यंजनावग्रह के 48 कुल $288 + 48 = 336$ मतिज्ञान के भेद होते हैं।

---

3. **अक्षार्थयोगे दर्शनान्तरमर्थग्रहणमवग्रहः। –प्रमाणमीमांसा**
4. **अवग्रहगृहीतविशेषकांक्षणमीहा। –प्र. मी.**
5. **ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः। –प्र. मी.**
6. **स्मृतिहेतुर्धारणा। – प्र. मी.**

मतिज्ञान के भेद

अर्थावग्रह
(5 इं. + 1 मन) 6 x 12 पदार्थ (बहु आदि) x 4 (ईहादि)
288

व्यंजनावग्रह
(चक्षु व मन बिना) 4 x 12 पदार्थ
48

कुल भेद = 336

संज्ञा, स्मृति, मति व चिंता ये मतिज्ञान के एकार्थवाची नाम हैं।

जिसके द्वारा समीचीन रूप से जाना जाता है, वह संज्ञा है। स्मरण करना स्मृति है। मनन करना मति है। चिंतन करना चिंता है। यद्यपि ये शब्द अलग-अलग धातु से बने हैं तो भी रूढ़ि से पर्यायवाची हैं।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम परोक्ष प्रमाण के भेद हैं। स्वसंवेदनज्ञान, इन्द्रियज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान, बुद्धि और मेधा आदि सब मतिज्ञान के प्रकार हैं।

श्रुतज्ञान–मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलंबन से तत्संबंधी दूसरे पदार्थ का जो उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[7] जिस ज्ञान में मतिज्ञान का कारण पड़ता है, जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थ को छोड़कर तत्संबंधित दूसरे पदार्थ में व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[8]

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि श्रुत से श्रुत का लाभ देखा जाता है अतः श्रुत का मतिपूर्वकत्व लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त है? समाधान देते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यवधान के होने पर भी पूर्व शब्द की प्रवृत्ति होती है। जैसे मथुरा से पूर्व में पाटलिपुत्र है। इसलिए मतिपूर्व-ग्रहण में साक्षात् मतिपूर्वक और परंपरा से मतिपूर्वक भी ग्रहण किया जाता है।[9]

---

7. 'अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।।315।। –गो.जी.
8. सुदणाणं णाम मदिपुव्वं मदिणाणपडिगहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीयक्खयोवसम-जणिदं। –धवला पुं. 1
9. धवला पु. 9

श्रुतज्ञान के निमित्त से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी श्रुतज्ञान ही है। फिर भी 'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' इस सूत्र के साथ विरोध नहीं आता क्योंकि उक्त सूत्र श्रुतज्ञान की प्रारंभिक प्रवृत्ति की अपेक्षा कहा गया है।

शब्द के निमित्त से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान मुख्य है। वह दो प्रकार का है—अंगश्रुत और अंगबाह्य। अंगश्रुत 12 प्रकार का है और अंगबाह्य 14 प्रकार का है।

अंगप्रविष्ट—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवादाङ्ग ये बारह भेद अंगश्रुत वा अंग प्रविष्ट के हैं।

आचारांग—किस प्रकार उठना, बैठना, भोजन करना, खड़े होना, शयन करना, संभाषण आदि करना चाहिए इन सबका वर्णन 18000 पदों में किया गया है।[10] इस आचारांग में चर्याविधि, आठ शुद्धियों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों के भेदों की प्ररूपणा की जाती है।[11] यह मुनियों के आचरण का वर्णन करता है।[12]

सूत्रकृतांग—छत्तीस हजार (36000) पद प्रमाण सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदो स्थापना और व्यवहारधर्म क्रियाओं की दिगन्तर शुद्धि से प्ररूपणा की जाती है।

स्थानांग—यह स्वसमय व परसमय का निरूपण करता है। 42000 पदों के द्वारा एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है।

समवायांग—एक लाख चौंसठ हजार (1,64,000) पदों द्वारा सर्व पदार्थों के समवाय का वर्णन किया गया है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से प्रथम द्रव्य समवाय का कथन इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश परस्पर समान हैं। जंबूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक और नंदीश्वर द्वीपस्थ एक वापी, इनके समान रूप से एक लाख योजन विस्तार की अपेक्षा क्षेत्र की समानता होने से क्षेत्र समवाय है। समय, आवली, क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, युग, पूर्व, पर्व, पल्य, सागरादि ये परस्पर समान हैं, अर्थात् एक समय दूसरे समय के

---

10. ध. पु. 1
11. ध. पु. 9
12. जय ध. पु. 1

समान है, एक आवली दूसरी आवली के समान है, इसी तरह आगे भी समझना चाहिए। यह काल समवाय है। केवलज्ञान-केवलदर्शन समान हैं क्योंकि ज्ञेय प्रमाण ज्ञानमात्र चेतना की शक्ति की उपलब्धि होती है। यह भाव समवाय है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति–यह दो लाख अट्ठाईस हजार (2,28,000) पदों द्वारा क्या जीव है, क्या जीव नहीं है, जीव कहाँ उत्पन्न होता है, कहाँ से आता है, इत्यादिक साठ हजार प्रश्नों के उत्तरों का तथा छयानवे हजार छिन्नच्छेदों से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन करता है।

नाथ धर्मकथा वा ज्ञातृ धर्मकथा–पाँच लाख छप्पन हजार (5,56,000) पदों द्वारा सिद्धांतोक्त विधि से स्वाध्याय के प्रस्थापन में दिव्यध्वनि द्वारा दी गई धर्मदेशना की विधि का, संशययुक्त गणधरदेव के संशय को नष्ट करने की विधि का तथा बहुत प्रकार कथा व उपकथाओं के स्वरूप का कथन करता है।

उपासकाध्ययन–ग्यारह लाख सत्तर हजार (11,70,000) पदों के द्वारा श्रावक की ग्यारह प्रतिमा, श्रावक के लक्षण, व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन करता है।

अन्तकृद्दशांग–तेईस लाख अट्ठाईस हजार (23,28,000) पदों के द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन कर प्रातिहार्य (अतिशय विशेषों) को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए 10-10 अन्तकृतकेवलियों का वर्णन करता है।

श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किंबिल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दस अन्तकृतकेवली हुए हैं। इसी प्रकार अन्य 23 तीर्थंकरों के काल में भी 10-10 अन्तकृतकेवली हुए। इस अंग में उन्हीं का वर्णन किया जाता है।[13]

अनुत्तरौपपादिक दशांग–बानवे लाख चवालीस हजार (92,44,000) पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहकर और प्रातिहार्य प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में गए हुए दस-दस अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है।

5 अनुत्तरों (विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि) में जिनका उपपाद हो वे अनुत्तरौपपादिक कहलाते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनंद, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस अनुत्तरौपपादिक श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में हुए।

---

13. तत्त्वार्थभाष्य

इसी तरह अन्य 23 तीर्थंकरों के काल में भी दस-दस अनुत्तरौपपादिक हुए। इस अंग में उन्हीं 10-10 महासाधुओं का वर्णन किया जाता है जो बाद में अनुत्तर में उत्पन्न हुए।[14]

प्रश्नव्याकरणांग—तेरानवे लाख सोलह हजार (93,16,000) पदों के द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं का वर्णन करता है।

आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तशुद्धिम्।
संवेगिनीं धर्मफलप्रपञ्चां निर्वेदिनीं चाह कथां विरागाम्।।75।।[15]

तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। तत्त्व से दिशांतर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् परमत की एकांत दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है, विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेगिनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेदिनी कथा है।

विपाकसूत्रांग—एक करोड़ चौरासी लाख (1,84,00,000) पदों द्वारा पुण्य और पाप रूप कर्मों के फल का वर्णन करता है।

ग्यारह अंग के कुल पदों का जोड़ चार करोड़ पंद्रह लाख दो हजार पद है।

दृष्टिवादांग—बारहवें दृष्टिवाद अंग के 5 भेद हैं। परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म—इसके 5 भेद हैं—चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति। **चंद्रप्रज्ञप्ति** में छत्तीस लाख पाँच हजार (36,05,000) पदों द्वारा चंद्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिंब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है। **सूर्यप्रज्ञप्ति** में पाँच लाख तीन हजार (5,03,000) पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिंब की ऊँचाई, दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाशादि का वर्णन है। **जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति** तीन लाख पच्चीस हजार (3,25,000) पदों द्वारा भोगभूमि व कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है। **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति** बावन लाख छत्तीस हजार (52,36,000) पदों के द्वारा उद्धारपल्य से द्वीप व समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीपसागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** नामक परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार (84,36,000) पदों के द्वारा रूपी

14. तत्वार्थभाष्य

15. धवला पु. 1

अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल एवं अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा जीव इन सबका वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंग का **सूत्र** नामक अर्थाधिकार अठासी लाख (88,00,000) पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्त्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्तिस्वरूप ही है, अस्तिस्वरूप ही है, पृथ्वी आदि पाँच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के 363 मतों का पूर्णपक्षरूप से वर्णन करता है। त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंग का **प्रथमानुयोग** अर्थाधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है। धवला जी पुस्तक 1 में प्ररूपित है कि जिनेंद्र देव ने जगत् में 12 प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है वे समस्त पुराण, जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का, छठा प्रज्ञाश्रमणों का वंश है। सातवाँ कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नवाँ इक्ष्वाकुवंश, दसवाँ काश्यपवंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ नाथवंश है।

दृष्टिवाद अंग का **पूर्वगत** नामक अर्थाधिकार पंचानवें करोड़ पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का वर्णन करता है। इसके उत्पादपूर्वादि 14 भेद हैं जो निम्न प्रकार हैं–

उत्पादपूर्व दसवस्तुगत 200 प्राभृतों के 1 करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन करता है।

अग्रायणीयपूर्व चौदहवस्तुगत दो सौ अस्सी प्राभृतों के छयानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र अर्थात् परिमाण का कथन करता है।

वीर्यानुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एक सौ साठ प्राभृतों के सत्तर लाख पदों के द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भाववीर्य और तपवीर्य का वर्णन करता है

अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व अठारह वस्तुगत तीन सौ साठ प्राभृतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव और अजीव के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है।

ज्ञानप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान, तीन अज्ञानों का वर्णन करता है तथा द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि-अनंत और सादि-सान्त रूप ज्ञानादि तथा इसी तरह ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है।

सत्यप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचन गुप्ति, वाक्संस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्यवचन और दस प्रकार के सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है।

आत्मप्रवादपूर्व सोलहवस्तुगत तीन सौ बीस प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीव वेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है।

कर्मप्रवादपूर्व बीसवस्तुगत चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

प्रत्याख्यानपूर्व तीस वस्तुगत छह सौ प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य, भाव आदि की अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमितकालरूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन करता है।

विद्यानुवादपूर्व पन्द्रहवस्तुगत तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दस लाख पदों द्वारा अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

कल्याणवादपूर्व दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चारक्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहंत अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है।

प्राणावायपूर्व दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों द्वारा शरीर चिकित्सादि अष्टांग, आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किए गए भस्मलेपन, सूत्रबन्धनादि कर्म, जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेदप्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

क्रियाविशालपूर्व दसवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों द्वारा लेखनकलादि बहत्तर कलाओं का, स्त्रीसंबंधी चौंसठ गुणों का, शिल्पकला का, काव्यसम्बंधी गुणदोष विधि का और छन्दनिर्माण कला का वर्णन करता है।

लोकबिन्दुसारपूर्व दसवस्तुगत दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्षसुख का वर्णन करता है।

इन चौदह पूर्वों में संपूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पच्चानवे (195) और संपूर्ण प्राभृतों का जोड़ तीन हजार नौ सौ (3900) है।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है। उनमें से **जलगता चूलिका** दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ (2,09,89,200) पदों द्वारा जल में गमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन करती है। **स्थलगता चूलिका** उतने ही 2,09,89,200 पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण रूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि-संबंधी दूसरे शुभाशुभ कारणों का वर्णन करती है। **मायागता चूलिका** उतने ही 2,09,89,200 पदों द्वारा इंद्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है। **रूपगता चूलिका** उतने ही 2,09,89,200 पदों द्वारा सिंह, घोडा और हरिणादि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्मादि के लक्षण का वर्णन करती है।

आकाशगता चूलिका उतने ही 2,09,89,200 पदों द्वारा आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दस करोड़ उनन्चास लाख छयालीस हजार (10,49,46,000) पद है।

अंगबाह्य–अंगबाह्य श्रुत चौदह प्रकार का है–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका।

सामायिक–नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक, क्षेत्रसामायिक, कालसामायिक और भावसामायिक इन छह भेदों द्वारा समता भाव के विधान का वर्णन करना सामायिक है। **चतुर्विंशतिस्तव अधिकार** उस-उस काल संबंधी चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच कल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थंकरों की वंदना की सफलता का वर्णन करता है। **वंदना अधिकार** एक जिन की वंदना की निर्दोषता

का ज्ञान कराकर वंदना के भेद व उनके फलों का निरूपण करता है। **प्रतिक्रमण अधिकार** दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमस्थानिक इन प्रकार के प्रतिक्रमणों को कहता है। **वैनयिक प्रकीर्णक** ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय व औपचारिक विनय इन पाँचों विनयों के लक्षण भेद व फल का कथन करता है। **कृतिकर्म प्रकीर्णक** पंचपरमेष्ठी की पूजा विधि का कथन करता है। जिनदेव, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु की वंदना करते समय जो क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म है। उस कृतिकर्म के आत्माधीन होकर किए गए तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

दशवैकालिक प्रकीर्णक विशिष्ट काल विकाल है। उसमें जो विशेषता होती है वह वैकालिक है। वे वैकालिक दस हैं। उन दस वैकालिकों का दशवैकालिक नामक अर्थाधिकार (प्रकीर्णक) है। यह दशवैकालिक प्रकीर्णक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय कर आचारविषयक विधि व भिक्षाटन विधि की प्ररूपणा करता है।

उत्तराध्ययन प्रकीर्णक जिसमें अनेक प्रकार के उत्तर मिलते हैं जैसे-22 परीषहों को सहने की विधि आदि वह उत्तराध्ययन प्रकीर्णक है।

कल्पव्यवहार कल्प्य नाम योग्य का है और व्यवहार नाम आचार का है। योग्य आचार का नाम कल्प्यव्यवहार है। साधुओं को पीछी, कमंडलु, कबली (ज्ञानोपकरण विशेष) और पुस्तकादि जो जिस काल में योग्य हो उसकी प्ररूपणा करता है तथा अयोग्य-सेवन और योग्य-सेवन न करने के प्रायश्चित की प्ररूपणा कल्प्यव्यवहार प्रकीर्णक करता है।

द्रव्य-क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है इन सबका कथन **कल्प्याकल्प्य** प्रकीर्णक करता है।

महाकल्प्य प्रकीर्णक दीक्षा ग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमस्थान रूप आराधना को प्राप्त हुए साधुओं के जो करने योग्य है उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्ररूपण करने वाला महाकल्प्य प्रकीर्णक है।

पुंडरीक प्रकीर्णक भवनवासी, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिक संबंधी इंद्र और सामानिक आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व, संयम और अकामनिर्जरा का तथा उनके उपपाद स्थान और भवनों का वर्णन पुंडरीक प्रकीर्णक करता है।

महापुंडरीक प्रकीर्णक काल का आश्रय लेकर देवेन्द्र,चक्रवर्ती, बलदेव व वासुदेवों में उत्पत्ति का वर्णन महापुण्डरीक प्रकीर्णक करता है अथवा समस्त इन्द्र व प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारणरूप, तपोविशेष आदि आचरण का यह महापुंडरीक प्रकीर्णक वर्णन करता है।

निषिद्धिका प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि कहते हैं और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित के प्रतिपादन करने वाले प्रकीर्णक को निषिद्धिका कहते हैं।

श्रुतज्ञान के द्रव्य और भाव के भेद से भी दो भेद हैं। आचारांग आदि बारह अंग, उत्पादपूर्वादि चौदह पूर्व और सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत होता है और इनके सुनने से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है वह भाव श्रुत कहलाता है। पुद्गल द्रव्य स्वरूप अक्षर पटादिक रूप से द्रव्यश्रुत है और उनके सुनने से श्रुतज्ञान की पर्याय रूप जो उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह भावश्रुत है।

प्रवचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसंनिकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय्य, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञान के पर्याय नाम हैं।

एतावता मतिज्ञान व श्रुतज्ञान इन दोनों परोक्ष प्रमाण का कथन यहाँ पूर्ण करते हैं।

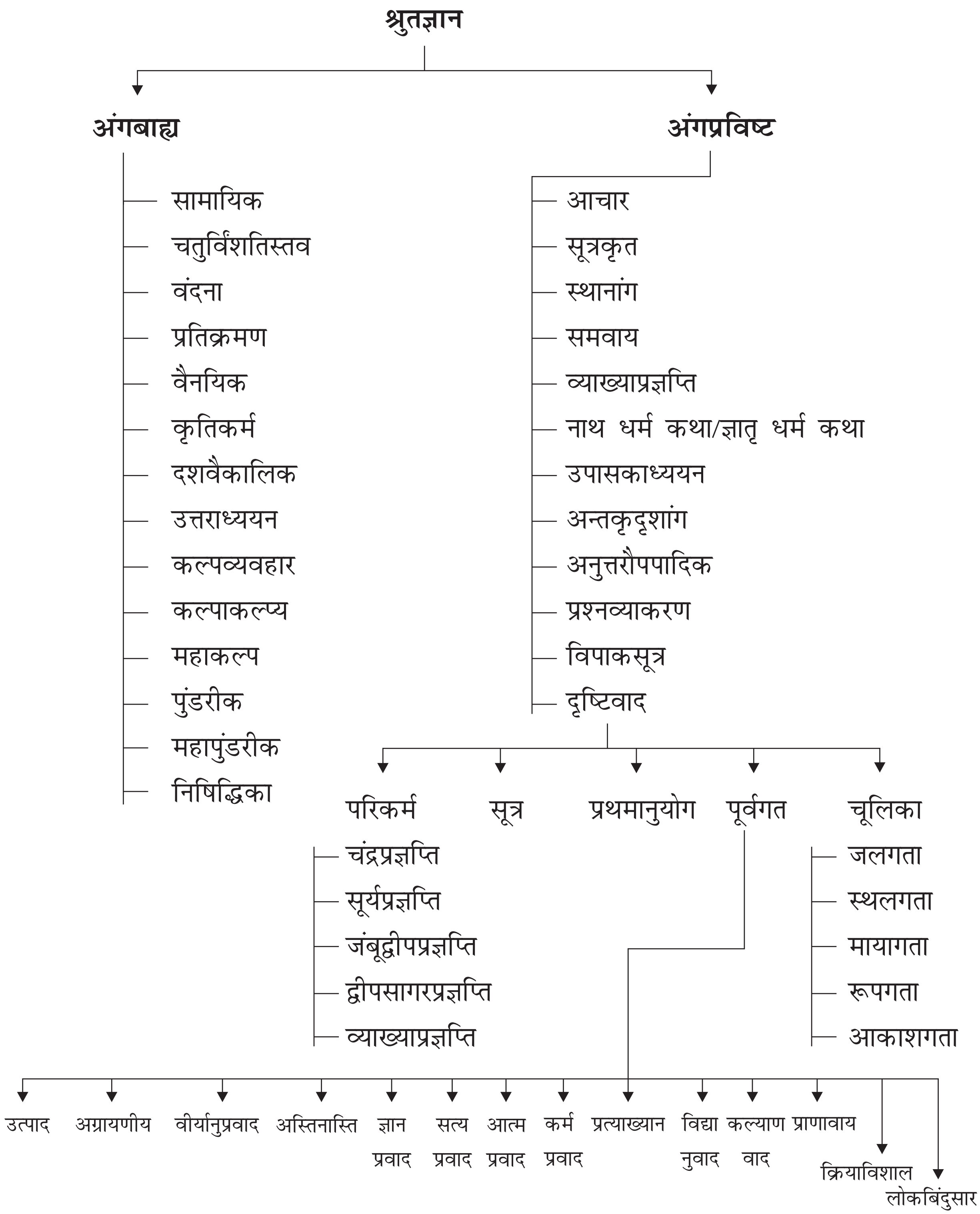
श्रुतज्ञान
अंगबाह्य
सामायिक
चतुर्विंशतिस्तव
वंदना
प्रतिक्रमण
वैनयिक
कृतिकर्म
दशवैकालिक
उत्तराध्ययन
कल्पव्यवहार
कल्पाकल्प्य
महाकल्प
पुंडरीक
महापुंडरीक
निषिद्धिका
अंगप्रविष्ट
आचार
सूत्रकृत
स्थानांग
समवाय
व्याख्याप्रज्ञप्ति
नाथ धर्म कथा/ज्ञातृ धर्म कथा
उपासकाध्ययन
अन्तकृद्दशांग
अनुत्तरौपपादिक
प्रश्नव्याकरण
विपाकसूत्र
दृष्टिवाद
परिकर्म
सूत्र
प्रथमानुयोग
पूर्वगत
चूलिका
चंद्रप्रज्ञप्ति
सूर्यप्रज्ञप्ति
जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
व्याख्याप्रज्ञप्ति
जलगता
स्थलगता
मायागता
रूपगता
आकाशगता
उत्पाद
अग्रायणीय
वीर्यानुप्रवाद
अस्तिनास्ति
ज्ञान प्रवाद
सत्य प्रवाद
आत्म प्रवाद
कर्म प्रवाद
प्रत्याख्यान
विद्या नुवाद
कल्याण वाद
प्राणावाय
क्रियाविशाल
लोकबिंदुसार

नयअधिकार

नय का लक्षण

तदवयवा नयाः॥39॥

अर्थ–प्रमाण के अवयव नय हैं।

विशेषार्थ–प्रमाण सामान्य-विशेषात्मक पूरी वस्तु को एक साथ जानता है और नय उसके किसी एक अंश को, किसी एक अवयव को मुख्य करके जानता है अतएव नय को प्रमाण का अवयव भी कहते हैं। न्यायावतार में आचार्य श्री सिद्धसेन जी ने कहा भी है–

अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः॥29॥

वस्तु-अनन्तधर्मात्मक है अतः उसका विशेष स्वरूप हम नयों द्वारा ही जान सकते हैं अन्यथा नहीं। जैसे प्रमाण नयों की जन्मस्थली है, वह अनंतधर्मात्मक संपूर्ण वस्तु को विषय करता है जबकि नय वस्तु के केवल एक अंश को ही ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी वस्त्र विशेष के विषय में जानना चाहते हैं तो प्रमाण उस अनंतधर्मात्मक वस्त्र को युगपत् 'यह वस्त्र है' इतना ही कहेगा, किन्तु वह सफेद वर्ण का भी है, कॉटन का भी है, पाँच मीटर भी है, इत्यादि प्रकार की स्पष्ट जानकारी नयों द्वारा ही प्राप्त होती है अन्यथा नहीं। अथवा यदि हम सेब के विषय में जानना चाहते हैं तो प्रमाण युगपत् इतना ही कहेगा 'यह सेब है' किन्तु वह लाल रंग का भी है, मीठा भी है, सुगंधित भी है–इत्यादि कथन नय करता है।

यदि हम जीव को जानना चाहते हैं तो प्रमाण तो सामान्य विशेषात्मक संपूर्ण चैतन्यवस्तु को युगपत् 'जीव' ऐसा बताएगा किन्तु वह द्रव्य की अपेक्षा एक है, अखंड है, नित्य है, इत्यादि और पर्याय की अपेक्षा अनेक है, भेद रूप है, अनित्य है इत्यादि इस प्रकार स्पष्ट कथन नयों द्वारा ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं क्योंकि नय ही इस प्रकार से एक-एक धर्म को क्रम-क्रम से मुख्य करके समझा सकते हैं, प्रमाण नहीं, क्योंकि प्रमाण में क्रमिकता और मुख्य गौण व्यवस्था नहीं होती।

नयों की यही उपयोगिता है कि वे अनंतधर्मात्मक वचन अगोचर वस्तु के स्वरूप को उसके एक-एक धर्म को मुख्य करते हुए और अन्य-अन्य धर्मों को गौण करते हुए कथन करने में उपकारी सिद्ध होते हैं।

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी धवला जी पु. 9 में कथन करते हैं–

शंका–नय क्या है?

समाधान-ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

शंका–अभिप्राय इसका क्या अर्थ है?

समाधान–प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। (स्पष्ट ज्ञान होने से पूर्व तो) युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ के ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक को ग्रहण करने का नाम नय है। (और स्पष्ट ज्ञान होने के पश्चात्) प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में अर्थात् सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं, ऐसा अभिप्राय है। अन्य भी कहा है–

इदि तं पमाणविसयं सत्तारूवं खु जं हवे दव्वं।
णयविसयं तस्सं सं सियभणितं तं पि पुव्वुत्तं।।247।। न. च. वृ.

केवल सत्तारूप द्रव्य अर्थात् संपूर्ण धर्मों की निर्विकल्प अखंड सत्ता प्रमाण का विषय है और जो उसके अंश अर्थात् अनेक धर्म कहे गए हैं वे नय के विषय हैं।

प्रकर्ष से अर्थात् संशयादि से रहित वस्तु का ज्ञान प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि जो समस्त धर्मों को विषय करने वाला हो वह प्रमाण है, उससे प्रकाशित उन अस्तित्व आदि व नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनंत धर्मात्मक जीवादिक पदार्थों के जो विशेष अर्थात् पर्यायें हैं उनका प्रकर्ष से अर्थात् संशय आदि दोषों से रहित होकर निरूपण करने वाला नय है।[1] इसी बात को नयचक्रवृत्ति में भी उल्लिखित किया है–

अत्थित्ताइसहावा सत्वासब्भाविणो ससब्भावा।
उहयं जुगवपमाणं गहइ णओ गउणमुक्खभावेण।।71।।

अस्तित्व आदि जितने भी वस्तु के निज स्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करने वाला प्रमाण है और उन्हें गौण मुख्य भाव से ग्रहण करने वाला नय है।

अतः प्रमाण से गृहीत वस्तु में जो एकांत रूप व्यवहार होता है वह नयनिमित्तक है। **'सम्यगेकान्तो नयः'** सम्यक् एकांत नय कहलाता है। **'सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्'** सम्यक् अनेकांत प्रमाण कहलाता है। प्रमाण विवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चय स्वरूप होने के कारण अनेकांत है और नय विवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय कराने वाली होने से एकांत है। प्रमाण संपूर्ण वस्तु को व नय उसके एक अंश को ग्रहण करता है अतः नय प्रमाण का अवयव कहलाता है।

---

1. धवला. पु. 9

नय भेद कथन

नयभेदा उच्यन्ते।।40।।

अर्थ–नय के भेदों को कहते हैं।

विशेषार्थ–वस्तु अनंतधर्मात्मक है, अतः वास्तव में नय अनंत हैं।[1] ज्ञानी वक्ता और उनके वचनविकल्प असंख्य हैं अतः इस अपेक्षा से नय असंख्य भी कहे गए हैं।[2] अतः नय के दो, तीन, चार, सात, सैंतालीस आदि भेद भी शास्त्रों में कहे गए हैं। नय के मुख्यता दो भेद इस प्रकार कहे गए हैं–निश्चयनय व व्यवहारनय **'व्यवहारनय किल पर्याया श्रित्वात्' 'निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रित्वात्'** व्यवहार नय पर्याय के आश्रय है और निश्चय नय द्रव्य के आश्रय है। इसके दो भेद द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय भी हैं अथवा द्रव्यनय और भावनय के भेद से भी यह दो प्रकार का है। प्रमाण–परिगृहीत वस्तु के एकदेश को कहने वाला पौद्गलिक शब्द या वाक्य द्रव्यनय है और जीव का वैसा ज्ञान भावनय है अर्थात् द्रव्य नय शब्दात्मक है और भावनय ज्ञानात्मक है।[3]

नय के तीन भेद भी कहे जाते हैं–शब्दनय, अर्थनय व ज्ञाननय। प्रत्येक वस्तु तीन प्रकार की है–शब्दात्मक, अर्थात्मक और ज्ञानात्मक;अत उसको ग्रहण करने वाला नय भी तीन प्रकार का है।[4] जैसे आम तीन प्रकार का है शब्द-आम, अर्थ-आम और ज्ञान आम। शब्द रूप या वचनरूप को शब्द-आम कहते हैं, स्पर्श-रस-गंध-वर्णमय भक्ष्य वस्तु को अर्थ आम कहते हैं और ज्ञान में प्रतिबिम्बित आम के ज्ञानाकार को ज्ञान-आम कहते हैं इनमें से शब्दात्मक आम को ग्रहण करने वाला शब्दनय है, अर्थात्मक आम को ग्रहण करने वाला अर्थनय है और ज्ञानात्मक आम को ग्रहण करने वाला ज्ञाननय है।

नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय के भेद से नय चार प्रकार का भी कहा गया है। निक्षेप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु चार प्रकार की है–नामरूप, स्थापनारूप, द्रव्यरूप और भावरूप अतः उसे ग्रहण करने वाला नय भी चार प्रकार का है। जैसे गणधर के चार भेद–नामगणधर, स्थापनागणधर, द्रव्यगणधर और भावगणधर। कोई भी सामान्य व्यक्ति जिसका नाम गणधर है वह नामगणधर है, मूर्ति आदि में स्थापित गणधर स्थापना गणधर है। जो

---

1. द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति विभिद्यमानाः बहुविकल्पा जायन्ते।' –सर्वार्थसिद्धि
2. 'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। –ध.पु.1
3. पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्य भावश्च चिदिति जीवगुणः।।505।। पंचाध्यायी
4. शब्दज्ञानार्थरूपेणंत्रिधाभिधेयतां समयशब्दस्य।। पंचास्तिकाय ता.वृ.

पुण्यवान् गणधर होगा या केवली जो गणधर हो चुके द्रव्यगणधर हैं और वर्तमान में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि झेलने वाले भावगणधर हैं। इनमें नामगणधर को ग्रहण करने वाला नामनय, स्थापनागणधर को ग्रहण करने वाला स्थापना नय है, द्रव्यगणधर को ग्रहण करने वाला द्रव्यनय है और भाव गणधर को ग्रहण करने वाला भावनय है।

नैगमादि सात भेद आगम में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं जिनको ग्रंथकार स्वयं आगे कहेंगे। अथवा अस्तित्व नय, नास्तित्वनय, अस्तिनास्तित्व नय, अवक्तव्य नय, अस्तित्व अवक्तव्य नय, नास्तित्व अवक्तव्य नय और अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य नय की अपेक्षा भी नय 7 प्रकार का कहा गया है। वस्तु की कथन शैली स्याद्वाद कहलाती है। वस्तु के प्रतिपादन के स्यादस्ति आदि सात ही भंग होते हैं। उस सप्तभंगी को ग्रहण करने वाला नय भी सात प्रकार का होता है। 'आम कथंचित् है' स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव की अपेक्षा। 'आम कथंचित् नहीं है' परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा। 'आम किसी अपेक्षा से आम है और किसी अपेक्षा से नहीं है' स्वद्रव्यादि व परद्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति-नास्ति स्वभाव वाला है। 'आम कथंचित् अवक्तव्य है' एक साथ (युगपत्) स्व है पर चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। 'आम कथंचित् अस्ति अवक्तव्य है' द्रव्य रूप से अस्तित्व और एक युगपत् द्रव्य व पर्याय को मिला के योजन करने से अस्ति अवक्तव्य रूप विवक्षित है। 'आम कथंचित् नास्ति अवक्तव्य है 'परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्व-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व अवक्तव्य है। 'आम कथंचित् अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।' क्रम से तथा युगपत् देखने पर अस्तित्व व नास्तित्व वाला अवक्तव्य है। इनमें भंगों के अनुसार कथन करने वाला वह-वह नय कहलाता है।

आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी ने प्रवचनसार की तत्त्व प्रदीपिका टीका में नय के सैंतालीस भेदों का वर्णन किया है जो आत्मा पर घटित किए गए हैं। जो इस प्रकार हैं–

1. **द्रव्यनय–**आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है।
2. **पर्यायनय–**आत्मा तन्तुमात्र की भाँति दर्शनज्ञानादि मात्र है।
3. **अस्तित्वनय–**स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा आत्मा अस्तित्व वाला है।
4. **नास्तित्वनय–**परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व वाला है।
5. **अस्तित्व-नास्तित्व नय–**क्रमशः स्व-पर चतुष्टय भाव से अस्तित्व-नास्तित्व वाला है।
6. **अवक्तव्य नय–**युगपत् स्वपर चतुष्टय से अवक्तव्य है।

7. **अस्तित्व अवक्तव्य नय**–स्वचतुष्टय से तथा युगपत् स्व-पर चतुष्टय से अस्तिअवक्तव्य है।
8. **नास्तित्व अवक्तव्य नय**–परचतुष्टय से तथा युगपत् स्व-पर-चतुष्टय से नास्ति अवक्तव्य है।
9. **अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नय**–स्वचतुष्टय से, परचतुष्टय से और युगपत् स्व-पर-चतुष्टय से अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य है।
10. **विकल्पनय**–बालक, कुमार व वृद्ध ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प (भेदरूप) है।
11. **अविकल्पनय**–एक पुरुष मात्र की भाँति अविकल्प (अभेदरूप) है।
12. **नामनय**–आत्मा शब्द ब्रह्मस्पर्शी है।
13. **स्थापना नय**–मूर्ति की भाँति सकल पुद्गलालम्बी है।
14. **द्रव्य नय**–अतीत-अनागत पर्यायों से ज्ञात होता है।
15. **भावनय**–वर्तमान पर्याय से प्रकाशित होता है।
16. **सामान्य नय**–हार में डोरे की भाँति सर्व गुण पर्यायों में व्यापक है।
17. **विशेष नय**–हार में एक मोती की भाँति अव्यापक है।
18. **नित्य नय**–नट की भाँति अवस्थायी है। आत्मा स्थायी है।
19. **अनित्य नय**–राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है।
20. **सर्वगत नय**–खुली हुई आँख की भाँति सर्ववर्ती है।
21. **असर्वगत नय**–बंद हुई आँख की भाँति आत्मवर्ती है।
22. **शून्य नय**–शून्य घर की भाँति एकाकी है।
23. **अशून्य नय**–लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।
24. **ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय**–ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है।
25. **ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय**–पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति अनेक है।
26. **नियतनय**–आत्मा नियत स्वभाव रूप भासित होता है, जिसकी ऊष्णता नियमित होती है ऐसी अग्नि की भाँति।
27. **अनियतनय**–अनियत स्वभावरूप भासित होता है, जिसकी ऊष्णता नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति।

28. **स्वभावनय**—संस्कार को निरर्थक करने वाला है, जिसकी किसी से नोंक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटे की भाँति।

29. **अस्वभावनय**—संस्कार को सार्थक करने वाला है, जिसकी लुहार के द्वारा नोंक निकाली गयी है, ऐसे पैने बाण की भाँति।

30. **कालनय**—जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकने वाले आम्र फल की भाँति।

31. **अकालनय**—जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।

32. **पुरुषाकारनय**—जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषाकार से नींबू का वृक्ष प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषाकारवादी की भाँति।

33. **दैवनय**—जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है ऐसा है, पुरुषाकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबू के वृक्ष के तीर से जिसे माणिक प्राप्त हो जाता है, ऐसे दैववादी की भाँति।

34. **ईश्वरनय**—परतंत्रता भोगने वाला है धाय की दुकान पर दूध पिलाए जाने वाले राहगीर के बालक की भाँति।

35. **अनीश्वरनय**—स्वतंत्रता भोगने वाला है, हिरन को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह की भाँति।

36. **गुणीनय**—गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाँति।

37. **अगुणीनय**—केवल साक्षी ही है।

38. **कर्तृनय**—रंगरेज की भाँति रागादि परिणामों का कर्त्ता है।

39. **अकर्तृनय**—केवल उसका साक्षी है, अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखने वाले पुरुष की भाँति।

40. **भोक्तृनय**—सुख-दुःखादि का भोक्ता है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खाने वाले रोगी की भाँति।

41. **अभोक्तृनय**—केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खाने वाले रोगी को देखने वाले वैद्य की भाँति।

42. **क्रियानय**—अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि साधित हो ऐसा है, खंभे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाए, ऐसे अंधे की भाँति।

43. **ज्ञाननय**–विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधित हो ऐसा है, मुट्ठीभर चने देकर चिंतामणि रत्न खरीदने वाले घर के कोने में बैठे व्यापारी की भाँति।

44. **व्यवहारनय**–आत्मा बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने वाला है, बंधक और मोचक अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होने वाले और उससे वियुक्त होने वाले परमाणु की भाँति।

45. **निश्चयनय**–बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करने वाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंध मोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति।

46. **अशुद्धनय**–घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति सोपाधि स्वभाव वाला है।

47. **शुद्धनय**–केवल मिट्टी मात्र की भाँति, निरुपाधि स्वभाव वाला है। इस प्रकार नय के कई भेद हैं।

णिच्छयववहारणया मूलभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह।।4।।

अर्थ–संपूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय से दो मूल भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन का हेतु अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ–नय के दो मूल भेद कहे गए हैं–निश्चय नय व व्यवहार नय।

निश्चय नय अभेद का वाची है जबकि व्यवहार भेद रूप कथन करने वाला है। पंचाध्यायी में कहा है–

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्दो निर्विकल्पकः।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्दः सविकल्पकः।।134।।

संपूर्ण शुद्ध अर्थात् निश्चय नय एक निर्द्वन्द और निर्विकल्प है तथा व्यवहार नय अनेक सद्वन्द और सविकल्प है।

निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है क्योंकि द्रव्य निश्चय नय का विषय है तथा व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है क्योंकि व्यवहार नय का विषय पर्याय है।

जैन दर्शन में वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक माना है। अतः वस्तु के मूल अंश दो हैं–द्रव्य व पर्याय। शेष सभी का इन्हीं में अंतर्भाव हो जाता है। अतः इन दोनों को जानने वाले, विषय करने वाले मूल नय भी दो जानने चाहिए–निश्चय व व्यवहार।

नय के भेद

द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकः नैगमः संग्रहः व्यवहारः ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढः एवंभूत इति नवनयाः स्मृताः।।41।।

अर्थ–द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़ नय, एवंभूत नय ये नव नय माने गए हैं।

विशेषार्थ–यहाँ आचार्य श्रीमद्देवसेन स्वामी नय के नौ भेदों का प्ररूपण करते हैं। नय के मूल में दो भेद कहे जा सकते हैं–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। शेष 7 का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। जैसे तत्त्व सात होते हैं किन्तु जीव व अजीव इन दो में अन्य 5 का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय में प्रारंभिक तीन नय अर्थात् नैगम, संग्रह व व्यवहार नय और पर्यायार्थिक नय में अंतिम चार नय अर्थात् ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत नय अन्तर्निहित हो जाते हैं कहा भी है–

तित्थयर-वयण-संगह-विसेस-पत्थार-मूल वायरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं।।15।। –धवला जी 1

तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद हैं।

जो द्रव्य को अपना प्रयोजन बताए जिसकी दृष्टि सदैव द्रव्य पर जाती है वह द्रव्यार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि सदा द्रव्य पर वैसे ही रहती है जैसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि मोक्ष पर रहती है। जैसे कैमरे से फोटो लेने पर वह देहयष्टि वस्त्राभूषणादि ग्रहण करता है और एक्स-रे मशीन अंतरंग अस्थियों को ग्रहण करता है। एक का प्रयोजन बाह्य रूप को ग्रहण करना है दूसरे का प्रयोजन अंतरंग हड्डियों को। इसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन द्रव्य को ग्रहण करना है और पर्यायार्थिक नय का पर्यायों को ग्रहण करना है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रों के आधारभूत हैं, इसलिए उन्हें मूल व्याख्याता कहा गया है।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। उनमें सामान्य (द्रव्य) को विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष (पर्याय) को विषय करना पर्यायार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार द्रव्यार्थिक नय में ही अन्तर्निहित हो जाते हैं। अभेद को विषय करने वाला संग्रह व भेद को विषय करने वाला व्यवहार नय है। ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नय की क्रमशः शुद्ध व अशुद्ध प्रकृति है। कहा भी है–

दव्वट्ठिय-णय-पयई सुद्धा संगह-परूवणा-विसयो।
पडिरूवं पुण वयणत्थ-णिच्छयो तस्स ववहारो॥6॥

संग्रह नय की प्ररूपणा को विषय करना द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति है।

जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरूप है इस प्रकार द्रव्य को अभेद रूप से ग्रहण करता है तब तक वह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिए। यह ही संग्रह नय है। सत्स्वरूप जो द्रव्य है उसके जीव व अजीव ये दो भेद हैं। जीव के संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये पाँच भेद हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदों की अपेक्षा अभेद को स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेद रूप से वस्तु को ग्रहण करता है तब वह अशुद्ध प्रकृति समझना चाहिए। विशेषता यह है कि वस्तु में चाहे कितने ही भेद किए जायें परंतु वे काल निमित्तक नहीं होने चाहिए क्योंकि वस्तु में कालनिमित्तक भेद की प्रधानता से ही पर्यायार्थिक नय का अवतार होता है। द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति में द्रव्यभेद या सत्ता भेद ही इष्ट है, कालनिमित्तक भेद इष्ट नहीं है।

संग्रह और व्यवहार को छोड़कर जो नहीं रहता, जो केवल एक को ही प्राप्त नहीं है अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह नैगम नय कहलाता है अर्थात् संग्रह व असंग्रह रूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगम नय है।

पुनः ऋजुसूत्रादि नयों का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में होता है।

मूलणिमेणं पज्जव-णयस्स उज्जुसुद-वयण-विच्छेदो।
तस्स दु सद्दादीया साहुपसाहा सुहुमभेया॥6॥ –ध. 1

ऋजुसूत्र वचन का विच्छेद रूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नय का मूल आधार है और शब्दादिक नय शाखा-उपशाखा रूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं।

वर्तमान समयवर्ती पर्याय को विषय करना ऋजुसूत्र नय है। जब से कालनिमित्तक भेद प्रारंभ होता है तभी से ही ऋजुसूत्र नय का भी प्रारंभ होता है। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीन नयों का विषय भी वर्तमान पर्याय मात्र है। किन्तु ये तीनों ही ऋजुसूत्र नय से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम माने गए हैं क्योंकि शब्दनय ऋजुसूत्र के विषय में ही लिंगादि से भेद करता है, समभिरूढ़ नय शब्दनय से स्वीकार किए गए लिंगादि वाले शब्दों में व्युत्पत्ति

भेद से अर्थभेद करता है और पर्यायशब्द को उस शब्द से ध्वनित होने वाले क्रियाकाल में ही वाचक मानने वाला एवंभूत नय समझना चाहिए।

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जव-णयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं॥8॥

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं और पूर्व-पूर्व पर्यायों का नाश होता है किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाव वाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न ही कभी नाश होता है।

नैगम नय–जो अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करता है, उसे नैगम नय कहते हैं। जैसे–महिला चावल साफ कर रही है। किसी ने पूछा क्या कर रही हो। तब उसने उत्तर दिया–खीर बना रही हूँ। महिला मात्र चावल बीन रही है, खीर बनी नहीं है किन्तु खीर बनाने के संकल्प मात्र को ग्रहण किया है, अतः यह नैगम नय है। इस प्रकार का जितना व्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के अवलंबन से संकल्प मात्र को विषय करता है वह सब नैगम नय का विषय है।

संग्रहनय–भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय संग्रह नय है। जैसे–फल ऐसा कहने पर सभी प्रकार के फलों का ग्रहण हो जाता है। वृक्ष–ऐसा कहने पर नीम, आम्र आदि सभी वृक्षों का ग्रहण हो जाता।

व्यवहार नय–संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों का विधि पूर्वक भेद करना व्यवहार नय है। जैसे–फलों में लाल रंग के छिलके वाले फल, लाल रंग के छिलके वालों में भी जिनमें बीज हों वे फल अथवा वृक्षों में वे वृक्ष जिन पर भक्ष्य फल न आते हों, उनमें भी जो औषधि के लिए प्रयुक्त होते हैं, उनमें भी जो 24 घंटे ऑक्सीजन देते हों। इस प्रकार संग्रह नय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गई है, उनमें उत्तर भेदों के कथन हेतु व्यवहार नय का आश्रय लिया जाता है।

ऋजुसूत्रनय–ऋजुसूत्र नय भूत-भविष्य में व्याप्त त्रिकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण न करके मात्र वर्तमानकाल के पदार्थ (पर्याय) को ही ग्रहण करता है। वर्तमान काल वस्तुतः एक समय का है। अतः जो नय मात्र एक समय की पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है अथवा स्थूल अपेक्षा से मनुष्यादि पर्याय भी ऋजुसूत्र नय का विषय मानी गयी हैं

शब्दनय–शब्द नय समस्त पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक मानता है, परंतु उनमें लिंग, संख्या, साधनादि का व्यभिचार नहीं होना चाहिए। जैसे–गृह के निकेतनम्, भवनम्, सद्म, वेश्म, निशांतम्, सदनम् आदि नपुंसक लिंग वाले एकार्थवाची शब्दों को एक यह नय साथ ग्रहण करेगा किन्तु निलयः, आलयः, निकाय्यः आदि पुल्लिंग रूप हैं यद्यपि एकार्थवाची हैं किन्तु व्यभिचार होने से इन्हें ग्रहण नहीं करेगा।

समभिरूढ़नय–जो नय शब्द के नाना अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक ही अर्थ को रूढ़ होने से सही स्वीकार करता है वह समभिरूढ़ नय है। जैसे–हरि शब्द के बंदर नारायण आदि अर्थ पाए जाते हैं किन्तु समभिरूढ़ नय से 'हरि' शब्द का अर्थ नारायण ही स्वीकार्य है।

एवंभूतनय–जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है तद्‌रूप क्रिया से परिणत समय से ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं, ऐसा जिस नय का अभिप्राय है वह एवंभूत नय है। जैसे पुजारी, पूजा करते समय ही वह पुजारी है, चिकित्सक से इलाज कराते हुए वह पुजारी नहीं रोगी है।

इन नयों को आगे ग्रंथकार स्वयं कहेंगे तब और विस्तार से जानने का प्रयास करेंगे।

उपनय कथन

उपनयाश्च कथ्यन्ते।।42।।

अर्थ–अब उपनयों का कथन करते हैं।

विशेषार्थ–नय के भेदों को कहने के पश्चात् उपनयों का कथन करते हैं। उपनय नय तो नहीं हैं किन्तु नय जैसा कार्य करते हैं। जैसे दुकान में स्टाफ है। कोई व्यक्ति दुकान पर आता है और यदि मालिक नहीं मिलता तो स्टाफ से मिलता है अथवा मालिक नहीं है तो मैनेजर से मिलता है। मैनेजर या स्टाफ मालिक नहीं है किन्तु मालिक के संकेत से उस व्यक्ति का काम मैनेजर के माध्यम से हो जाता है। इसी प्रकार उपनय, नय नहीं हैं, किन्तु उसके समीप हैं। जितनी विवक्षा है उतने उपनय हो सकते हैं। मूल का काम करते हुए भी मूल नहीं हैं, नय का काम करते हुए भी जो नय नहीं, उपनय हैं उनका कथन अब करते हैं।

उपनय लक्षण

नयानां समीपा उपनयः।।43।।

अर्थ–जो नयों के समीप में रहें, उन्हें उपनय कहते हैं।

विशेषार्थ–'उप' उपसर्ग को समीपवर्ती के अर्थ में लिया जाता है। जैसे उपवास–आत्मा के समीप वास करना, उपासना–आराध्य के समीप पहुँच पूजार्चनादि करना, उपाध्यक्ष–अध्यक्ष के समीप, उपमंत्री–मंत्री के समीप उपदेश–देशना के समीप। इसी प्रकार उपनय अर्थात् नयों के समीप। यदि ये स्वयं नय (मुख्य) बन जाएँ तो भी उपनय नहीं रहेंगे और यदि नयों से दूर चलें जाएँ तो भी उपनय नहीं रहेंगे। ये नयों का अनुवर्ती कार्य करने वाले होते हैं। व्याख्या करने की पद्धति, उपदेश के भाव, वक्ता के अभिप्राय आदि को समझने के लिए ये उपकारी सिद्ध होते हैं। यह उपनय भी वस्तु के यथार्थ धर्म का कथन करता है, अयथार्थ धर्म का कथन नहीं करता, इसलिए इसके द्वारा भी वस्तु का यथार्थ बोध होता है।

'आत्मन उपसमीपे प्रमाणादीनां वा तेषामुपसमीपे नयतीत्युपनयः' –सं.न. चक्र।

जो आत्मा के या उन प्रमाणादिकों के अत्यंत निकट पहुँचाता है वह उपनय है।

ये नय के भाँति ही ज्ञाता के अभिप्राय, वक्ता के अभिप्राय स्वरूप होते हैं, निक्षेपादि को देखकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं।

नयों का विषय उपचार से उपनय है। इनका समूह वस्तु है क्योंकि इसके बिना अर्थ क्रियाकारित्व नहीं बन सकता।[1] नय की शाखा–प्रशाखा उपनय है।[2]

उपनय के भेद

सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहारः उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेत्युपनयास्त्रेधाः॥44॥

अर्थ–सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित–असद्भूत व्यवहार ये उपनय के तीन भेद हैं।

यहाँ सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित–असद्भूत व्यवहार के भेद से उपनय तीन प्रकार के कहे गए हैं। **'उपनयोपजनितो व्यवहारः'** उपनय से व्यवहार नय उत्पन्न होता है। प्रमाण नय व निक्षेपात्मक वस्तु का भेद व उपचार द्वारा भेद व अभेद करने को व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न–व्यवहार नय उपनय से कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर–क्योंकि सद्भूत रूप उपनय तो अभेद रूप वस्तु में भेद उत्पन्न करता है और असद्भूत रूप उपनय भिन्न वस्तुओं में अभेद का उपचार करता है।

---

1. एतेषां नयानां विषयउपनयः उपचारात्। तत्समूहो वस्तु अन्यथार्थक्रियाकारित्वानुपपत्ततेः। – ध.पु. 9 पृ. 182
2. तच्छाखा-प्रशाखात्मोपयः। –अष्टशती

सद्भूतव्यवहार नय—सद् अर्थात् अस्तित्व रूप, स्वभाव रूप है, किन्तु उसे व्यवहार से कह रहे हैं। व्यवहार का कार्य अभेद को भी भेद करके कहना है। सद्भूतव्यवहार अर्थात् जो अभेद है, उसे भेद करके कहना। जैसे—जीव का केवलज्ञान। केवलज्ञान जीव से अलग नहीं है फिर भी यह नय गुण-गुणी आदि में भेदकर कथन करता है।

असद्भूतव्यवहार नय—असद् अर्थात् अस्तित्व रूप नहीं है स्वभाव रूप नहीं है किन्तु मिला हुआ है। स्वभाव नहीं है किन्तु मिला हुआ है उन्हें अलग करके कहना असद्भूतव्यवहार नय का कार्य है जैसे जीव का शरीर। शरीर जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु उससे मिला हुआ है अतः यह असद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

उपचरितासद्भूतव्यवहार नय—जो द्रव्य का स्वरूप भी नहीं है और उससे मिला हुआ भी नहीं है, अत्यंत भिन्न वस्तुओं में उपचार से अभेद रूप कथन करता है। जैसे—जीव का मकान, दुकान इत्यादि। वह मकान, दुकान जीव का स्वभाव भी नहीं है और शरीर के समान उससे मिला भी नहीं है अतः इसका कथन उपचरितासद्भूतव्यवहार नय करता है।

इनका विशेष स्वरूप भेदादि का कथन ग्रंथकार स्वयं आगे ग्रंथ में करेंगे।

नय-उपनय भेद कथन

इदानीमेतेषां भेदा उच्यन्ते॥45॥

अर्थ—अब उनके (नयों व उपनयों के) भेदों को कहते हैं।

विशेषार्थ—आचार्य भगवन् श्री देवसेन स्वामी अब नयों व उपनयों के भेदों को कहेंगे इसके स्पष्टीकरण वा प्रतिज्ञा वाक्य के रूप में यह सूत्र कहा। प्रसंगानुसार कही गई बात सदैव उचित प्रतीत होती है, यदि प्रसंग के अनुसार नहीं है तो कई बार उचित बात भी अनुचित प्रतीत होती है। जैसे किसी की मृत्यु होने पर कोई कहे 'अरिहंत नाम सत्य है, राम नाम सत्य है' तो यह प्रसंगोचित वाक्य है किन्तु किसी के विवाहादि शुभ कार्यों में कोई इस प्रकार कहे तो वह अनुचित होगा। यद्यपि जो बात कह रहा है वह सही है किन्तु प्रसंग, परिस्थिति के अनुरूप न होने से सर्वथा अनुचित है। जिस समय जिसका प्रसंग हो उस बात को कहने से बात का मूल्य भी वृद्धिंगत हो जाता है। यहाँ आचार्य महाराज ने नयों के नौ व उपनय के तीन भेद कहे, अब कह रहे हैं कि इनके भेदों को कहेंगे। कहीं कोई व्यक्ति यह धारणा न बना ले कि इनके कोई भेद नहीं, अतः तुरन्त ही शंकादि के निराकरण हेतु आचार्य महाराज ने यहाँ सूत्र कह दिया कि जो नव नय व तीन उपनय कहे हैं उनके भेदों को कहेंगे।

द्रव्यार्थिक नय भेद

द्रव्यार्थिकस्य दशभेदाः॥46॥

अर्थ—द्रव्यार्थिक नय के दस भेद हैं।

विशेषार्थ—जो द्रव्य को प्रयोजन बनाकर अपना कथन करते हैं वह द्रव्यार्थिक नय हैं। जैसे माना कोई वस्तु आकाश में अधर लटकी है तब दस दिशाओं अर्थात् चार दिशा, चार विदिशा ऊपर व नीचे से उस वस्तु के 10 फोटोज् लिए जा सकते हैं। इन 10 फोटोज् में वस्तु की समग्रता आ गई। ऐसे ही माना द्रव्यार्थिक नय के 10 भेद हैं जो पूर्णतया द्रव्य का कथन करने में समर्थ हैं। द्रव्य की शुद्ध, अशुद्धादि अवस्थाओं का कथन यह द्रव्यार्थिक नय करने में समर्थ है। किन्तु जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही प्रयोजन कर सर्व कथन करेगा। आगे दस सूत्रों में इसके दस भेदों का कथन है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय

कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः यथा संसारी जीवः सिद्धसादृक्शुद्धात्मा॥47॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि की अपेक्षा से रहित जीव द्रव्य है जैसे—संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है।

विशेषार्थ—सूत्र 47, 48, 49 में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के भेदों का कथन है। शुद्ध द्रव्य को ही जो विषय करे वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है अर्थात् यह शुद्ध तत्त्व को ही ग्रहण करता है।

जैसे माना कोई घृतनय है तो वह नय घी में तो घी कहेगा ही किन्तु दूध, मावा, रबड़ी, नवनीत आदि में भी घी देखेगा। जिसका जो प्रयोजन होता है वह उसी को देखता है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय शुद्ध को ही कहता है **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** प्रत्येक जीव शुद्ध है।

संसार में भ्रमण करते हुए प्रत्येक संसारी जीव के साथ कर्म लगे हुए हैं। कर्मों से युक्त प्रत्येक जीव अशुद्धावस्था में है, सिद्ध समान शुद्ध नहीं है किन्तु यह नय सभी को शुद्ध रूप देख रहा है। अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, देव, तिर्यंच यहाँ तक की निगोदिया जीव में भी यह शुद्ध नय शुद्धात्मा को देखता है।

क्योंकि इसका शुद्ध का प्रयोजन है अतः शुद्ध को ही ग्रहण करता है। जिसका जो प्रयोजन होता है उसी को देखता है जैसे कोई व्यक्ति मंदिर में आता है, भगवान् को देखता है, कोई आकर मंदिर के वैभव को देखता है, कोई उसकी बनावट तो कोई उसके बाह्य

सौंदर्य को देखता है, कोई शिखर को देखता है तो कोई कलश, ध्वज को देखता है। पत्थर का काम करने वाला, जानकारी रखने वाला लगे पत्थर को देखकर कहता है कि पत्थर अच्छा लगा है, मूर्तिकार कहता है मूर्ति बहुत सुंदर है, सोने का काम करने वाला सोने के काम को सराहता है तो जो व्यक्ति जिस काम को करता है उसकी प्रथम दृष्टि वहीं जाती है क्योंकि उसका प्रयोजन वही है। मंदिर में दीवारों पर चित्रकारी करने आया व्यक्ति वहाँ की दीवारादि का ही अवलोकन करेगा। ऐसे ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन शुद्ध द्रव्य है। वह संसारी आत्मा को भी सिद्धों जैसा देखेगा।

यह नय कर्मोपाधि निरपेक्ष अर्थात् इस नय ने ऐसा चश्मा पहना है कि इसको कर्म दिखाई ही नहीं देते। यह कर्मों की अपेक्षा नहीं करता, निरपेक्ष है और जीव से यदि कर्म अलग हो जाएँ तो वह शुद्ध जीव ही है। बस यही कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। 'णयचक्को' में भी कहा है–

कम्माणं मज्झगदं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो॥190॥

जो कर्मों के मध्य में स्थित अर्थात् कर्मों से लिप्त जीव को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करता है उसे कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

मिथ्यात्वादिगुणस्थाने सिद्धत्वं वदति स्फुटं।
कर्मभिर्निरपेक्षो यः शुद्धद्रव्यार्थिको हि सः॥

संसारी भी सिद्धों के समान है, उस रूप का कथन करने वाला यह कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्तिरूपेणेति। प.प्र.टी.-18

संसारावस्था में तो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शक्ति रूप परमात्मा है।

मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अर्थात् अशुद्ध भावों में स्थित जीव का जो सिद्धत्व कहता है वह कर्मनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यं॥48॥

अर्थ–उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्ता को ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जैसे द्रव्य नित्य है।

विशेषार्थ—द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है। अर्थात् द्रव्य-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होता है। **'गुणपर्ययवद् द्रव्यं'** गुण और पर्याय से पृथक् कोई द्रव्य नहीं है। उसमें उत्पाद और व्यय तो पर्याय रूप होने से पर्यायार्थिक नय का विषय हैं और ध्रौव्यपना द्रव्य रूप होता है। इस प्रकार द्रव्य नित्य-अनित्यात्मक है किन्तु यहाँ शुद्धद्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन शुद्ध द्रव्य को विषय करना है। अतः उत्पाद-व्यय को गौण करके यह सत्ता अर्थात् ध्रौव्यपने को ग्रहण करता है और सत्ता या अस्तित्व का कभी अभाव नहीं होता। इस नय को सभी नित्य दिखाई देता है क्योंकि उत्पाद-व्यय पर्यायों का होता है जिसको यह ग्रहण नहीं करता **'उत्पादव्ययगौणत्वेन'** इन्हें गौण कर देता है और ध्रौव्य, सत्ता, नित्यपने को स्वीकार करता है। **'सत्ताग्राहकः'।** जैसे कोई व्यक्ति समुद्र में जल देख रहा है व जल देखना ही उसका प्रयोजन है तब उसकी दृष्टि मात्र जल ही देखेगी चाहे वह जल लहरों के रूप में हो, शांत हो, भँवर पड़ रही हों और चाहे वाष्प बन रहा हो किन्तु उसे सबमें जल ही दिखाई देगा। कोई जीव जो मनुष्य, देवादि पर्यायों को धारण करता है किन्तु यह नय उन्हें पर्यायादि रूप ग्रहण न कर, द्रव्य (आत्मा) को ग्रहण करता है जो कि नित्य है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय को गौण कर ध्रौव्य को ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जैसे द्रव्य नित्य है। द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता उसकी पर्याय तो बदलती रहती हैं, पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं और विनशती हैं जिसका यहाँ प्रयोजन नहीं और द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता जिसका यहाँ प्रयोजन है, वह नित्य है। कहा भी है—

उत्पादवयं गउणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता।
भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहिओ समये।।192।।

उत्पाद और व्यय को गौण करके मुख्य रूप से जो केवल सत्ता को ग्रहण करता है वह सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहा गया है।

भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय

भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्।।49।।

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय भेदकल्पना की अपेक्षा से रहित है जैसे निज गुण से निज पर्याय से और निज स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।

विशेषार्थ—अनेकांत रूप से द्रव्य भेदाभेदात्मक है। विभिन्न नयों का अर्थ विभिन्न रंग के चश्मे हैं। जिस रंग का चश्मा पहना जाता है सभी वस्तुएँ उसी रंग की दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार जिस नय से देखा जाता है, वह उस रूप विषय को ग्रहण करता है। यहाँ भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। भेदकल्पनानिरपेक्ष अर्थात् यह भेद की कल्पना नहीं करता, अभेद को ग्रहण करता है। प्रत्येक द्रव्य अपने आप में अखंड है। गुण व पर्यायों का समूह द्रव्य है और गुण ध्रौव्य हैं व पर्याय द्रव्य में होने वाला उत्पाद व व्यय है। द्रव्य, गुण वा पर्यायों से पृथक् नहीं है। गुण, पर्याय, स्वभाव सब द्रव्य से अभिन्न हैं। इस नय का कार्य गुण-गुणी, स्वभाव-स्वभावी, पर्याय-पर्यायी व धर्म-धर्मी में भेद न करके उन्हें अभेद रूप से स्वीकार करना है। जैसे निज गुण, निज पर्याय, निज स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है। यद्यपि संज्ञादि की अपेक्षा इनमें भेद है किन्तु इस नय का प्रयोजन जब अभेद रूप से स्वीकार करना है तब भेद इसे दृष्टिगोचर होगा ही नहीं। गुण व स्वभाव सब द्रव्य में ही होते हैं, द्रव्य से पृथक् कोई पर्याय नहीं होती। यह नय गुणादि से अभिन्न द्रव्य को स्वीकार करता है। भेदविवक्षा को यह गौण रखता है। कहा भी है—

गुणगुणियाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं।
सुद्धो सो दव्वत्थो भेयवियप्पेण णिरवेक्खो॥192॥

गुण-गुणी आदि चतुष्क रूप अर्थ में जो भेद नहीं करता, वह भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय

कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा॥50॥

अर्थ—कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित अशुद्ध जीव द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है जैसे—कर्मजनित क्रोधादिभाव रूप आत्मा है।

विशेषार्थ—पूर्व तीन सूत्रों के माध्यम से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का कथन किया गया। अब सूत्र 50, 51, 52 इन तीन सूत्रों के माध्यम से त्रिभेद रूप अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का कथन किया जाएगा। अशुद्ध द्रव्य को ही जो ग्रहण करे वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। 'कर्मोपाधिसापेक्ष' इस कथन से यह तो स्पष्ट है कि यहाँ जीव का कथन है क्योंकि कर्म तो जीव के साथ ही बंधते हैं और पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ संसारी जीव अशुद्ध है। राग, द्वेष क्रोधादि जीव के विकारी भाव हैं और कर्म से युक्त जीव के कर्मजनित विकारी भाव

निरंतर होते रहते हैं। कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कर्मों से युक्त संसारी जीव को ग्रहण करता है। यह नय ग्रहण तो करेगा द्रव्य (आत्मा) ही किन्तु कर्मों से युक्त आत्मा को। कर्म युक्त जीव आस्रव, बंध, संवरादि भी करता है, कर्म से युक्त जीव की जो भी अवस्था है उस जीव को यह नय ग्रहण करता है। जैसे क्रोध से युक्त जीव क्रोधी हो गया। मान से युक्त मानी, लोभ से युक्त लोभी, माया से युक्त मायावी, पाप से युक्त पापी कहलाता है। पुण्य करता है तो पुण्यात्मा और धर्म में रत को धर्मात्मा कह देते हैं। यहाँ मात्र कर्मजनित भाव को ग्रहण नहीं कर रहे अपितु वह भाव जिसमें पाया जा रहा है उस द्रव्य (आत्मा) का ग्रहण कर रहे हैं। जैसे–यह क्रोधी है तो क्रोधी कहकर उस आत्मा को संबोधित कर रहे हैं। यह व्यक्ति मिथ्याभाषी है इत्यादि अर्थात् क्रोधादि कर्म से उत्पन्न होने वाली दशा है, उस दशा से जीव पर फोकस कर रहे हैं, जीव अर्थात् अशुद्ध जीव ही पकड़ में आ रहा है। यही इस नय का विषय है।

शुद्ध जीव में क्रोध, अहंकारादि भाव कदापि नहीं होते। जिस जीव में ये भाव हैं वह अशुद्ध जीव है, अशुद्धात्मा है। ऐसी कर्म युक्त आत्मा ही कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। कर्म की अपेक्षा इसमें है अतः कर्मोपाधि सापेक्ष है व अशुद्ध द्रव्य का कथन करने से अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। कहा भी है–

भावे सरायमादी सव्वे जीवम्मि जो दु जंपेदि।
सो हु असुद्धो उत्तो, कम्माणोवाहिसावेक्खो।।194।।

जो सर्व रागादि भावों को जीव में कहता है अर्थात् जीव को रागादिस्वरूप कहता है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

औदयिकादित्रिभावान् यो ब्रूते सर्वात्मसत्तया हु।
कर्मोपाधिविशिष्टात्मा स्यादशुद्धस्तु निश्चयः।।4।।

जो नय औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक इन तीन भावों को आत्मसत्ता से युक्त बतलाता है, वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय

उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकम्।।51।।

अर्थ–उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है जैसे–एक ही समय में द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

विशेषार्थ–यहाँ अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के दूसरे भेद का कथन कर रहे हैं। 'उत्पादव्ययसापेक्षः' यहाँ उत्पाद-व्यय की अपेक्षा है। उत्पाद और व्यय पर्यायार्थिक नय का विषय है किन्तु यहाँ सत्ता को गौण नहीं किया सत्ता को ग्रहण कर रहा है, सत्ता द्रव्यार्थिक नय का विषय है। सत्ता को गौण करते ही यह द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं रहता। यहाँ उत्पाद-व्यय से युक्त सत्ता अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य को स्वीकार किया गया है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है द्रव्य ही इसका प्रयोजन है। यूँ तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है किन्तु उत्पाद-व्यय पर्यायार्थिक नय का विषय होने के कारण उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य को अशुद्ध द्रव्य कहा है। यह अशुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में परिणमन चल रहा है। द्रव्य कूटस्थ नहीं होता। द्रव्य का कभी नाश नहीं होता किन्तु पर्याय उपजती-विनशती रहती हैं। यहाँ कथन द्रव्य का है किन्तु वह उत्पाद-व्यय से युक्त है अतः ऐसे द्रव्य को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

उप्पादवयविमिस्सा सत्ता गहिऊण भणइ तिदयत्तं।
दव्वस्स एयसमए जो सो हु असुद्धओ विदिओ॥194॥

जो नय उत्पाद व्यय के साथ मिली हुई सत्ता को ग्रहण करके द्रव्य को एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहता है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय

भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः॥52॥

अर्थ–भेद कल्पना सापेक्ष द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुण हैं।

विशेषार्थ–द्रव्य व गुण एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं वे अभिन्न होते हैं। गुण से भिन्न द्रव्य और द्रव्य से भिन्न गुण नहीं है जैसे घी से अलग चिकनाई कुछ भी नहीं है। यदि कोई कहे मेरे हाथ में घी न आए किन्तु उसकी चिकनाई निकालकर हमें दे दो तो ऐसा संभव नहीं है। कोई कहे आत्मा में ज्ञान-दर्शानादि गुण हैं उन्हें अलग कर दिखा दो आखिर ज्ञान क्या है? ऐसा नहीं कि आत्मा के कुछ अंशों में ज्ञानदर्शनादि गुण व्याप्त हों या आत्मा के क्षेत्र से कुछ

अधिक क्षेत्र में व्याप्त हों जैसे शक्कर में मिष्टता व्याप्त होती है ऐसे ही द्रव्य में गुण व्याप्त होते हैं। जहाँ-जहाँ ज्ञानदर्शनादि गुण हैं वहाँ-वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञानदर्शनादि गुण नियम से हैं। न गुण से भिन्न द्रव्य का अस्तित्व है और न द्रव्य से भिन्न गुण का अस्तित्व है। द्रव्य गुणों का एक अखंड पिंड है। पुद्गल द्रव्य से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये पृथक् नहीं हैं। धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्व, कालद्रव्य का वर्तना हेतुत्व, आकाश द्रव्य का अवगाहनहेतुत्व ये गुण द्रव्य से कदापि पृथक् नहीं हैं। यदि कदाचित् द्रव्य में से सब गुणों को अलग कर दिया जाए तो द्रव्य ही शेष नहीं रहेगा, सर्व शून्य हो जाएगा।

द्रव्य के गुण द्रव्य से पृथक् नहीं हैं क्योंकि गुणों का समूह द्रव्य है फिर भी पृथक् कहकर कथन कर रहे हैं। द्रव्य का ही कथन किया जा रहा है अत: द्रव्यार्थिक नय है किन्तु कथन-भेद दृष्टि से है व द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से भेद कथन शुद्ध नहीं अशुद्ध है अत: अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे आत्मा का कथन किया है अर्थात् जीव द्रव्य का ग्रहण है आत्मा एक अखंड द्रव्य है, उसमें ज्ञान-दर्शनादि नहीं है कहा भी है–

'णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो'

आत्मा में न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह तो ज्ञायक है, शुद्ध है।

आत्मा को अखंड द्रव्य रूप से ग्रहण करना शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

किन्तु वह आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से युक्त है। इस प्रकार गुण-गुणी आदि में भेद की अपेक्षा कर कथन करना भेदग्राही अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जबकि अभेद की अपेक्षा द्रव्य का कथन करने वाला अभेदग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। कहा भी है–

भेए सदि संबंधं गुणगुणियाईहिं कुणइ जो दव्वे।
सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेयकप्पेण।।195।। न.च.

जो नय द्रव्य में गुण-गुणी आदि का भेद करके उनके साथ संबंध कराता है वह भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है क्योंकि वह भेद कल्पना से सहित है।

अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक नय

अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्।।53।।

अर्थ–संपूर्ण गुण पर्याय और स्वभावों में द्रव्य को अन्वयरूप से ग्रहण करने वाला नय अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ–अन्वय का अर्थ होता है–साथ-साथ होना और व्यतिरेक का अर्थ होता है अलग होना। यहाँ कथन द्रव्यार्थिक नय का है तो स्पष्ट है कि द्रव्य का कथन करेगा किन्तु अन्वय की अपेक्षा से। द्रव्य में अन्वय रूप से क्या रहता है? द्रव्य में गुण रहते हैं, गुणों में परिणमन भी होता है अतः पर्याय भी रहती है और द्रव्य का स्वभाव। द्रव्य में अन्वय रूप से गुण, पर्याय, स्वभाव है यह नय सभी में द्रव्य को देखता है। गुण में भी द्रव्य, पर्याय में भी द्रव्य और स्वभाव में भी द्रव्य को यह नय देखता है।

शुद्ध पर्याय, अशुद्ध पर्याय, अर्थ पर्याय, व्यंजन पर्याय, स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय, सामान्य गुण, विशेष गुण, सामान्य स्वभाव, विशेष स्वभाव आदि में 'यह द्रव्य है' ऐसा बोध कराने वाला नय अन्वय द्रव्यार्थिक है। अन्वय अर्थात् 'यह यह है' इस प्रकार की अनुस्यूत प्रवृत्ति वह जिसका विषय है वह अन्वय द्रव्यार्थिकनय है। कहा भी है–

णिस्सेस सहावाणं अण्णयरूवेण दव्वदव्वेदि।
दव्वठवणो हि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिदो॥196॥ न.च.

जो नय संपूर्ण स्वभावों को यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, ऐसे अन्वय रूप से द्रव्य की स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है। संस्कृत नय चक्र में कहा है–

निःशेषगुणपर्यायान् प्रत्येकं द्रव्यमब्रवीत्।
सोऽन्वयो निश्चयो हेम यथा सत्कटकादिषु॥
यः पर्यायादिकान् द्रव्यं ब्रूते त्वन्वयरूपतः।
द्रव्यार्थिक सोऽन्वयाख्यः प्रोच्यते नयवेदिभिः॥

जो संपूर्ण गुणों और पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है। जैसे कड़े आदि पर्यायों में तथा पीतत्व आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण मनुष्य देवादि नाना पर्यायों में यह जीव है, यह जीव है ऐसा अन्वय द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय

स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति॥54॥

अर्थ–स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्ति रूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्ति रूप है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव ये स्वचतुष्टय कहे जाते हैं। स्वयं द्रव्य स्वद्रव्य है, उस द्रव्य के जो अखंड प्रदेश हैं वही द्रव्य का स्वक्षेत्र है, द्रव्य के साथ सदा रहने वाले उसके गुण समय के साथ प्रवाहमान् रहते हैं वह उसका स्वकाल है एवं गुणों के जो अंश 'अविभागीप्रतिच्छेद' हैं वह स्वभाव है अथवा **'वर्तमानपर्यायोपलक्षितः भावः'** द्रव्य में परिणमन से उत्पन्न होने वाली पर्याय स्वभाव है। इन स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है। जो भी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं उसका कारण यही है कि वे स्वचतुष्टय को विस्मृत कर परचतुष्टय में आसक्त हैं, मूढ़ हैं, उसी में रागान्वित हैं। परचतुष्टय में राग भववर्द्धन का हेतु है। स्वचतुष्टय में लीनता व परचतुष्टय का पूर्णतया त्याग सभी द्रव्यों की शुद्ध दशा है।

स्वचतुष्टय के बिना जीव का अस्तिपना ही संभव नहीं है। स्वचतुष्टय में वर्तमान द्रव्य को ग्रहण करने वाला स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। कहा भी है–

''परद्रव्यादिना विवक्षामकृत्वा स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावापेक्षया द्रव्यस्यास्तित्वमस्तीति स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनयः।''

अस्तित्वं वस्तुरूपस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयात्।
एव यो वक्त्यभिप्राय स्वादिग्राहकनिश्चयः॥8॥ सं. न. च.

परद्रव्यादि की विवक्षा न कर स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से द्रव्य के अस्तित्व को अस्तिरूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय से वस्तु स्वरूप का अस्तित्व बतलाना जिस नय का अभिप्राय है वह स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय

परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति॥55॥

अर्थ–परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है ऐसा पर द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ–संसार का प्रत्येक द्रव्य अस्ति रूप है स्वचतुष्टय की अपेक्षा से किन्तु वही द्रव्य परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है। यहाँ द्रव्य का ही ग्रहण है पहले सूत्र में द्रव्य का अस्ति रूप कथन था और यहाँ द्रव्य का नास्ति रूप कथन

है। द्रव्य की प्रमुखता होने से यह द्रव्यार्थिक नय है। कोई भी द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा से तो सत् है किन्तु परचतुष्टय की अपेक्षा से असत् है, नास्ति है। जैसे–पीछी, अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा से तो अस्ति रूप है किन्तु वह परद्रव्यादि की अपेक्षा असत् है। वह पीछी पैन, पुस्तक, डायरी आदि की अपेक्षा नहीं है अर्थात् वह पीछी तो है किन्तु वह पीछी, पुस्तक, डायरी आदि नहीं है अथवा भगवान् महावीर स्वामी अपने आत्मद्रव्य, आत्मद्रव्य के प्रदेश-क्षेत्र, आत्मद्रव्य के काल व भाव अर्थात् आत्मा के परिणमन में होने वाली प्रत्येक वर्तमानकालिक दशा की अपेक्षा से भगवान् महावीर स्वामी अस्ति रूप हैं किन्तु वही भगवान् महावीर स्वामी की आत्मा संसार की अन्य आत्माओं, उनके द्रव्यादि की अपेक्षा या पुद्गलादि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा नास्ति रूप भी है। जो द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति रूप होता है वह नियम से परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति रूप भी होता है। परद्रव्यादि में असत् द्रव्य को ग्रहण करना अथवा परद्रव्यादि की अपेक्षा द्रव्य का नास्ति रूप कथन करने वाला परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

''स्वद्रव्यादीनां विवक्षामकृत्वा परद्रव्यपरक्षेत्रपरकालपरभावापेक्षया द्रव्यस्य नास्तित्वकथकः परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनयः।''

नास्तित्ववस्तुरूपस्य परद्रव्याद्यपेक्षया।
वांछितार्थेषु यो वक्ति परद्रव्याद्यपेक्षया॥7॥ सं. न. च.

स्वद्रव्य आदि की विवक्षा न कर परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा से द्रव्य के नास्तित्व को कथन करने वाला नय परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है अथवा परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जो नय विवक्षित पदार्थ में वस्तु के नास्तित्व को बतलाता है वह परद्रव्यादि सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय

परभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेक स्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः॥56॥

अर्थ–ज्ञानस्वरूप आत्मा ऐसा कहना परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य में अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। उसमें सामान्य स्वभाव भी हैं और विशेष स्वभाव भी हैं। द्रव्य में सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी हैं। परम यानि

उत्कृष्ट, जो गुण या स्वभाव द्रव्य की शुद्ध दशा में विद्यमान हों, अनंतकाल तक नष्ट न हों, जो द्रव्य का मूल स्वभाव या भाव हो, जिसके अभाव में द्रव्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जाए ऐसा मूल या लक्षण रूप गुण उसका स्वभाव कहलाता है। द्रव्य के मूल स्वभाव वा भाव का कथन करने वाला परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है, जैसे–यहाँ ज्ञान को परम भाव स्वीकार करते हुए ज्ञानस्वरूप आत्मा कहा है। यदि दर्शन को परम भाव कहते तो दर्शनस्वरूप आत्मा कहते। यदि सुख को परम भाव कहते तो सुखरूप आत्मा, वीर्य को परमभाव मानते तो वीर्यरूप आत्मा कहते। तो द्रव्य के जिस मूल भाव-स्वभाव को परमभाव माना है उसकी अपेक्षा से द्रव्य का ग्रहण करना परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। जैसे पुद्गल में परमभाव मूर्त्तपना अतः मूर्त्तरूप पुद्गल। इस प्रकार परमभाव सहित द्रव्य का कथन इस नय का विषय है। कहा भी है–

'संसारमुक्तपर्यायाणामाधारभूत्वाप्यात्मद्रव्यकर्मबंधमोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकनयः।

कर्मभिर्जनितो नैव नोत्पन्नस्तत्क्षयेन च।
नयः परमभावस्य ग्राहको निश्चयो भवेत्॥10॥ –सं.न.च.

यद्यपि आत्मद्रव्य संसार और मुक्त पर्यायों का आधार है तथापि आत्मद्रव्य कर्मों के बंध और मोक्ष का कारण नहीं होता है। यह परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है अथवा आत्मा कर्म से उत्पन्न नहीं होता और न कर्म क्षय से उत्पन्न होता है–द्रव्य के ऐसे भाव को बतलाने वाला परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

'णयचक्को' में प्ररूपित है–

गेणहइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपश्चित्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकमेण॥198॥

शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित जो नय द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है वह परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

पर्यायार्थिक नय भेद कथन

अथ पर्यायार्थिकस्य षड्भेदाः॥57॥

अर्थ–अब पर्यायार्थिक नय के 6 भेदों का कथन करते हैं।

विशेषार्थ–जो द्रव्य को गौण कर पर्याय को विषय करता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। यह नय पर्याय की मुख्यता से कथन करता है। पर्याय को ग्रहण करने से द्रव्य का ग्रहण अवश्य होता है जैसे द्रव्य को ग्रहण करने से पर्याय का ग्रहण हो जाता है। पर्याय व पर्यायी अत्यंत पृथक् नहीं हैं। संज्ञादि की अपेक्षा पृथक् भले ही मान लिया जाए किन्तु मूलत: दोनों एक ही हैं। जैसे आत्मद्रव्य का कथन करने वाला द्रव्यार्थिक नय है किन्तु आत्मा जिस पर्याय से युक्त है उस पर्याय की अपेक्षा कथन करने वाला पर्यायार्थिक नय है।

पुद्‌गल द्रव्य का कथन किया तो द्रव्यार्थिक नय है और पुद्‌गल की पर्याय **'शब्दबन्धसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च'** शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत इन पर्यायों का कथन करने वाला पर्यायार्थिक नय है। पर्याय द्रव्य से अलग होती ही नहीं है। ये शब्दादि सभी पर्याय पुद्‌गल द्रव्य की हैं। द्रव्य कहीं पृथक् नहीं हुआ किन्तु कथन पर्याय की अपेक्षा से है अथवा किसी आत्मा ने मनुष्य, देवादि पर्यायों को प्राप्त किया अथवा सिद्ध पर्याय को प्राप्त किया तब आत्मा भी सिद्धत्व अवस्था को प्राप्त हुई। पर्याय को मुख्य कर कथन करने वाला ही पर्यायार्थिक नय है किन्तु द्रव्य गौण रूप से उसमें है। जैसे एक्स-रे मशीन व्यक्ति की हड्डियों को दिखलाती है तो इसका अर्थ यह नहीं है की शरीर में मात्र हड्डी ही हैं। किन्तु उसका focus हड्डियों पर है ऐसे ही कैमरा का focus बाह्य शरीर पर होता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर में हड्डी, रक्तादि न हो।

सामने अलमारी में घी का डिब्बा रखा हो, बालक को कहा घी ले आओ तब वह बालक डिब्बा ले आया, घी के साथ डिब्बा स्वयं आ गया, यदि उसी डिब्बे की ओर इशारा करते हुए कहा वह डिब्बा ले आओ तब डिब्बे के साथ घी भी आ गया। घी का डिब्बा कहने से घी और घी कहने से डिब्बा आ गया, ग्रहण दोनों का हुआ किन्तु कथन विवक्षा से मुख्य-गौण का अंतर है। यह तो अत्यंत स्थूल उदाहरण है। द्रव्य के ग्रहण से पर्याय और पर्याय ग्रहण से द्रव्य का भी ग्रहण हो जाता है। अंतर मात्र इतना है कि मुख्यता किसकी है। पूर्व में द्रव्यार्थिक नय के 10 भेद कहे जहाँ द्रव्य की मुख्यता से कथन था। प्रत्येक द्रव्य में और प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में परिणमन होता है यही पर्याय है। पर्याय की मुख्यता से अब कथन किया जाएगा। उस पर्यायार्थिक नय के छह भेद हैं जिनको यहाँ कहते हैं।

अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय

अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्‌गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः॥58॥

अर्थ—अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय जैसे मेरु आदि पुद्‌गल की पर्याय नित्य है।

विशेषार्थ—यहाँ कथन पर्याय की अपेक्षा है। यद्यपि नित्य द्रव्य होते हैं अतः द्रव्यार्थिक नय का विषय है किन्तु कथन पुद्‌गल की उस पर्याय का है जो अनादि से है और अनंत काल तक रहेगी। जैसे-मेरु, सूर्य-चंद्रादि ज्योतिष विमान, कुलाचल, विजयार्द्ध पर्वत, अकृत्रिम चैत्यालय, देवों के भवन इत्यादि। ये सभी पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय हैं ये कभी नष्ट नहीं होंगी अतः नित्य हैं।

प्रश्न—पर्यायें तो सदा विनाशीक होती हैं?

उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं है। सभी पर्यायें विनाश को प्राप्त हों ऐसा एकांत नहीं है। धवला जी पु.7 में उल्लिखित है कि 'अभव्यत्व' जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो किन्तु सभी व्यंजन पर्याय का नाश होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से एकांतवाद का प्रसंग आ जाएगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिए क्योंकि जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पाए जाते हैं उसे द्रव्य रूप से स्वीकार किया गया है।

संसार में जो-जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं वे नष्ट भी होती हैं। मेरु आदि न तो उत्पन्न हुए हैं अतः अनादि हैं कभी नष्ट न होने से नित्य हैं। यद्यपि इनमें परिणमन प्रति समय चल रहा है क्योंकि संसार का कोई भी द्रव्य, पदार्थ कूटस्थ नहीं होता किन्तु पुद्‌गल की स्थूल पर्याय होने से पर्यायार्थिक नय का विषय है। अनादि-नित्य पर्यायों को ग्रहण करने वाला अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय है। कहा भी है—

अक्किट्टिमा अणिहणा ससिसूराईण पज्जया गिहणइ।
जो सो अणाइणिच्चो जिणभणिओ पज्जयत्थिणओ॥199॥

जो नय चंद्रमा, सूर्यादि अकृत्रिम अविनाशी पुद्‌गल पर्यायों को ग्रहण करता है वह अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय है ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। संस्कृत नय चक्र में कहा है—

पर्यायार्थी भवेन्नित्याऽनादिनित्यार्थगोचरः।
चंद्रार्कमेरुभूशैल-लोकादे प्रतिपादकः॥1॥

'भरतादिक्षेत्राणि-हिमवदादिपर्वताः पद्मादिसरोवराणि सुदर्शनादिमेरुनगाः लवणकालोदकादिसमुद्रा एतानि मध्यस्थितानि कृत्वा परिणताऽसंख्यातद्वीपसमुद्राः श्वभ्रपटलानि भवनवासिवानव्यंतरविमानानि चंद्रार्कमण्डलाज्योतिर्विमानानि सौधर्म-कल्पादिस्वर्गपटलानि यथायोग्यस्थाने परिणताऽकृत्रिमचैत्यचैत्यालयाः मोक्षशिलाश्च वृहद्-वातवलयाश्च इत्येवमाद्यनेकाश्चर्यरूपेण परिणतपुद्‌गल

पर्यायाद्यनेकद्रव्यपर्यायैः सह परिणतलोकमहास्कंधपर्यायाः त्रिकालस्थिता सतोऽनाद्यनिधना इति अनादि-नित्य-पर्यायार्थिकनयः।

भरत आदि क्षेत्र, हिमवन् आदि पर्वत, पद्मादि सरोवर, सुदर्शनादि मेरु पर्वत, लवण, कालोदधि आदि समुद्रों को मध्य में स्थित करके असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, नरक के पटल, भवनवासियों के विमान, व्यंतरों के विमान, चंद्र, सूर्य आदि मंडल ज्योतिषियों के विमान और सौधर्मकल्पादि स्वर्गों के पटल, यथायोग्य स्थनों में परिणत अकृत्रिम चैत्य चैत्यालय, मोक्षशिला और वृहद्वातवलयादि अनेक आश्चर्य से युक्त परिणत पुद्गलों की अनेक द्रव्यपर्याय सहित परिणत लोकमहास्कंध आदि पर्यायें त्रिकालस्थित हैं इसलिए अनादि-अनिधन हैं। इस प्रकार के विषय को ग्रहण करने वाला अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नय है।

सादिनित्य पर्यायार्थिक नय

सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः॥59॥

अर्थ–सादि नित्य पर्यायार्थिक नय जैसे–सिद्ध पर्याय नित्य है।

विशेषार्थ–पूर्व में पर्यायार्थिक नय का भेद देखा था–अनादि नित्य अर्थात् जिस पर्याय का कोई प्रारंभ नहीं था, अकृत्रिम व अनादिनिधन थी। यहाँ द्वितीय भेद है 'सादि नित्य'। अर्थात् ऐसी पर्याय जो उत्पन्न तो हो किन्तु नष्ट नहीं, जिसका प्रारंभ तो हो किन्तु अंत नहीं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य शुद्ध हैं, इनकी कोई पर्याय शाश्वत नहीं है। पुद्गल द्रव्य की ऐसी कोई पर्याय नहीं है जो उत्पन्न तो हो किन्तु नाश को प्राप्त न हो। यदि उत्पन्न होगी तो नित्य नहीं हो सकती।

शेष रहा जीव द्रव्य। जीव अनादिकाल से कर्मों से सहित है और इसी कारण वह पंचपरावर्तन कर रहा है। 199½ लाख कोटि कुल व 84 लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। जब यह जीव आत्मशक्ति को जानकर, उसे जागृत कर पुरुषार्थपूर्वक अष्टकर्मों का पूर्णतया क्षय कर देता है तब सिद्ध पर्याय को प्राप्त कर लेता है फिर पुनः कभी संसार में नहीं आता। अनंतकाल के लिए अनंत सुख से आत्मलीन हो जाता है। जीव की इस सिद्धपर्याय का प्रारंभ है अतः सादि है, और पुनः इस पर्याय का कभी अंत नहीं होगा अतः नित्य है। यद्यपि आत्मा कूटस्थ नहीं होती है, प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। शुद्ध द्रव्य का शुद्ध परिणमन होता है जो छद्मस्थों के वचन के अगोचर है। अतः सादि-नित्य-पर्यायों को ग्रहण करने वाला सादिनित्यपर्यायार्थिक नय है। 'णयचक्को' में भी कहा है–

कम्मखयादुप्पण्णो अविणासी जो हु कारणाभावे।
इदमेवमुच्चरंतो भण्णइ सो साइणिच्चणओ।।200।।

जो पर्याय कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है और विनाश का कारण न होने से अविनाशी है, ऐसी सादि नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है।

संस्कृत नय चक्र में भी प्ररूपित है–

पर्यायार्थी भवेत्सादि व्यये सर्वस्य कर्मणः।
उत्पन्नसिद्धपर्यायग्राहको नित्यरूपकः।।2।।
आदत्ते पर्यायं नित्य सादिं च कर्मणोऽभावात्।
स सादि नित्यपर्यायार्थिकनामा नयः स्मृतः।।8।।

'शुद्धनिश्चयनयविवक्षामकृत्वा सकलकर्मक्षयोद्भूत चरमशरीराकारपर्यायपरिणतिरूप-शुद्धसिद्धपर्यायः सादिनित्यपर्यायार्थिकनयः।।

शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा न करके, संपूर्ण कर्मों के निरवशेषतया क्षय के द्वारा उत्पन्न हुई चरमशरीर के आकार वाली परिणतिरूप शुद्ध सिद्ध पर्याय को जो नय ग्रहण करता है, वह सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है।

अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय

सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा समयं समयं प्रति पर्यायाः विनाशिनः।।60।।

अर्थ–ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है जैसे–प्रति समय पर्याय विनाश होती हैं।

विशेषार्थ–सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य। गुण ध्रौव्य रूप होते हैं और पर्याय उत्पाद व व्यय रूप होती हैं। कोई भी द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता किन्तु पर्याय बदलती रहती हैं। यहाँ सत्ता अर्थात ध्रौव्य को गौण किया गया है। ध्रौव्य को मुख्य कर कथन करने से वह द्रव्यार्थिक नय का विषय हो जाएगा। यहाँ उत्पाद और व्यय की प्रधानता है। उत्पाद और व्यय पर्यायों का होता है। प्रत्येक द्रव्य, पदार्थ में प्रति समय परिणमन हो रहा है। प्रति समय एक पर्याय उत्पन्न होती है व पूर्व पर्याय नष्ट होती है अतः अनित्य है। प्रति समय पर्यायों का कथन करने से शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। पर्यायार्थिक नय का शुद्ध विषय अर्थ पर्याय ही है। माना किसी ने साँचे में डालकर घी की मूर्ति जैसी बनाई। पुनः उस मूर्ति को

कटोरी में डालकर सूर्य की किरणों में तपाने रख दिया। अब वह घी धीमे-धीमे पिघलकर कटोरी में आ गया। पुनः उसे किसी साँचे में डालकर बर्फ पर रख दिया वह धीमे-धीमे जम रहा है और जमकर पुनः मूर्तिरूप हो गया। घी एक साथ जमा या पिघला नहीं उसमें सूक्ष्म परिणमन हुआ प्रति समय का परिणमन, प्रति समय पर्याय का कथन करना अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय का विषय है। एक बालक जिसे प्रतिक्षण देखने पर कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु कुछ वर्ष बाद वह लंबा वा अन्य अंतरों से युक्त दिखाई देता है। यह परिणमन अचानक का नहीं है अपितु प्रति समय उस बालक में परिणमन हो रहा था प्रतिक्षण नवीन पर्याय उत्पन्न होती और पूर्व पर्याय का व्यय होता। यद्यपि दृष्टि के अगोचर है। प्रत्येक पदार्थ में इसी प्रकार पर्याय उत्पन्न होती हैं नष्ट होती हैं इनको विषय करने वाला ही अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय है। णयचक्को में कहा है–

सत्ता अमुक्खरूवे उप्पादवयं हि गिण्हए जो हु।
सो हु सहावाणिच्चो गाही खलु सुद्धपज्जाओ।।201।।

जो सत्ता को गौण करके उत्पाद व्यय को ग्रहण करता है उसे अनित्य स्वभाव को ग्रहण करने वाला शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है–

सत्तागौणत्वाद्यो व्ययमुत्पादं च शुद्धमाचष्टे।
सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययवाचकः स नयः।।9।।
सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावानित्यशुद्धपर्यायार्थिकः।

ध्रौव्य को गौण करके शुद्ध उत्पाद-व्यय को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय

सत्तासापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः।।61।।

अर्थ–ध्रौव्य की अपेक्षा सहित ग्रहण करने वाला नय अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे–एक समय में पर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

विशेषार्थ–पूर्व भेद में सत्ता गौण कर उत्पाद-व्यय स्वीकार किया गया था। यहाँ सत्ता के साथ उत्पाद-व्यय स्वीकार्य है। त्रयात्मक शब्द का अर्थ है–पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय

का उत्पाद और द्रव्यपने से ध्रौव्य क्योंकि शुद्ध पर्यायार्थिक नय का विषय ध्रौव्य नहीं होता अतः अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहा गया है। ध्रौव्यपना है अतः अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है किन्तु पर्याय उत्पाद व व्यय से युक्त हैं उत्पन्न हो रही हैं नष्ट हो रही हैं अतः अनित्य है। अतः एक ही समय में त्रयात्मक पर्याय को विषय करने वाला नय अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। प्राकृत नय चक्र में भी कहा गया है–

जो गहइ एकसमये उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
सो सब्भावाणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ॥202॥

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों एक समय में होते हैं। उन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त पर्याय को जो ग्रहण करता है वह अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

ध्रौव्योत्पादव्ययग्राही कालेनैकेन यो नयः।
स्वभावानित्यपर्यायग्राहकोऽशुद्ध उच्यते॥10॥ सं. न. च.

एक ही काल में ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय को जो नय ग्रहण करता है वह अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहा गया है।

नित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय

कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायसदृशाः। शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः॥62॥

अर्थ–कर्मोपाधि (कर्मबंधन) से निरपेक्ष ग्रहण करने वाला नय नित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय है जैसे–संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध समान शुद्ध है।

विशेषार्थ–कर्मोपाधि निरपेक्ष अर्थात् कर्म बंधन से रहित। प्रत्येक संसारी जीव कर्मों से सहित है किन्तु यह नय उन संसारी जीवों को कर्म से रहित सिद्धों के समान शुद्ध मानता है। **'सव्वे शुद्धा हु सुद्धणया'** इस नय से संसार के सभी जीव चाहे निगोदिया हों या मनुष्य, देव हों या तिर्यंच सभी शुद्ध हैं। यह नय कर्मोपाधि निरपेक्ष को देख रहा है। जीव जब सब कर्मों का उन्मूलन कर देता है तो सिद्ध पर्याय का उद्‌भव होता है। जीव की यह सिद्ध पर्याय शाश्वत है, नित्य है, अंतहीन है एवं शुद्ध है। जीव की नित्य व शुद्ध पर्याय को ग्रहण करने से यह नित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है। कहा भी है–

पर्यायनगिना शुद्धात् सिद्धानामिव यो वदेत्।
स्वभावनित्यशुद्धोसौ पर्यायग्राहको नयः॥11॥

चराचरपर्यायपरिणतसमस्तसंसारीजीवनिकायेषु शुद्धसिद्धपर्यायविवक्षाभावेन कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनयः॥5॥

चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियों के समूह में शुद्ध सिद्ध पर्याय की विवक्षा से कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभावनित्य-शुद्ध-पर्यायार्थिक नय है। यहाँ संसार रूप विभाव में यह नय नित्य-शुद्ध-पर्याय को जानने की विवक्षा रखता है।

अनित्य-अशुद्ध पर्यायार्थिक नय

कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणेस्तः॥63॥

अर्थ–अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव है, जैसे संसारी जीवों का जन्म तथा मरण होता है।

विशेषार्थ–कर्मोपाधि सापेक्ष अर्थात् कर्मों की उपधि से सहित, कर्म युक्त जीव। कर्मों से युक्त जीव संसारी जीव है। मुक्त जीव कर्मों से रहित है। जीव का स्वभाव कर्म क्षय कर निजचिद्स्वभाव में लीन होना है वही जीव की शुद्धावस्था है। कर्मों से युक्त जीव अशुद्ध है, वह जीव की अशुद्धावस्था है। ऐसा जीव निरंतर इस घोर दुःख से परिपूरित संसार में परिभ्रमण करता है और एक के बाद एक नाना पर्यायों को धारण करता है, इस अपेक्षा से जीव अनित्य है। अतः अशुद्ध व अनित्य पर्याय का कथन करने से यह अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। उदाहरण देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं संसारी जीवों का जन्म-मरण। क्योंकि कर्म बंधन से युक्त जीव निरंतर संसार के दुःखों को भोगता हुआ जन्म व मरण करता है। शुद्ध व नित्य पर्याय का कथन न करके अशुद्ध व अनित्य पर्याय का कथन करने वाला यह अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। संस्कृत नयचक्र में कहा भी है–

अशुद्धनित्यपर्यायान् कर्मजान् विवृणोति यः।
विभावानित्यपर्यायग्राहकोऽशुद्धसंज्ञकः॥12॥

शुद्धपर्यायविवक्षाऽभावेन कर्मोपाधिसजनितनारकादिविभावपर्यायाः जीवस्वरूपमिति कर्मोपाधिसापेक्ष-विभावानित्याशुद्धपर्यायार्थिकनयः॥

शुद्ध पर्याय की विवक्षा न कर, कर्मजनित नारकादि विभाव पर्यायों को जीवस्वरूप बतलाने वाला नय अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

णयचक्को में भी निहित है–

भणइ अणिच्चासुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जो हु।
होइ विभाव अणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ।।204।।

जो चार गतियों के जीवों की अनित्य अशुद्ध पर्याय का कथन करता है, वह विभाव अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है।

यदि सिद्धों को भी भूतनैगमनय की अपेक्षा से कर्मोपाधि सापेक्ष ग्रहण किया जाए तो जब वे संसारी अवस्था में थे तब उनकी वह पर्याय अनित्य व अशुद्ध ही थी। यदि कर्म से रहित पर्याय का ग्रहण है तो वह नित्य व शुद्ध है और यदि कर्म से सहित जीव की पर्याय का ग्रहण है तो वह अनित्य व अशुद्ध है।

नय के स्पष्टीकरण से संसार की वास्तविक दशा का परिज्ञान होता है जिसे जान करके संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है, संयम में स्थिरता होती है, चित्त धर्मादि शुभ ध्यान मे लीन होता है, आर्त्त व रौद्र ध्यान त्याग करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इन नयों की विवक्षा को शांत चित्त कर सुनना चाहिए, समझना चाहिए और पुनः पुनः चिंतवन करना चाहिए जिससे यथार्थ आत्म बोध को प्राप्त कर हम आत्मा के वैभव को जान सकें और प्राप्त करने का सम्यक् पुरुषार्थ कर सकें।

नैगमनय भेद

नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात्।।64।।

अर्थ—भूत, भावि, वर्तमान काल के भेद से नैगम नय तीन प्रकार का है।

विशेषार्थ—निगम या संकल्प जिसका प्रयोजन है वह नैगम नय है। आचार्य श्री कार्तिकेय स्वामी 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में नैगम नय का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

जो साहेदि अदीदं वियप्परूवं भविस्समट्ठं च।
संपडि कालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णओ।।271।।

जो नय अतीत, अनागत और वर्तमान को विकल्प रूप से साधता है वह नैगम नय है। इस अतीत-भूत, अनागत-भावी व वर्तमान के भेद से यह नय तीन प्रकार का कहा गया है।

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने पर्यायार्थिक, द्रव्यार्थिक व उभय के भेद से नैगमनय के तीन भेद कहे हैं।

1. **पर्यायार्थिक नैगमनय**—शुद्ध व अशुद्ध दोनों पर्यायार्थिक नयों के विषय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नैगमनय है।

2. **द्रव्यार्थिक नैगमनय**–शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयों के विषय को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नैगमनय है।
3. **द्वंदज नैगमनय**–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के विषय को ग्रहण करने वाला द्वंदज अर्थात् द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमनय है।

आचार्य भगवन् श्री विद्यानंदि स्वामी ने 'श्लोकवार्तिक' में नौ प्रकार के नैगमनय की विवेचना की है। पहले उसके तीन भेद किए गए हैं–पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम व द्रव्यपर्यायनैगम। यहाँ पर्याय नैगम तीन प्रकार का है–अर्थपर्याय नैगम, व्यंजनपर्याय नैगम और अर्थव्यंजन पर्याय नैगम। द्रव्य नैगम नय दो प्रकार का है–शुद्ध द्रव्य नैगम और अशुद्ध द्रव्य नैगम। द्रव्यपर्याय नैगम चार प्रकार का है शुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगम, शुद्धव्यंजनपर्यायनैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्याय नैगम। ऐसे नौ प्रकार का नैगम नय है।

भूत, भावी व वर्तमान नैगम नय का स्वरूप तो आचार्य भगवन् अग्रिम सूत्रों में कहेंगे। यहाँ प्रकरणवश व ज्ञानवृद्ध्यर्थ इन नवनयों का स्वरूप कहते हैं।

1. **अर्थ पर्याय नैगम नय**–एक वस्तु में दो अर्थ पर्यायों को गौण मुख्य रूप से जानने के लिए नयज्ञानी का जो अभिप्राय उत्पन्न होता है उसे अर्थ पर्याय नैगम नय कहते हैं। जैसे–शरीरधारी आत्मा का सुख संवेदन प्रतिक्षणध्वंसी है। यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप सत्ता सामान्य की अर्थपर्याय तो विशेषण हो जाने से गौण है और संवेदन रूप अर्थ पर्याय विशेष्य होने से मुख्य है।
2. **व्यंजनपर्यायनैगम नय**–एक धर्मी में दो व्यंजन पर्यायों को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला व्यंजनपर्यायनैगम नय है। जैसे 'आत्मा में सत्त्व और चैतन्य है।' यहाँ विशेषण होने के कारण सत्ता की गौण रूप से और विशेष्य होने के कारण चैतन्य की प्रधान रूप से ज्ञप्ति होती है।
3. **अर्थव्यंजनपर्याय नैगमनय**–एक धर्मी में अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायों को विषय करने वाला अर्थव्यंजनपर्याय नैगमनय है जैसे–धर्मात्मा व्यक्ति सुखपूर्वक जीवन वर्त रहा है। यहाँ धर्मात्मा रूप धर्मी में सुखरूप अर्थ पर्याय तो विशेषण होने के कारण गौण है और जीवीपनारूप व्यंजनपर्याय विशेष्य होने के कारण मुख्य है।
4. **शुद्धद्रव्यनैगमनय**–शुद्ध द्रव्य को विषय करने वाले संग्रह व व्यवहार नय से उत्पन्न होने वाला अभिप्राय ही शुद्ध द्रव्य नैगम नय है। जैसे कि अन्वय का निश्चय हो

जाने से संपूर्ण वस्तुओं को 'सत् द्रव्य' कहना शुद्धद्रव्यनैगमनय है। यहाँ 'सत्' तो विशेषण होने के कारण गौण है और 'द्रव्य' विशेष्य होने के कारण मुख्य है।

5. **अशुद्धद्रव्यनैगमनय**–जो नय 'पर्यायवान् द्रव्य है' अथवा 'गुणवान् द्रव्य है' इस प्रकार निर्णय करता है, वह व्यवहार नय से उत्पन्न होने वाला अशुद्धद्रव्यनैगम नय है। यहाँ पर्यायवान् तथा गुणवान् ये तो विशेषण होने के कारण गौण है और 'द्रव्य' विशेष्य होने के कारण मुख्य है।
6. **शुद्धद्रव्यअर्थपर्याय नैगमनय**–शुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थपर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला शुद्धद्रव्य अर्थपर्याय नैगमनय है। जैसे संसार में सुख पदार्थ शुद्ध सत्स्वरूप होता हुआ क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप सत्पना तो शुद्ध द्रव्य है और सुख अर्थ पर्याय है। यहाँ विशेषण होने के कारण सत् तो गौण है और विशेष्य होने के कारण सुख मुख्य है।
7. **अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगमनय**–अशुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्य अर्थपर्याय नैगमनय है। जैसे कि संसारी जीव क्षणमात्र को सुखी है। यहाँ सुखरूप अर्थपर्याय तो विशेषण होने के कारण गौण है और संसारी जीवरूप अशुद्ध द्रव्य विशेष्य होने के कारण मुख्य है।
8. **शुद्धद्रव्य व्यंजनपर्याय नैगमनय**–शुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक व्यंजन पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला शुद्ध द्रव्य-व्यंजनपर्याय-नैगमनय है। जैसे यह सत् सामान्य चैतन्यस्वरूप है। यहाँ सत् सामान्य रूप शुद्ध द्रव्य तो विशेषण होने के कारण गौण है और उसकी चैतन्यपने रूप व्यंजन पर्याय विशेष्य होने के कारण मुख्य है।
9. **अशुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय-नैगमनय**–अशुद्ध द्रव्य और उसकी किसी एक व्यंजन पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला अशुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय-नैगमनय है। जैसे 'मनुष्य गुणी है' ऐसा कहना। यहाँ 'मनुष्य' रूप अशुद्ध द्रव्य तो विशेष्य होने के कारण मुख्य है और 'गुणी' रूप व्यंजनपर्याय विशेषण होने के कारण गौण है।

अब आगे नैगमनय के भूत-भावी-वर्तमान रूप भेदों का स्वरूप कहते हैं।

भूतनैगम नय

अतीते वर्तमानारोपणं यत्र, स भूतनैगमो यथा अद्य दीपोत्सवदिने श्री वर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः॥65॥

अर्थ–जहाँ अतीत कार्य में 'आज हुआ है' ऐसा वर्तमान का आरोप या उपचार करना भूतनैगम नय है। जैसे–आज दीपावली के दिन भगवान् वर्द्धमान स्वामी मोक्ष गए हैं।

विशेषार्थ–अतीत में जो कार्य हो चुका है उसे वर्तमान काल में आरोप करके कहना अर्थात् जो कार्य पूर्व में हो चुका है उसे आज वर्तमान में आरोपण कर कथन करना भूतनैगम नय है। जैसे–दीपावली के दिन कोई व्यक्ति कहता है आज के दिन भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष गए किन्तु वे मोक्ष आज तो नहीं गए, लगभग 2546 वर्ष पूर्व मोक्ष हो गया था। इस प्रकार पूर्व में हुए कार्य को वर्तमान में आरोप करना भूतनैगम नय है अथवा कोई 15 अगस्त के दिन कहे आज के दिन देश स्वतंत्र हुआ अथवा आज श्री जंबूस्वामी भगवान् ने दीक्षा ग्रहण की या आज के दिन श्री आदिनाथ स्वामी का जन्म हुआ। ये सभी कार्य तो बहुत पहले हो चुके किन्तु 'आज हुआ' ऐसा वर्तमान में आरोप कर कथन करना भूत नैगम नय का प्रयोजन है। कहा भी है–

णिव्वत्तअत्थकिरिया वट्टणकाले तु जं समायरणं।
तं भूतणइगमणयं जहजदिणं णिव्वुओ वीरो॥206॥ ण. च.

जो कार्य हो चुका उसका वर्तमानकाल में आरोप करना भूत नैगमनय है जैसे आज के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ था।

अतीतं सांप्रतं कृत्वा निर्वाणत्वद्ययोगिनः।
एवं वदत्यभिप्रायो नैगमातीतवाचकः॥ सं. न. च.

जो अतीत योगियों के निर्वाण को वर्तमान में बतलाता है वह भूतनैगमनय का विषय है।

'तीर्थंकरपरमदेवादिपरमयोगींद्रा अतीतकाले सकलकर्मक्षयं कृत्वा निर्वाणपदं प्राप्ताः एतोऽपि इदानीं सकलकर्मक्षयं कृतवत इति निर्वाणपूजाभिषेकार्चनाक्रियाविशेषान् कुर्वत कारयंत इति अथवा व्रतगुरु-श्रुतगुरु-जन्मगुरु-प्रभृति सत्पुरुषा अतीतकाले समाधिविधिना गत्यंतरप्राप्ता अपि ते इदानीं अतिक्रांता भवंति इति तद्दिने तेषां गुणानुरागेण दानपूजाभिषेकार्चनानि सांप्रतं कुर्वन्त इत्याद्यतीत विषयान् वर्तमानवत् कथनं अतीतनैगमनयो भवति।' –सं.न.च.

यद्यपि तीर्थंकर परमदेव आदि योगीन्द्र अतीतकाल में संपूर्ण कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त कर चुके हैं फिर भी वर्तमान में वे संपूर्ण कर्मों का क्षय करने वाले हैं, इस प्रकार निर्वाण की पूजा, अभिषेक और अर्चना विशेष क्रियाओं को वर्तमान में करते और कराते हैं। अथवा व्रत गुरु, दीक्षा गुरु, शिक्षागुरु, जन्मगुरु आदि सत्पुरुष समाधि विधि से दूसरी गति को प्राप्त हो चुके हैं, फिर भी वे आज समाधि से युक्त हुए हैं, इस प्रकार से उस दिन के गुणानुराग से दान, पूजा, अभिषेक और अर्चा को वर्तमानकाल में करते हैं इस प्रकार अतीत विषयों को वर्तमान के समान कथन करना भूत नैगमनय है।

भावीनैगम नय

भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव॥66॥

अर्थ–जहाँ भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन किया जाता है वह भाविनैगम नय है। जैसे–अरिहंत सिद्ध ही हैं।

विशेषार्थ–जो कार्य अभी हुआ नहीं, भविष्य में होगा, ऐसे होने वाले कार्य को 'हो चुका है' ऐसा भूतवत् कथन करना भावी नैगम नय है। भविष्य में जो घटना घटित होगी या कार्य संपन्न होगा, उसे 'हो गया' ऐसा कथन करना जैसे अरिहंत प्रभु को सिद्ध ही कहना। अरिहंत प्रभु अभी सिद्ध हुए नहीं किन्तु होंगे तब भी कथन करना कि अरिहंत भगवन् सिद्ध ही हैं। श्रेणिक आदि जो तीर्थंकर नहीं हैं किन्तु होंगे, उन्हें वर्तमान में ही तीर्थंकर कहना। कोई व्यक्ति जिसे फ्लैट खरीदना है, उसने फ्लैट खरीदा नहीं किंतु उसका संकल्प है बस खरीद ही लेगा, किसी के पूछने पर उसने कहा 'खरीद लिया', इस प्रकार का वचन व्यवहार भावी नैगमनय है। 'शिशु को युवक, बीज को वृक्षादि कहना भावी नैगमनय का विषय है। एक व्यक्ति के हाथ में कुल्हाड़ी है उससे किसी ने पूछा ये क्या है?

उसने कहा ये प्रस्थ (पुराने समय में अनाज मापने हेतु लकड़ी का पात्र) है। लकड़ी काटकर प्रस्थ बनवाने का संकल्प है, जो प्रस्थ अभी बना ही नहीं, उसमें प्रस्थ का व्यवहार करके कथन करता है कि मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। किसी ने केवली की वाणी से जाना इनको इस दिन मोक्ष होगा तो उनको 'मोक्ष हो गया' ऐसा कथन करना अथवा किसी ने नेट क्लीयर कर लिया, उसका पीएचडी करने का संकल्प है उसे तभी से डॉ. साहब कहना यह सब भावी नैगम नय के अंतर्गत आता है।

णिप्पण्णमिव पयंपदि भाविपयत्थ णरो अणिप्पण्णं।

अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भावि णइगमोत्ति णओ।।205।। प्रा. न. च.

जो नय अनिष्पन्न, भाविपदार्थ को निष्पन्नवत् कहता है जैसे अप्रस्थ को प्रस्थ कहता है वह भाविनैगम नय है।

चित्तस्थ यदनिर्वृत्तप्रस्थके प्रस्थकं यथा।

भाविनो भूतवद्ब्रूते ते नैगमोऽनागतो मतः।।3।।

अपूर्ण (अनिष्पन्न) प्रस्थ में प्रस्थ की संकल्पना करना अर्थात् भावि को भूतवत् बतलाना भाविनैगम नय है।

'भाविकाले परिणमिष्यतोऽनिष्पन्नक्रियाविशेषान् वर्तमानकाले निष्पन्ना इति कथनम्।' जो पर्याय अभी अनिष्पन्न है, भाविकाल में निष्पन्न होगी उसको वर्तमान में निष्पन्न कहना भाविनैगम नय है। जैसे–

'विवक्षाकालेऽतीर्थंकरान् रावणलक्ष्मीधरश्रेणिकादीनः तीर्थंकरपरमदेवा इति अधिराज्य पदव्यभावेऽपि नृपकुमाराधिराज इति कथनं, प्रस्थप्रायोग्यवस्तुविशेषः प्रस्थमित्यादि दृष्टांतान् भाविकाले निष्पन्नान् भविष्यन्तोऽवतिष्ठमानान् विषयान् निष्पन्ना इति कथनं भाविनैगमनयः।'

विवक्षा काल में जो तीर्थंकर नहीं हैं उन भावी रावण, लक्ष्मण, श्रेणिक आदि को परमतीर्थंकर देव कहना, राज्यपद को अप्राप्त राजकुमार को राजा कहना, प्रस्थ योग्य वस्तु विशेष को प्रस्थ कहना इत्यादिक दृष्टांतों को भाविकाल में पूर्ण होने वाले भाविरूप में रहने वाले विषयों को पूर्ण हो गए, इस प्रकार से कथन करना भावि नैगम नय है।

वर्तमान नैगमनय

कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तुं निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो यथा ओदनः पच्यते।।67।।

अर्थ–करने के लिए प्रारंभ की गई ऐसी ईषत् निष्पन्न अथवा अनिष्पन्न वस्तु को निष्पन्नवत् कहना वह वर्तमान नैगम नय है जैसे–भात पकाया जाता है।

विशेषार्थ–जो कार्य करना प्रारंभ कर दिया कुछ निष्पन्न है, कुछ अनिष्पन्न किन्तु वह कार्य हो गया ऐसा निष्पन्नवत् कथन करना वर्तमान नैगम नय है। जैसे–उदाहरण दिया गया–कोई व्यक्ति भात पकाने की तैयारी कर रहा है, चावल धो रहा है भगोना गैस पर रख

दिया, किसी ने पूछा क्या कर रहे हो तो वह कहता है 'भात बना रहा हूँ। कोई मकान की नींव खोद रहा है पूछा क्या कर रहे हो बोला मकान बना रहा हूँ। मकान बनने में तो अभी समय है किन्तु संकल्प को ग्रहण कर कथन कर दिया अतः नैगम नय है और किंचित् निष्पन्न व किंचित् अनिष्पन्न है अतः वर्तमान नैगम नय है। जैसे कोई स्त्री कुएँ से पानी खींचने जा रही है क्या कर रही हो? ऐसा किसी के द्वारा पूछने पर उत्तर दिया शिकंजी बना रही हूँ अथवा किसी व्यक्ति की शाम की फ्लाईट है वह कपड़े पैक रहा है टिकट आदि रख रहा है किसी ने पूछा कहाँ जा रहे हो बोला उदयगिरि-खंडगिरि जा रहा हूँ इत्यादि सब वर्तमान नैगम नय की अपेक्षा कथन है। कहा भी है–

पारद्धा जा किरिया पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धा।
लोए व पुच्छमाणे तं भण्णइ वट्टमाणणयं।।207।। णयचक्को

चावल पकाने की क्रिया प्रारंभ करते समय पूछे जाने पर यह कहना कि 'भात बना रहा हूँ' वर्तमान नैगम नय है।

अनिष्पन्नं क्रियारूपः निष्पन्नं गदति स्फुटं।
नैगमो वर्तमानः स्यादोदनं पच्यते यथा।।2।। –नयचक्र

अपूर्ण क्रिया रूप को जो निष्पन्न-पूर्ण बतलाता है वह वर्तमान नैगमनय है–जैसे भात पकाया जाता है।

'वसतिं करोमि, ओदनः पक्कवान्न पचामि, वाहं करोमीत्याद्यनिष्पन्नक्रिया-विशेषानुद्दिश्य निष्पन्ना इति वदनं वर्तमाननैगमनयः।'

मैं वसतिका बनाता हूँ, भात को, पक्वान्न को पकाता हूँ इत्यादि अपूर्ण क्रिया विशेषों को लक्ष्य करके 'पक गये' ऐसा कहना वर्तमान नैगम नय है।

इस प्रकार नैगम नय के तीन भेदों का कथन किया गया। जो कार्य पूर्व में हो चुका 'आज हुआ' ऐसा कथन करना भूतनैगम नय है। जो कार्य हुआ नहीं किंतु होगा, अभी उसे करना प्रारंभ नहीं किया, उसे 'हो गया' ऐसा कथन करना भावी नैगम नय है और जो कार्य प्रारंभ कर दिया कुछ हुआ, उसे 'हो गया' ऐसा कथन करना वर्तमान नैगम नय है। इस प्रकार नैगम नय के तीन भेदों का प्ररूपण किया गया।

संग्रह नय भेद

संग्रहो द्वेधा:॥68॥

अर्थ–संग्रह नय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ–अपनी-अपनी जाति के अनुसार वस्तुओं का या उनकी पर्यायों का परस्पर में विरोध रहित एक रूप से संग्रह करने वाले ज्ञान और वचन को संग्रह नय कहते हैं। संग्रहनय की प्ररूपणा को विषय करना द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है। कहा है–

''दव्वट्ठिय-णय-पवई सुद्धा संगहपरूवणा विसयो।''

यह संग्रह नय दो प्रकार का कहा गया है। कहीं परसंग्रह व अपरसंग्रह के भेद से यह दो प्रकार का कहा गया है। कहीं सामान्य व विशेष तो कहीं शुद्ध व अशुद्ध के भेद से स्वीकार किया गया है। किंतु इनमें केवल संज्ञा भेद ही है, अर्थ भेद नहीं। परसंग्रह सामान्य संग्रह व शुद्धसंग्रह एकार्थवाची हैं और अपर संग्रह, विशेष संग्रह व अशुद्धसंग्रह ये एकार्थवाची हैं।

सामान्य संग्रहनय

सामान्यसंग्रहो यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परमविरोधीनि॥69॥

अर्थ–सामान्य संग्रह नय जैसे–सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं।

विशेषार्थ–द्रव्य कहने से सब द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है। सर्व द्रव्यों में अस्तित्वादि गुण पाए जाते हैं, द्रव्यत्व पाया जाता है अत: ये परस्पर में अविरोधी हैं। यद्यपि सभी की विशेषता अलग-अलग है। चेतना लक्षण युक्त जीव है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण युक्त पुद्गल है। धर्म द्रव्य गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य स्थितिहेतुत्व, आकाश द्रव्य अवगाहनहेतुत्व, कालद्रव्य वर्तनाहेतुत्व, सभी के लक्षण अलग-अलग हैं किन्तु द्रव्यत्व गुण इन सबमें एक जैसा पाया जाता है। ये सभी सत् रूप हैं अत: सामान्य की अपेक्षा सबको ग्रहण कर लिया। सामान्य रूप से ग्रहण करना ही सामान्य संग्रह नय का प्रयोजन है। जैसे सेना शब्द कहने से सब ग्रहण हो जाता है। चाहे उसमें राजा, सेनापति, पदाति, योद्धा, घोड़े, हाथी, रथ आदि हों किन्तु सेना कहने से सभी का ग्रहण हो जाता है। अथवा मिठाई कहने से उसमें लड्डू, बर्फी, इमरती, पेड़ा, रसगुल्ला आदि सभी का ग्रहण हो जाता है। अथवा वृक्ष कहने से आम्र, नीम, जामुन, पीपल, बरगद आदि सभी का ग्रहण एकरूप हो जाता है। इस प्रकार सामान्यता जो सभी इकाइयों का नाम एक घोषित करता है, किसी एक विशेषता के माध्यम से वह सामान्य संग्रह कहलाता है।

'अवरोप्परमविरोहे सव्वं अत्थित्ति सुद्धसंगहणे॥208॥ न.च.

सर्व द्रव्यों में परस्पर अविरोध है क्योंकि सत् रूप है यह शुद्ध या सामान्य संग्रहनय है।

शुद्धद्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रहः परः।

स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह॥51॥ श्लो.वा.

संपूर्ण जीवादि विशेष पदार्थों में उदासीनता धारण करके जो सबको 'सत् है' ऐसा एकपने रूप से ग्रहण करता है वह पर या सामान्य संग्रह नय है।

परस्पराविरोधेन समस्तपदार्थसंग्रहैकवचनप्रयोगचातुर्येण कथ्यमानं सर्वं सदित्येतत् सेना वनं नगरमित्येतत् प्रभृत्यनेकजातिनिश्चयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं सामान्यसंग्रहनयः।

परस्पर अविरोध रूप से संपूर्ण पदार्थों के समूहरूप एकवचन के प्रयोग के चातुर्य से कहा जाने वाला सब सत् स्वरूप है। इस प्रकार से सेना-समूह, वन, नगर आदि अनेक जाति के समूह को एकवचन रूप से स्वीकार करके कथन करना सामान्य संग्रह नय है।

विशेष संग्रह नय

विशेषसंग्रहो यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः॥70॥

अर्थ–विशेष संग्रह नय जैसे–सर्व जीव परस्पर में अविरोधी हैं।

विशेषार्थ–परस्पर अविरोध रूप से जाति विशेष की अपेक्षा से पदार्थों को एक रूप ग्रहण करता है, वह विशेष संग्रह नय जानना चाहिए। कहा भी है **'एकजातिविशेषकः'।** जो एक जाति विशेष का ग्राहक अभिप्राय वाला है वह विशेष संग्रह नय है। यहाँ आचार्य महाराज उदाहरण देते हैं कि सर्व जीव परस्पर में अविरोधी हैं, ये सभी पृथक्-पृथक् एक हैं। छह द्रव्यों में से जीवत्व शक्ति के माध्यम से जीव द्रव्य का ग्रहण किया अर्थात् जिसमें चेतना पाई जाती है उसका संग्रह किया गया। ऐसा मात्र एक द्रव्य है–जीव द्रव्य। अब वह जीव चाहे संसारी हो या मुक्त, त्रस हो या स्थावर, एकेन्द्रिय हो या विकलेन्द्रिय या सकलेन्द्रिय, चाहे संज्ञी हो या असंज्ञी, नरक गति में हो या तिर्यंच गति में, मनुष्य गति में हो या देव गति में, चाहे मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि, चाहे किसी भी गुणस्थान में हो इत्यादि। इस प्रकार किन्हीं अन्य विशेषताओं को न देखते हुए मात्र चेतना शक्ति की अपेक्षा से सर्व जीवों को ग्रहण किया गया व इस चेतना या जीवत्व गुण की अपेक्षा से यह नय संपूर्ण जीव द्रव्य को एकरूप ग्रहण करता है व अन्य द्रव्यों में जीवत्व गुण नहीं होने से उनका ग्रहण नहीं करता, यह विशेष संग्रह नय है।

अथवा जैसे फल कहने से सभी प्रकार के फलों का संग्रह हो जाता है यह सामान्य संग्रह है किन्तु आम कहने से यहाँ आम की दशहरी, लंगड़ा, चूसा, सफेदा, तोताफली, हापुस, केसर, सरौली आदि सभी जातियों का एक रूप ग्रहण हो जाता है यह विशेष संग्रह है। अन्न कहने से सभी प्रकार के अन्नों का ग्रहण हो जाता है यह सामान्य संग्रह है किन्तु चावल कहने से उसकी सभी जातियों को एक रूप ग्रहण करने वाला विशेष संग्रह नय है।

यह अशुद्ध या अपर संग्रह नय भी कहा जाता है। संग्रह नय की दृष्टि में अभेद शुद्ध है और भेद अशुद्ध है। इसलिए सन्मति सूत्र में संग्रहनय की प्ररूपणा के विषय को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की प्रकृति कहा है। उक्तञ्च–

"होइ तमेव असुद्ध इगिजाइविसेसगहणेण॥208॥ न.च."

एक जाति विशेष ग्रहण करने से वह अशुद्ध (विशेष) संग्रह नय है।

संस्कृत नय चक्र में भी प्ररूपित है–

जीवनिचयाजीवनिचयहस्तिनिचयतुरगनिचयरथनिचयपदातिनिचय-इति निंबुजंबीरजंबू-माकंदनारिकेलनिचय इति। द्विजवर, वणिग्वर, तलवराद्यष्टादश-श्रेणीनिचय इत्यादि दृष्टान्तैः प्रत्येकजातिनिचयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं विशेषसंग्रहनयः।'

जीव समूह, अजीव समूह, हाथियों का झुंड, घोड़ों का झुंड, रथों का समूह, पैदल चलने वाले सैनिकों का समूह, नींबू, जामुन, आम व नारियल का समूह, इसी प्रकार द्विजवर, वणिक् श्रेष्ठ, कोटपाल आदि अठारह श्रेणी के समूह इत्यादिक दृष्टान्तों के द्वारा प्रत्येक जाति के समूह को नियम से एकवचन द्वारा स्वीकार करके कथन करना विशेष संग्रह नय है।

व्यवहार नय भेद

व्यवहारोऽपि द्वेधा॥71/1॥

अर्थ–व्यवहार नय भी दो प्रकार का है (1) सामान्य (2) विशेष

विशेषार्थ–संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थ का भेद करने वाला नय, व्यवहार नय कहलाता है। संग्रह नय द्वारा ग्रहण किए गए द्रव्य, पदार्थादि में भेद डालना इस नय का प्रयोजन है। व्यवहार नय भी दो प्रकार से भेद करके वस्तु तत्त्व का बोध कराता है। जैसे संग्रह नय के दो भेद किए गए तब व्यवहार नय के भी उसके अनुरूप दो भेद हो जाते हैं सामान्य व विशेष।

यः संग्रहग्रहीतार्थे शुद्धाशुद्धे विभेदकः।
शुद्धाशुद्धाभिधानेन व्यवहारो द्विधा मतः॥

शुद्ध (सामान्य) संग्रह नय द्वारा ग्रहीत अर्थ की भेदक तथा अशुद्ध (विशेष) संग्रह नय द्वारा ग्रहीत अर्थ की भेदक व्यवहार नय भी शुद्ध, अशुद्ध (सामान्य, विशेष) के अभिधान से दो प्रकार का है।

व्यवहार का आशय है जो भेद करता है। कभी अभेद में भेद करता है, कभी भेद में भेद करता है। भेद करने की प्रक्रिया ही व्यवहार कहलाती है। बिना व्यवहार के, बिना भेद किए निश्चय पकड़ में नहीं आता। द्रव्य की अपेक्षा से भेद करने वाला यह नय द्रव्यार्थिक नय का भेद है। यह सूत्र कतिपय पुस्तकों में अन्तर्निहित है, यह कहीं प्राप्त होता है और कहीं प्राप्त नहीं होता। यह सूत्र प्रसंगानुसार संलग्न किया गया हो ऐसा भी माना जा सकता है।

सामान्य व्यवहार नय

सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः॥71/2॥

अर्थ–सामान्य संग्रह नय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्य संग्रहभेदक व्यवहारनय है। जैसे–द्रव्य के दो भेद हैं जीव और अजीव।

विशेषार्थ–जो सामान्य संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों में भेद करता है वह सामान्य संग्रह भेद व्यवहार नय कहलाता है। जैसे मिठाई कहने पर सामान्य संग्रह नय सभी मिठाईयों को एक रूप ग्रहण करता है। किन्तु व्यवहार नय बर्फी, रसगुल्ला, लड्डू, रसमलाई आदि भेद रूप ग्रहण करता है। वा सामान्य संग्रह नय सभी वृक्षों को एक रूप ग्रहण करता है किन्तु आम्र, जामुन, नीम, पीपल आदि भेद कर ग्रहण करना इस व्यवहार नय का प्रयोजन है। अथवा ज्योतिर्लोक कहने पर यह सब एक रूप ग्रहण करता है किन्तु ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि रूप भेद कर ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है।

यहाँ आचार्य महाराज उदाहरण देते हैं। द्रव्य के दो भेद-जीव व अजीव। सत् रूप से या द्रव्यत्व गुण से सभी द्रव्यों को एक रूप स्वीकार करने वाला सामान्य संग्रह नय है। सामान्य संग्रह से ग्रहण किए पदार्थ में विधिपूर्वक भेद करना सामान्य या शुद्ध संग्रह भेदक व्यवहार नय कहलाता है। द्रव्य के दो भेद किए–जीव व अजीव। कहा भी है–

सामान्यसंग्रहस्यार्थे जीवाजीवादिभेदतः।
भिनत्ति व्यवहारोयं शुद्धसंग्रहभेदकः॥

जो सामान्य संग्रह के द्वारा कहे गए अर्थ को जीव अजीव आदि के भेद से विभाजन करता है वह शुद्ध संग्रह का भेदक व्यवहार नय है।

'अनेन सामान्यसंग्रहनयेन स्वीकृतसत्ता सामान्यरूपार्थं भित्वा जीवपुद्गलादि-कथनं, सेनाशब्देन, स्वीकृतार्थं भित्वा हस्त्यश्वरथपदातिकथनं, नगरशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा अयस्कारसुवर्णकारकांस्यकारौषधिकार शाव्यकारजालकार वैद्यकारादि-कथनं, वनशब्देन स्वीकृतार्थं भित्वा पनसाम्रनारिकेलपूगद्रुमादि कथनमिति सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारनयो भवति।'

इस प्रकार सामान्य संग्रह नय के द्वारा स्वीकृत सत्ता सामान्य अर्थ को भेदकर जीव, पुद्गल कहना, सेना शब्द के द्वारा स्वीकृत सत्ता सामान्य अर्थ को भेदकर हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदि को कहना, नगर शब्द के द्वारा स्वीकृत पदार्थ का भेद कर लुहार, सुनार, कसार, औषधिकार, मारक, जालाकार, वैद्य आदि कहना, वन शब्द के द्वारा स्वीकार किए गए अर्थ को भेदकर पनस, आम, नारियल, सुपारी आदि वृक्षों को कहना सामान्य संग्रह का भेदक व्यवहारनय है।

विशेष व्यवहार नय

विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च॥72॥

अर्थ–विशेष संग्रह नय के विषयभूत पदार्थ को भेदरूप से ग्रहण करने वाला विशेषसंग्रहभेदक व्यवहार नय है जैसे जीव के दो भेद-संसारी व मुक्त।

विशेषार्थ–जो विशेष संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों में भेद करता है वह विशेष संग्रह भेदक व्यवहार नय कहलाता है। जैसे रसगुल्ला। अपनी जाति का विरोध न करते हुए यह संग्रह नय सभी प्रकार के रसगुल्लों का ग्रहण कर लेता है। अब इनमें भेद कर ग्रहण करना व्यवहार नय का प्रयोजन है। यथा-मावे के रसगुल्ले, पनीर के रसगुल्ले, बंगाली रसगुल्ले इत्यादि। अथवा आम्र विशेष रूप से ग्रहण करने से सबका ग्रहण हो जाता है। किन्तु लंगड़ा, चूसा, दशहरी इत्यादि भेद कर ग्रहण करना इस व्यवहार नय का प्रयोजन है। वा चावल के कहने से सामान्य रूप से सभी चावलों का ग्रहण हो जाता है किन्तु उनमें बासमती, गुलाबसूर, इत्यादि भेद कर ग्रहण करने वाला यह व्यवहार नय है। ग्रह कहने से संपूर्ण ग्रहों का ग्रहण हो जाता है किन्तु सूर्य, चंद्र, गुरु, बुध आदि 88 प्रकार के ग्रहों को भेद रूप ग्रहण करने वाला यह व्यवहार नय है।

यहाँ आचार्य महाराज उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जीव इतने कहने मात्र से विशेष संग्रह सभी जीवों का ग्रहण कर लेता है किन्तु जीव संसारी व मुक्त दो प्रकार का है। इस प्रकार विशेष संग्रह द्वारा ग्रहीत पदार्थ में भेद करना इस नय का प्रयोजन है। जीव के आगे और भी भेद करना सब व्यवहार नय का कार्य है। संस्कृत नय चक्र में कहा भी है–

विशेषसंग्रहस्यार्थो जीवादौ रूपभेदतः।
भिनत्ति व्यवहारस्त्वशुद्धसंग्रहभेदकः॥

जो विशेष संग्राहक नय के विषयभूत जीवादि पदार्थ को रूप भेद से स्वरूप भेद से विभाजित करता है वह अशुद्ध संग्रह या विशेष संग्रह भेदक व्यवहार नय है।

'विशेषसंग्रहनयेन स्वीकृतार्थान् जीवपुद्गलनिचयान् भित्वा देवनारकादि-कथनं घटपटादिकथनं, हस्त्यश्वरथपदातीन् भित्वा भद्रगजजात्यश्व-महारथ-शतभट्-सहस्रभटादिकथनं, निंबजंबुजवीरनारंगनारिकेलसहकार पादपनिचय भित्वा सरसविरसता मधुराम्रादिरसविशेषतां परिमलतां हरितपांडुरादिवर्णविशेषतां ह्रस्वदीर्घता सफलनिः फलतामित्यादि कथनं, तलवराद्यष्टादशश्रेणीनिचय भित्वा बलाबलतां सस्वनिस्वतां कुशलाकुशलतां योग्यायोग्यतां कुब्जदीर्घता कुरूपसुरूपतां स्त्रीपुं-नपुंसकभेदविशेषता कर्मविभागतां सदसदाचरणतां च कथनमित्याद्यनेकविषयान् भित्वा कथनं विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारनयो भवति।

विशेष संग्रह नय के द्वारा स्वीकृत पदार्थों को जीवपुद्गलों के समूह को भेद करके देवनारकादिक और घटवस्त्रादिक का कथन करना, हस्ति, घोड़े, रथ, प्यादे को भेदरूप से विकल्प करके भद्र हाथी, सुंदर घोड़ा, महारथ, शतभट, सहस्रभट, कोटिभट आदि रूप से कहना, निंब, जामुन, जवीर, नारंगी, नारियल और आम के समूह को भेद करके सरस, विरसता को, मधुर आम के रस की विशेषता को, सुगंधता को, हरित-श्वेत-पीतादिक वर्ण विशेषता को, ह्रस्व-दीर्घता को, सफलता-निष्फलता आदि से युक्त कहना, रथों को, तलवार, कोतवाल आदि 18 श्रेणी समूह के भेदकर बलाबल को, सधनता-निर्धनता को, कुशलता-अकुशलता को, योग्यता-अयोग्यता को, कुबड़ापन व मोटापे को, कुरूपता-सुरूपता को, स्त्री-पुरुष-नपुंसक को, कर्मफल को, सदाचरण-असदाचरण को कहना इत्यादि अनेक विषयों को भेद करके कहना विशेष संग्रह भेदक व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय भेद

ऋजुसूत्रोऽपि द्विविधः॥73॥

अर्थ—ऋजुसूत्र नय भी दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—द्रव्य की अतीत व अनागत पर्यायों को छोड़कर जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है। नैगम, संग्रह व व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय माने गए हैं एवं ऋजुसूत्रादि नय पर्यायार्थिक नय कहे गए हैं। पर्याय का कथन करने वाला होने से यह पर्यायार्थिक नय है। पर्याय भी दो प्रकार की कही जाती हैं—अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय। विवक्षित पर्याय के प्रारंभकाल से लेकर उसका अंत होने तक जो काल है वह वर्तमान काल है। अर्थ और व्यंजन पर्यायों की स्थिति के अनेक प्रकार होने से यह काल अनेक प्रकार है।

अथवा द्रव्य की एक वह पर्याय जो प्रतिक्षण परिणमित हो रही है और दूसरी वह जो कुछ चिरकाल तक अवस्थित रहती है। पर्याय सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकार की होने से यह ऋजुसूत्र नय भी दो प्रकार का है—सूक्ष्म ऋजु सूत्रनय व स्थूल ऋजुसूत्र नय। श्री धवला जी ग्रंथराज में सूक्ष्मऋजुसूत्र नय को शुद्ध ऋजुसूत्र व स्थूलऋजुसूत्र को अशुद्ध ऋजुसूत्र नय कहा गया है।

सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय

सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः॥74॥

अर्थ—जो नय एकसमयवर्ती पर्याय को विषय करता है वह सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है।

विशेषार्थ—प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिणमनशील है। गुणों में द्रव्यों में प्रति समय परिणमन हो रहा है वह परिणमन ही पर्याय है। प्रति समय होने वाला परिणमन सूक्ष्म परिणमन कहलाता है। वह एक समय की पर्याय अर्थ पर्याय कहलाती है। इस सूक्ष्म परिणमन, अर्थ पर्याय को ग्रहण करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का प्रयोजन है।

जैसे कोई लोहे की वस्तु रखी है, कुछ समय पश्चात् देखा उसमें जंग लग गई। उसका परिणमन दृष्टिगोचर हुआ अथवा बालक को सालभर बाद देखा तो लंबा दिखाई दिया इत्यादि पदार्थों में परिवर्तन देखा जाता है किन्तु यह परिवर्तन एक साथ नहीं होता प्रतिपल परिणमन होता है जो हमारी पकड़ में नहीं आता। सूक्ष्म वा अर्थ पर्याय प्रतिसमय होने वाली पर्याय हैं। यह सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय उसी एक समय की पर्याय को ग्रहण करता है। पुनः वह पर्याय नष्ट

हो जाती है तब दूसरे ही समय दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है तब वह नय दूसरी पर्याय को ग्रहण करता है। यह नय वर्तमानकालिक पर्याय को ही ग्रहण करता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि इस प्रसंग में वर्तमान काल कितना है। तब कहते हैं कि शुद्ध या सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा वर्तमान काल का प्रमाण एक समय मात्र है। यह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय प्रत्येक क्षण में परिणमन करने वाले पदार्थों को विषय करता है।[1]

आचार्य भगवन् कलिकाल सर्वज्ञ श्री वीरसेन स्वामी ने धवला जी में कहा भी है–**तत्थ सुद्धो वसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाणासेसत्थो अप्पणो विसयादो ओसारिदसारिच्छ-तब्भाव-लक्खणसामण्णो।'**

अर्थ पर्याय को विषय करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय है। वह प्रत्येक क्षण में परिणमन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता हुआ अपने विषय से सादृश्य सामान्य व तद्भाव रूप सामान्य को दूर करने वाला है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी प्ररूपित है–

जो वट्टमाणकाले अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं।
संतं साहदि सव्वं तं पि णयं उज्जुयं जाण।।274।।

वर्तमान काल में अर्थ पर्याय रूप परिणत अर्थ को जो सत् रूप साधता है वह (सूक्ष्म) ऋजुसूत्र नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है–

द्रव्ये गृह्णाति पर्यायध्रुवसमयमात्रिक।
ऋजुसूत्राभिधः सूक्ष्मः स सर्वः क्षणिकः यथा।।

द्रव्य में समय मात्र रहने वाली पर्याय को जो नय ग्रहण करता है वह सूक्ष्मऋजुसूत्र नय कहा गया है, जैसे सर्व क्षणिक है।

'प्रतिसमय प्रवर्तमानार्थपर्यायै वस्तुपरिणमनमित्येषः सूक्ष्मऋजुसूत्रनयो भवति।'

'अर्थपर्यायापेक्षया समयमात्रं'

प्रतिसमय प्रवर्तमान अर्थपर्याय मे वस्तु परिणमन को विषय करने वाला सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है। अर्थपर्याय की अपेक्षा समयमात्र काल है।

प्राकृत नयचक्र में भी कहा गया है–

जो एयसमयवट्टी गेह्णइ दव्वे अधुवत्तपज्जायं।
सो रिउसुत्ते सुहुमो, सव्वं सद्दा जहा खणिय।।210।।

---

1. धवला जी. 9

जो नय द्रव्य में एक समयवर्ती अवयव पर्याय को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्मऋजुसूत्र नय है, जैसे–शब्द क्षणिक है।

स्थूल ऋजुसूत्र नय

स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुप्रमाणकालं तिष्ठन्ति॥75॥

अर्थ–जो नय अनेक समयवर्ती स्थूलपर्याय को विषय करता है, वह स्थूल-ऋजुसूत्र नय है। जैसे–मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी आयु प्रमाणकाल तक रहती हैं।

विशेषार्थ–द्रव्य की स्थूल पर्याय ऋजुसूत्र का विषय है। पदार्थ की एक प्रति समय परिणमित होने वाली पर्याय होती है और दूसरी चिरकाल तक अवस्थित रहती है, इंद्रिय गोचर होती है वह उसकी व्यंजन पर्याय कहलाती है। जैसे–घट, उसमें प्रति समय परिणमन हो रहा है किन्तु वह जब तक घट है फूटता नहीं किसी और रूप परिणमित नहीं होता तब तक उसकी वह घटरूप एक पर्याय है या कोई परिधान है, उसमें भी प्रतिसमय परिणमन हो रहा है किन्तु जब तक अन्य रूप परिणमित नहीं होता तब तक परिधान रूप उसकी एक पर्याय है। कोई टेबल है जब तक वह टेबल है, प्रति समय परिणमन होने के बाद भी वह टेबल रूप एक पर्याय है। या मनुष्य है जब तक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता तब तक प्रति समय प्राप्त होने वाली पर्यायों के बाद भी वह मनुष्य रूप एक पर्याय है। ये सब स्थूल पर्याय कहलाती हैं। इन स्थूल या व्यंजन पर्यायों को विषय करने वाला स्थूल ऋजुसूत्र नय कहलाता है1

यदि कहा जाए कि व्यंजन पर्याय को विषय करने वाला ऋजुसूत्रनय बहुत काल तक अवस्थित रहता है इसलिए वह ऋजुसूत्र नहीं हो सकता है क्योंकि उसका काल वर्तमान मात्र है। तब ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है क्योंकि विवक्षित पर्याय के अवस्थान काल रूप द्रव्य को भी ऋजुसूत्र नय वर्तमान रूप से ही ग्रहण करता है[1]।

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने भी कहा है कि स्थूल या अशुद्ध ऋजुसूत्र नय के विषयभूत पदार्थों का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से छः मास अथवा संख्यात वर्ष है क्योंकि चक्षु इंद्रिय से ग्राह्य व्यंजन पर्यायें द्रव्य की प्रधानता से रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पाई जाती हैं।

'जो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजणपज्जयविसओ।'

---

1. क. पा. 1

जो अशुद्ध ऋजुसूत्र नय है वह चक्षु इंद्रिय की विषयभूत व्यंजन पर्यायों को विषय करने वाला है।

यहाँ आचार्य महाराज उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मनुष्यादि पर्यायें अपने-अपने आयु काल प्रमाण रहती हैं। माना 33 सागर की आयु वाला अहमिन्द्र है। तब 33 सागर तक अहमिन्द्र रूप उसकी वह पर्याय स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है। या 100 वर्ष की या असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य को उतने समय तक मनुष्य रूप पर्याय को विवक्षित नय ग्रहण करता है। प्राकृत नयचक्र में भी कहा है–

मणुवाइयपज्जाओ मणुसोत्ति सगदिट्ठीसु वट्टंतो।
जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो।।211।।

जो अपनी स्थिति पर्यन्त रहने वाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्य रूप से ग्रहण करता है वह स्थूलऋजुसूत्रनय है। संस्कृत नयचक्र में भी प्ररूपित है–

जो नरादिकपर्यायः स्वकीयस्थितिवर्त्तनः।
तावत्काल तथा चष्टे स्थूलाख्यऋजुसूत्रकः।।

मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी स्थिति काल तक रहती हैं उतने काल तक मनुष्य आदि कहना स्थूलऋजुसूत्र नय है।

नरनारकादिघटपटादिव्यञ्जनपर्यायेषु जीवपुद्गलाभिधानरूपवस्तूनि परिणतानीति स्थूलऋजुसूत्रनयः।

नर-नारक आदि और घट-पट आदि व्यंजन पर्यायों में जीव और पुद्गल नामक पदार्थ परिणत हुए हैं। इस प्रकार का विषय स्थूलऋजुसूत्र नय का है।

व्यञ्जनपर्यायापेक्षया प्रारम्भतः प्रारभ्य अवसान यावद्भवतीति निश्चयकर्त्तव्यं इति तात्पर्यं।

व्यंजन पर्याय की अपेक्षा प्रारंभ से अवसान तक वर्तमान पर्याय निश्चय करना चाहिए।

शब्दादि नय में भेद कथन

शब्दसमभिरूढ़ैवंभूता नयाः प्रत्येकमेकैका नयाः।।76।।

अर्थ–शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय इन तीन नयों में से प्रत्येक नय एक-एक प्रकार का है।

विशेषार्थ–नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय के भेदों के कथन के पश्चात् यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि शब्द नय मात्र एक प्रकार का है, समभिरूढ़ नय एक प्रकार का है व एवंभूत नय भी एक ही प्रकार का है अर्थात् इनका अन्य कोई भेद नहीं है। लिंग, संख्या आदि के व्यभिचार को दूर करने वाला शब्द नय है। जो रूढ़ अर्थ को ग्रहण करता है वह समभिरूढ़ नय है एवं जो जिस पर्याय रूप परिणत हो गया उसे निश्चय करने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं। आगे सूत्रों में इन नयों के उदाहरण कहेंगे।

शब्द नय

शब्दनयो यथा दाराः भार्या कलत्रं जलं आपः॥77॥

अर्थ–शब्द नय जैसे–दारा, भार्या, कलत्र अथवा जल व आप (अप्) एकार्थवाची हैं।

विशेषार्थ–शब्द नय संख्या, लिंग, कारक आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करता है। अर्थात् यदि एकार्थवाची शब्दों के लिंगादि भिन्न हैं तो यह नय उन्हें भिन्न-भिन्न अर्थ रूप ग्रहण करता है। उदाहरण देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं–दारा, भार्या व कलत्र। भार्या स्त्रीलिंग, दारा पुल्लिग व कलत्र नपुंसक लिंग के शब्द हैं। तीनों एकार्थवाची हैं इनका एक ही अर्थ है–स्त्री किन्तु इनमें लिंग व्यभिचार होने से शब्द नय इन्हें ग्रहण नहीं करता। अथवा जलं यह नपुंसक लिंग वाला है और आप : यह पुल्लिग है। इनमें भी लिंग व्यभिचार है। अथवा विभूतिः व ऐश्वर्यम् एकार्थवाची हैं। किन्तु क्रमशः स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग के होने से लिंग व्यभिचार है। अथवा अग्नि, वैश्वानरः, वह्निः, ज्वलनः, पावकः, रोहिताश्वः सप्तार्चिः आदि एकार्थवाची हैं व सभी पुल्लिग के होने से शब्दनय द्वारा एकार्थ में ग्राह्य हैं किन्तु अग्नि का पर्यायवाची अप्पित्तम नपुंसकलिंग का है अतः लिंग व्यभिचार होने से शब्दनय एकार्थरूप ग्रहण नहीं करता। स्याद्वाद मंजरी में उद्धृतः श्लोक है–

विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम्।
तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दं प्रत्यवतिष्ठतः॥5॥

जैसे इंद्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों समानलिंगी शब्द एक अर्थ को द्योतित करते हैं वैसे तटः, तटी, तटम् इन शब्दों से विरुद्ध लिंग रूप धर्म से संबंध होने के कारण, वस्तु का भेद भी समझा जाता है। विरुद्ध धर्मकृत भेद का अनुभव करने वाली वस्तु में विरुद्ध धर्म का संबंध मानना भी युक्त नहीं है। इस प्रकार संख्या, काल, कारक, पुरुष आदि के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भेद भी समझना चाहिए।

यहाँ विशेष यह है कि यद्यपि 'भिन्न लिंग वाले शब्द भी व्यवहार में एकार्थवाची समझे जाते हैं,' ऐसा यह नय जानता भी है और मानता भी है परंतु वाक्य में उनका प्रयोग करते समय उनमें लिंगादि का व्यभिचार नहीं आने देता। अभिप्राय में उन्हें एकार्थवाची समझते हुए भी वाक्य में प्रयोग करते समय कारणवशात् लिंगादि के अनुसार ही उनमें अर्थभेद स्वीकार करता है।

यहाँ सूत्र में आचार्य महाराज ने लिंग व्यभिचार का उदाहरण दिया अतः प्रथम लिंग व्यभिचार बताया। राजवार्तिक ग्रंथ में आचार्य भगवन् श्री अकलंक देव स्वामी ने लिंग, संख्या, काल, कारक, साधन आदि व्यभिचार कहे हैं उनको यहाँ कहते हैं–

लिंगव्यभिचार–स्त्रीलिंग के स्थान पर पुल्लिग का, पुल्लिग के स्थान पर स्त्रीलिंग का कथन करना आदि लिंग व्यभिचार है जैसे–तारका, स्वाति। स्वाति नक्षत्र तारका है। यहाँ पर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिग है। इसलिए स्त्रीलिंग के स्थान पर पुल्लिग कहने से लिंग व्यभिचार है।

'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहाँ पर अवगम शब्द पुल्लिग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए पुल्लिग के स्थान पर स्त्रीलिंग कहने से लिंग व्यभिचार है।

'वीणा आतोद्यम्' वीणा बाजा आद्योत कहा जाता है। यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग और आद्योत शब्द नपुंसकलिंग है।

'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है। यहाँ पर आयुध शब्द नंपुसकलिंग व शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है।

'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है। यहाँ पर पट शब्द पुल्लिग व वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है।

'आयुधंपरशुः' फरसा आयुध है। यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग व परशु शब्द पुल्लिग है।

संख्या व्यभिचार–एकवचन की जगह द्विवचन आदि का कथन करना संख्या व्यभिचार है। जैसे–'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है। यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है। इसलिए एकवचन के स्थान पर द्विवचन का कथन करने से संख्या व्यभिचार है।

'नक्षत्रं' शतभिषजः' शतभिषज नक्षत्र है। यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज् शब्द बहुवचनान्त है।

'गोदौ ग्रामः' गायों को देने वाला ग्राम है। यहाँ पर गोदौ शब्द द्विवचनान्त तथा ग्रामः शब्द एकवचनान्त है।

'पुनर्वसू पञ्चतारकाः' पुनर्वसू पाँच तारें हैं। यहाँ पर पुनर्वसू द्विवचनान्त तथा पंचतारका शब्द बहुवचनान्त है।

'आम्राःवनम्' आमों के वृक्ष वन है। यहाँ पर आम्र शब्द बहुवचनान्त तथा वन शब्द एकवचनान्त है।

'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहाँ पर देवमनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशि शब्द द्विवचनान्त है।

कालव्यभिचार–भविष्यत् आदि काल के स्थान पर भूत आदि काल का प्रयोग करना कालव्यभिचार है। जैसे–'विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्व को देख लिया है ऐसा इसके पुत्र उत्पन्न होगा। यहाँ पर विश्व का देखना भविष्य का कार्य है परंतु उसका भूतकाल के प्रयोग द्वारा कथन किया गया है। इसलिए भविष्यत् काल का कार्य भूतकाल में कहने से कालव्यभिचार है।

'भावीकृत्यमासीत्' आगे होने वाला कार्य हो चुका। यहाँ पर भूतकाल के स्थान पर भविष्यकाल का कथन किया गया है।

कारकव्यभिचार–एक साधन अर्थात् एक कारक के स्थान पर दूसरे कारक के प्रयोग करने को साधन या कारक व्यभिचार कहते हैं। जैसे 'ग्राममधिशेते' वह ग्रामों में शयन करता है। यहाँ पर सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति या कारक का प्रयोग किया गया है। इसलिए यह साधन या कारक व्यभिचार है।

पुरुषव्यभिचार–उत्तम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष व मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष आदि के कथन करने को पुरुषव्यभिचार कहते हैं।

जैसे–'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथ से जाऊँगा परंतु अब न जाओगे, क्योंकि तुम्हारा पिता चला गया।

यहाँ पर उपहास करने के लिए 'मन्यसे' के स्थान पर 'मन्ये' ऐसा उत्तम पुरुष का तथा 'यास्यामि' के स्थान पर 'यास्यसि' ऐसा मध्यम पुरुष का प्रयोग हुआ है। इसलिए पुरुष व्यभिचार है।

उपग्रह व्यभिचार–उपसर्ग के निमित्त से परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद और आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का कथन कर देने को उपग्रह व्यभिचार कहते हैं।

जैसे–'रमते' के स्थान पर 'विरमति' 'तिष्ठति' के स्थान पर 'संतिष्ठते' और 'विशति' के स्थान पर 'निविशते' का प्रयोग व्याकरण में किया जाना प्रसिद्ध है।

इस प्रकार शब्द नय के उदाहरण यहाँ दिए गए हैं। उदाहरण से विषय को समझना सरल हो जाता है अतः आचार्य महाराज ने उदाहरण के माध्यम से शब्दनय को सूत्रित किया।

समभिरूढ़ नय

समभिरूढ़नयो यथा गौपशुः॥78॥

अर्थ–समभिरूढ़ नय जैसे–गौ पशु है।

विशेषार्थ–'शब्दानामनेकार्थाः' शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु यह नय अनेक अर्थों को छोड़कर सम्यक् प्रकार से अभिरूढ़ या रूढ़ अर्थ को ग्रहण करता है। यहाँ आचार्य महाराज ने उदाहरण के द्वारा समभिरूढ़ नय को स्पष्ट किया है। जैसे–'गौ' शब्द के वृषभ, पत्नी, इंद्रिय, भूमि, बाण, जल, किरण, नेत्र, स्वर्ग, वाणी आदि अनेक अर्थ हैं तथापि वह 'पशु' अर्थ में रूढ़ है। 'हरि' शब्द के सिंह, सर्प, विष्णु, वायु, अश्व, चंद्र, सूर्य, यम, इंद्र, किरण, शुक, बंदर, मंडूक आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु 'विष्णु' अर्थ में रूढ़ है। 'खग' शब्द के बाण, सूर्य, पक्षी, ग्रह, देव, वायु, किरणादि अनेक अर्थ हैं किन्तु यह 'पक्षी' अर्थ में रूढ़ है। इस प्रकार यह नय शब्दों के रूढ़ अर्थ को ग्रहण करता है।

एवंभूत नय

एवंभूतनयो यथा इन्दतीति इन्द्रः॥79॥

अर्थ–एवंभूतनय जैसे इंदन क्रिया करता हुआ इंद्र।

विशेषार्थ–जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसका उसी रूप से निश्चय कराने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं। यह नय क्रिया से परिणत द्रव्य को उसी नाम से जानता है। आचार्य महाराज अन्य नयों की भाँति इस नय को भी उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं। जैसे–इंदन क्रिया करता हुआ इन्द्र। यदि इंद्र इन्दन क्रिया से युक्त है तब ही वह इंद्र है। भगवान् की पूजा करते हुए, अभिषेक करते हुए, दिव्यध्वनि सुनते हुए यह नय इंद्र को इंद्र स्वीकार नहीं करता। उस अनुरूप अर्थात् इंदन क्रिया से युक्त इंद्र को इंद्र स्वीकार करता है।

एक विद्यार्थी तभी विद्यार्थी है जब वह शिक्षा ग्रहण कर रहा हो, यात्रा करते हुए उस विद्यार्थी को यह नय विद्यार्थी नहीं अपितु यात्री स्वीकार करेगा। पूजा करते समय पुजारी,

उपचार कराते समय रोगी, भोजन बनाते समय रसोइया, व्यापार करते समय व्यापारी इत्यादि है। अथवा 'गौ' एवंभूत नय तब गाय को गाय कहेगा जब वह गमन करती हो बैठी, सोती या खड़ी गाय को 'गौ' नहीं कह सकते। इस प्रकार जो जिस क्रिया रूप परिणत है उसी रूप पर्याय को यह नय स्वीकार करता है।

यहाँ कोई समभिरूढ़ नय व एवंभूत नय के एक होने की शंका करता है तब उसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि यद्यपि दोनों ही नय व्युत्पत्ति भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानते हैं परंतु समभिरूढ़ नय तो उस व्युत्पत्ति को सामान्य रूप से अंगीकार करके वस्तु की हर अवस्था में उसे स्वीकार कर लेता है किंतु एवंभूत तो उस व्युत्पत्ति का अर्थ तभी ग्रहण करता है, जबकि वस्तु तत्क्रिया परिणत होकर साक्षात् रूप से उस व्युत्पत्ति की विषय बन रही हो।

आचार्य भगवन् श्री विद्यानंदि स्वामी भी कहते हैं–समभिरूढ़ नय तो सामर्थ्य धारण रूप क्रिया के होने पर अथवा नहीं होने पर भी देवों के राजा इंद्र को 'शक्र' कहने का तथा गमन क्रिया के होने पर अथवा न होने पर भी अर्थात् बैठी या सोती हुई अवस्था में भी पशु विशेष को 'गौ' कहने का अभिप्राय रखता है, क्योंकि इस प्रकार रूढ़ि का सद्भाव पाया जाता है। किन्तु एवंभूत नय तो सामर्थ्य धारण रूप क्रिया से परिणत ही देवराज को 'शक्र' और गमन क्रिया से परिणत ही पशुविशेष को 'गौ' कहने का अभिप्राय रखता है, अन्य अवस्थाओं में नहीं।

अत: किसी क्रिया से परिणत द्रव्य ही उस क्रिया रूप नाम से जाना जा सकता है यह एवंभूत नय का अभिप्राय है।

उपनय भेद कथन प्रतिज्ञा

उपनयभेदा उच्यन्ते॥80॥

अर्थ–उपनय के भेदों को कहते हैं।

विशेषार्थ–यहाँ अग्रिम विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य महाराज ने लिखा कि अब उपनय के भेद कहे जाते हैं। उपनय के भेद एक या दो नहीं हैं, इससे ज्यादा हैं। संस्कृत में वचन तीन होते हैं–एकवचन, द्विवचन व बहुवचन। 'उपनयभेदा:' यह बहुवचन में कहकर स्पष्ट हुआ कि उपनय के भेद दो से अधिक हैं। उपनय को आचार्य महाराज पूर्व में ही परिभाषित कर चुके हैं–'**नयानां समीपा: उपनय:**।' उपनय स्वयं नय नहीं हैं किन्तु नय का

कुछ कार्य करते हैं। जैसे एक शब्द आता है 'उपचार'। उपचार का अर्थात् वैसा है नहीं, किन्तु उसके सदृश दिखता है। जैसे बिल्ली को शेर कह देना यह उपचार है, बिल्ली वास्तव में शेर है नहीं किन्तु कुछ उस रूप दिखती है। उपचार अर्थात् चर्या के समीप। जैसे–आर्यिका को उपचार से महाव्रती कहते हैं। वह महाव्रती है नहीं किन्तु महाव्रती की चर्या के समीप है, यथाशक्य 28 मूलगुणों का पालन करती है।

इसी प्रकार एक शब्द है–'उपकरण'। करण अर्थात् जिसके द्वारा काम किया जाता है। **'यः करोति सः कर्त्ता'** कर्त्ता के समीप रहने वाला उपकरण। उपकरण का अर्थ साधन भी होता है। कर्त्ता बिना उपकरण के सब कार्य नहीं कर सकता। जैसे बस के द्वारा गया। अब 'बस' कर्त्ता तो नहीं या बाण के द्वारा निशाना लगाया तो बाण कर्त्ता नहीं है। ये उपकरण स्वयं कार्य तो नहीं करते किन्तु इनके बिना कार्य भी नहीं होता। बिना उपकरणों के कोई कुंभकार घटादि का निर्माण नहीं कर सकता। बिना उपकरणों के कोई शिल्पकार पत्थर को मूर्ति रूप नहीं गढ़ सकता। वे कार्य करने वाले शिल्पकार के समीप रहते हैं अतः उपकरण। वे भी उपचार से कर्त्ता हैं। यदि किसी ने ऐनिमेशन मूवी बनाई पूछा किसने बनायी तो ऐसा पूछने पर व्यक्ति का नाम बताया जाएगा। यह नहीं कहा जाएगा कि लैपटॉप ने बनायी। किन्तु बिना लैपटॉप के, मोबाइल आदि के यह संभव नहीं है। अतः उपकरण भी कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हैं (कर्त्ता के माध्यम से)। इसी प्रकार 'उपनय' जो नय के साथ या अभाव में नय जैसा कार्य करते हैं। जैसे किसी संस्था के अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष (जो अध्यक्ष के समीप है) कार्य को पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार उपनय होते हैं। जो नय के समीप होते हैं, उसके समान कार्य करते हैं जो नयों की भाँति ही ज्ञाता के अभिप्राय स्वरूप हैं। वे उपनय तीन प्रकार के हैं–

1. सद्भूत व्यवहारनय 2. असद्भूत व्यवहारनय 3. उपचरित असद्भूत व्यवहार नय।

ये उपनय के तीन मूल भेद हैं जो पूर्व में कहे जा चुके हैं। इनके भेदों व स्वरूप को आचार्य महाराज स्वयं अग्रिम सूत्रों में कहेंगे।

सद्भूत व्यवहार नय भेद

सद्भूतव्यवहारो द्विधा॥81॥

अर्थ–सद्भूत व्यवहार नय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ–सद्भूत अर्थात् एकत्व यानि उसमें मिला हुआ है और व्यवहार अर्थात् भेद करना। अभिन्न को भिन्न करके कथन करना। अपनी जाति के ही अभिन्न, अखंड अंश को भेद करके कहना इस नय का प्रयोजन है। एक वस्तु में गुण-गुणी आदि भेद करना सद्भूत या एकत्व व्यवहार कहा जाता है। अथवा जहाँ एक वस्तु में भेद दिखाया जाये उसका नाम एकत्व या सद्भूत व्यवहार कहा जाता है। यह गुण-गुणी में भेद कर कथन करने वाला सद्भूत व्यवहार ही भेदोपचार के नाम से भी जाना जाता है। यह शुद्ध व अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का कहा जाता है।

शुद्ध-सद्भूत व्यवहार नय

शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायिणो र्भेदकथनम्॥82॥

अर्थ–शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी में तथा शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी में जो नय भेद का कथन करता है वह शुद्धसद्भूतव्यवहार नय है।

विशेषार्थ–गुण व पर्यायों के समूह को द्रव्य कहते हैं। गुण व पर्याय शुद्ध हैं तो द्रव्य भी शुद्ध है या द्रव्य शुद्ध है तो गुण व पर्याय भी शुद्ध हैं। शुद्ध द्रव्य के गुण शुद्ध होंगे। गुण शुद्ध होंगे तो गुणी भी शुद्ध होगा या गुणी शुद्ध होगा तो गुण भी शुद्ध होंगे। पर्याय शुद्ध हैं तो पर्यायी शुद्ध होगा व पर्यायी शुद्ध है तो पर्यायें भी शुद्ध ही होंगी। द्रव्य से गुण या पर्याय अलग नहीं है। पर्याय चाहे द्रव्य की है या गुण की है किन्तु उनसे अलग कदापि नहीं। यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं–गुण व गुणी। गुण अर्थात् एक गुण ध्रौव्यता की अपेक्षा कथन कर रहे हैं और गुणी अर्थात् संपूर्ण गुणों के पुंज रूप वह द्रव्य। गुणी व गुण यद्यपि अलग-अलग नहीं हैं फिर भी व्यवहार में भेद करके कथन करते हैं। पुनः कहा पर्याय व पर्यायी। पर्यायी वह है जिसकी पर्यायें उत्पन्न हो रही हों। पर्याय चाहे गुण की हो या द्रव्य की हो। पर्यायवान् जो गुण या द्रव्य है उसे भेद रूप कथन करना।

शुद्ध गुण-शुद्ध गुणी व शुद्ध पर्याय-शुद्ध पर्यायी में भेद करके कथन करना इस शुद्धसद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन है। जैसे कि नाम से भी स्पष्ट है शुद्ध अर्थात् शुद्ध, सद्भूत अर्थात् द्रव्य में मिला हुआ (गुण या पर्याय), व्यवहार-भेद करना। जैसे–'केवलज्ञान' ज्ञान गुण की पर्याय है और 'केवलज्ञान से युक्त अर्थात् केवलज्ञानी वह द्रव्य है। तो केवलज्ञान व केवलज्ञानी दोनों अलग-अलग नहीं हैं, जिसमें केवलज्ञान है वह केवलज्ञानी है

अथवा केवलज्ञानी कहने मात्र से ज्ञात हो जाता है कि यह केवलज्ञान से युक्त है। ये एक ही है। किन्तु यह नय कहता है केवलज्ञानी का केवलज्ञान बड़ा विशद है। इस प्रकार शुद्ध गुण शुद्धगुणी, शुद्धपर्याय व शुद्धपर्यायी को भेद रूप कहना इस नय का प्रयोजन है।

यह शुद्धसद्भूतव्यवहार नय, अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय के नाम से भी जाना जाता है। शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप बताते हुए 'णयचक्को' नामक ग्रंथ मे कहा है–

गुणपज्जयदोदव्वे कारगसब्भावदो य दव्वेसु।
सण्णाईहिय भेयं कुणइ सब्भूयसुद्धियरो॥219॥

शुद्धसद्भूतव्यवहारनय गुण और पर्याय के द्वारा द्रव्य में तथा कारक भेद से द्रव्यों में संज्ञा आदि के द्वारा भेद करता है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है–

'संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भित्त्वा शुद्धद्रव्ये गुणगुणिविभागैकलक्षणं कथयन् शुद्धसद्भूतव्यवहारोपनयः'।

संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन के द्वारा भेद करके शुद्ध द्रव्य में गुण और गुणी के विभाग के एक मुख्य लक्षण को कहने वाला शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

शुद्ध जीव द्रव्य के शुद्ध गुण क्षायिकदर्शन, क्षायिक गुण आदि उससे अभेद हैं व उसकी (सिद्ध जीव की) सिद्ध पर्याय उससे अभेद है फिर भी भेद रूप कथन करना शुद्धसद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

अशुद्ध-सद्भूत व्यवहार नय

अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाऽशुद्धगुणिनोरशुद्ध-पर्यायाशुद्धपर्यायिणो र्भेदकथनम्॥83॥

अर्थ–अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी में तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायी में जो नय भेद का कथन करता है वह अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

विशेषार्थ–पूर्व सूत्र में शुद्ध गुण-गुणी, शुद्ध पर्याय-पर्यायी में भेद कर कथन देखा। शुद्धात्मा और उसके केवलज्ञान, दर्शनादि गुण यद्यपि उससे अभिन्न हैं तथापि वह नय भेद कर कथन करता है। इसी प्रकार यहाँ अशुद्ध गुण-अशुद्ध गुणी, अशुद्ध पर्याय-अशुद्ध पर्यायी में भेद कर कथन करना इस विवक्षित नय का प्रयोजन है। यदि गुण अशुद्ध होंगे तो गुणी भी अशुद्ध ही होगा, अशुद्ध पर्यायी की पर्यायें भी अशुद्ध ही होंगी।

अशुद्ध अर्थात् संसारी प्राणी। जीव द्रव्य जब तक संसार में है, कर्म सहित है तब तक वह अशुद्ध है। उस अशुद्ध जीव, संसारी प्राणी के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, क्षयोपशम दर्शन, क्षयोपशम ज्ञान, क्षयोपशम शक्ति आदि हैं। ये गुण उनके पास हैं, इन्हें उनसे अलग नहीं किया जा सकता। जैसे कहा–जीव का मतिज्ञान। गुण–गुणी दोनों अशुद्धावस्था में हैं, जीव और मतिज्ञान को यद्यपि अलग–अलग नहीं किया जा सकता। जीव से अलग मतिज्ञान कहीं नहीं और ज्ञान से पृथक् जीव की कोई सत्ता नहीं। तथापि इन्हें भेद कर कथन करना अशुद्धसद्भूत व्यवहार नय का प्रयोजन है क्योंकि गुण व गुणी अशुद्ध हैं व मनुष्यादि पर्याय व पर्यायी संसारी जीव, ये पर्याय व पर्यायी अशुद्ध हैं यद्यपि ये अभेद हैं तथापि इनका भेद कर कथन करना अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

जब पर्याय अशुद्ध है तब समझना चाहिए कि पर्यायी भी अशुद्ध है। जिस समय जीव की मनुष्य पर्याय है उस समय जीव भी मनुष्य दशा से परिणत होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि पर्याय तो मनुष्य की हो और जीवद्रव्य आत्मा, सिद्धों जैसा शुद्ध बना रहे। कुछ एकांतवादी भटक जाते हैं वे कहते हैं हमारी आत्मा तो त्रैकालिक शुद्ध है, सिद्धों जैसी है बस यह पर्याय अशुद्ध है। यह उनका कथन उनकी अल्पज्ञता का प्रतीक है व निराधार है। ऐसी धारणा वाले जिनशासन में समाहित नहीं कहे जा सकते। उन्हें यह जानना आवश्यक है कि पर्याय व पर्यायी अलग–अलग नहीं होते। जैसी पर्याय वैसा पर्यायी अथवा जैसा पर्यायी वैसी पर्याय होती है। मात्र कथन भेद है, समझने के लिए अलग–अलग कथन किया है। इसी प्रकार गुण व गुणी अलग–अलग नहीं हैं। जैसे किसी पुद्गल स्कंध में स्पर्श, रसादि गुण उससे अलग नहीं होते। आम का स्पर्श, रस, गंध वर्ण उससे भिन्न कदापि नहीं है। मात्र भेद रूप कथन किया जा सकता है जैसे आम का पीलापन, मिठास इत्यादि। यह अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भेद कथन कर समझाता है। यदि यह नय न हो तो वस्तु तत्त्व को समझना संभव नहीं होता। शुद्ध द्रव्य दृष्टिगोचर नहीं होते। अशुद्ध जो दृष्टिगोचर होते हैं यदि अशुद्ध नय नहीं होता तो समझते कैसे? यह नय अशुद्ध गुण–गुणी, पर्याय–पर्यायी के भेद रूप बोध कराता है।

संस्कृत नयचक्र में प्ररूपित भी है–

''संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भित्त्वा अशुद्धद्रव्ये गुणगुणिविभागैकलक्षणं कथयन् अशुद्धसद्भूतव्यवहारोपनयः।''

संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन के द्वारा भेद करके अशुद्ध द्रव्य में गुण और गुणी के विभाग रूप मुख्य लक्षण को कहने वाला अशुद्ध–सद्भूतव्यवहार–नय है।

इस प्रकार सद्भूत व्यवहार नय के शुद्ध व अशुद्ध दो भेद कहे गए। सद्भूत का अर्थ है मिला हुआ। जो शुद्ध द्रव्य में मिले गुणादि का भेद रूप कथन करे वह शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय और जो अशुद्ध द्रव्य में मिले गुणादि का भेद रूप कथन करे वह अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है।

असद्भूत व्यवहार नय भेद कथन

असद्भूतव्यवहारस्त्रेधा॥84॥

अर्थ–असद्भूत व्यवहारनय तीन प्रकार का है।

विशेषार्थ–अन्य द्रव्य के धर्म का अन्य द्रव्य में आरोपण करने को असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जीव व पुद्गल कर्म-नोकर्म अनादिकाल से दूध-पानी के समान मिले हुए हैं। इस संबंध को लेकर असद्भूत व्यवहार नय से पुद्गल के अचेतनत्व व मूर्त्तत्व धर्म का आरोप चेतन में किया जाता है और जीव के चेतनत्व व अमूर्त्तत्व धर्म का आरोप पुद्गल में किया जाता है। अतः असद्भूत व्यवहारनय से जीव भी अचेतन, अमूर्त्तत्व स्वभावी व पुद्गल भी चेतन व अमूर्त्त स्वभावी है।

सद्भूतव्यवहार नय के भेद के कथन के पश्चात् आचार्य महाराज असद्भूत व्यवहारनय के भेदों का कथन करते हैं। इस सूत्र में भेदों की संख्या बताते हुए कहते हैं कि यह असद्भूतव्यवहारनय तीन प्रकार का है–स्वजातिअसद्भूतव्यवहारनय, विजातिअसद्भूत व्यवहार नय और स्वजाति-विजातिअसद्भूतव्यवहार नय। णयचक्को में कहा भी है–

''अण्णेसिं अण्णगुणा भणइ असब्भूय तिविह भेदो वि।
सज्जाइ इयर मिस्सो णायव्वो तिविहभेदजुदो॥222॥''

जो अन्य के गुणों को अन्य का कहता है वह असद्भूत व्यवहारनय है। उसके तीन भेद हैं–सजाति, विजाति और मिश्र।

स्वजात्यसद्भूत-व्यवहार नय

स्वाजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशीति कथनमित्यादि॥85॥

अर्थ–स्वजाति-असद्भूतव्यवहार नय जैसे परमाणु को बहुप्रदेशी कहना।

विशेषार्थ–अन्य के गुणों को अन्य का कहना यह असद्भूत व्यवहार नय है। स्वजाति अर्थात् अपनी जाति। अपनी जाति के द्रव्यादि में अपनी जाति के द्रव्यादि के संबंध से होने वाले धर्म का आरोपण यह नय करता है। अपनी जाति में अपनी जाति का आरोपण करता है

किन्तु वैसा है नहीं, उपचार से कहता है। जैसे उदाहरण दिया कि परमाणु बहुप्रदेशी है। पुद्गल का परमाणु तो एक प्रदेशी होता है, उसके दो आदि प्रदेश नहीं होते। किन्तु एक परमाणु का संबंध अन्य परमाणुओं से होता है तब वह स्कंध बन जाता है, तब उसे उपचार से बहुप्रदेशी कहा जाता है। परमाणुओं के माध्यम से जो स्कंध बना वह पुद्गल द्रव्य की विभाव पर्याय है और परमाणु भी पुद्गल है किन्तु वह पुद्गल की शुद्ध पर्याय है। परमाणु व स्कंध दोनों ही पौद्गलिक हैं पुद्गल द्रव्य हैं अतः एक जाति के हैं। यहाँ पर स्वजातीय द्रव्य (परमाणु) में स्वजातीय द्रव्य (अन्य परमाणु वा स्कंध) के संबंध से होने वाली विभाव पर्याय का आरोपण किया गया है अर्थात् परमाणु को बहुप्रदेशी कहा गया है। इस प्रकार का कथन करना स्वजाति-असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोजन है।

संस्कृत नय चक्र में भी कहा गया है-

अणुरेकप्रदेशोऽपि येनानेकप्रदेशकः।
वाच्यो भवेदसद्भूतो व्यवहारः स भण्यते॥

जिसके द्वारा अणु एकप्रदेशी होने पर भी बहुप्रदेशी बतलाया जाता है वह असद्भूत व्यवहार नय है।

'पुद्गलद्रव्यस्य घटपटादिसम्बन्धप्रबंधपरिणतिविशेषकथकं स्वजात्यसद्भूत-व्यवहारोपनयः। स्कंधरूपस्वरूपेषु पुद्गलस्त्विति भाष्यते, इत्यसद्भूतरूपोसौ व्यवहार स्वजातिकः।'

घट, वस्त्र इत्यादिक संबंध रचना की परिणति विशेष को पुद्गल द्रव्य के बतलाने वाला स्वजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। स्कंध रूप निज पर्यायों में पुद्गल है इस प्रकार का कथन करने वाला स्वजाति से असद्भूतव्यवहार रूप स्वजातीयासद्भूतव्यवहारोपनय है।

विजात्यसद्भूत-व्यवहार नय

विजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा मूर्तं मतिज्ञानं यतो मूर्तद्रव्येण जनितम्॥86॥

अर्थ-विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय जैसे मतिज्ञान मूर्त्त है क्योंकि मूर्त्त द्रव्य से उत्पन्न हुआ है।

विशेषार्थ-विजातीय द्रव्यादि में विजातीय द्रव्यादि का आरोपण करना विजात्यसद्भूतव्यवहारनय का कार्य है। सरलता से शिष्यों को बोधित करने हेतु आचार्य महाराज विवक्षित नय का उदाहरण देते हुए कहते हैं जैसे-मतिज्ञान मूर्त्त है। ज्ञान आत्मा का

गुण है। आत्मा के अमूर्त होने से आत्मा का गुण ज्ञान भी अमूर्त होना चाहिए। किन्तु मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान ये क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण व वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से ये प्रकट होते हैं। कर्म पुद्गल होने से मूर्त्तिक हैं। जैसे कर्मों से युक्त आत्मा व्यवहार से मूर्त्तिक कह दिया जाता है वैसे ही पुद्गल मूर्त्त मतिज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से होने के कारण मतिज्ञानादि मूर्त्तिक कहे जाते हैं। मतिज्ञान विजातीय है क्योंकि वह विजातीय अर्थात् बिना कर्म के क्षयोपशम के आत्मा में प्रकट नहीं होता, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान बिना विजातीय (कर्म के क्षयोपशम) के आत्मा में उत्पन्न नहीं होता। संपूर्ण कर्मों के क्षय होने पर आत्मोत्पन्न क्षायिक ज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान में कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं है।

विजातीय (कर्म क्षयोपशम) की अपेक्षा रखने से यह मतिज्ञान आत्मा का विजातीय गुण माना गया है। मूर्त्तत्व पुद्गल का गुण होने से विजातीय है। विजातीय मतिज्ञान में विजातीय मूर्त्तता का आरोपण करने वाला यह विजातीय असद्भूत व्यवहार है।

संस्कृत नयचक्र में प्ररूपित है–

शरीरमपि यो जीवः प्राणिनो वदति स्फुटः।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः॥
मूर्तमेवमिति ज्ञानं कर्मणा जनितः यतः।
यदि नैवभवेन्मूर्तं मूर्तेन स्खलितः कुतः॥

जो प्राणियों के शरीर को ही जीव बतलाता है, वह स्पष्टतया 'विजातीय-असद्भूत व्यवहार उपनय' समझना चाहिये, क्योंकि विजातीय पुद्गल द्रव्य में विजातीय जीव द्रव्य का कथन किया गया है। विजातीय गुण में विजातीय गुण का आरोपण करने से भी असद्भूत व्यवहार होता है। जैसे–कर्म से जनित होने से ज्ञान मूर्त्त है, यदि मूर्त्त नहीं है तो मूर्त्त से स्खलित क्यों होता। मतिज्ञान मूर्त्त द्रव्य से स्खलित होता है अत: मतिज्ञान को मूर्त्त कहना सत्य है सर्वथा असत्य नहीं है।

एकेन्द्रियादिजीवानां शरीराणि जीवस्वरूपाणीति विजात्यसद्भूतव्यवहारोपनय

...एकेन्द्रियादिजीवानां देहं जीव इति ध्रुवं वक्त्यसद्भूतको नूनं स्याद् विजातीति सञ्ज्ञितः

एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर जीवस्वरूप हैं, इस प्रकार से कथन करने वाला विजातीय असद्भूत-व्यवहार उपनय है। एकेन्द्रियादि जीवों का शरीर जीव है, इस प्रकार कथन करने

वाला विजातीय-असद्भूत व्यवहार उपनय है। यहाँ विजाति द्रव्य को विजाति द्रव्य में कहा गया है।

स्वजातिविजात्यसद्भूत-व्यवहार नय

स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा ज्ञेये जीवेऽजीवे ज्ञानमिति कथनं ज्ञानस्य विषयात्।।87।।

अर्थ–ज्ञान का विषय होने के कारण जीव और अजीव ज्ञेय में ज्ञान कथन करना स्वजाति विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है।

विशेषार्थ–यहाँ असद्भूत व्यवहार नय के तीसरे भेद स्वजाति-विजाति के सम्यक् बोध हेतु आचार्य महाराज उदाहरण देते हैं कि ज्ञान का विषय होने से जीव व अजीव ज्ञान रूप हैं। सर्वप्रथम इसके स्वजाति पक्ष को देखते हैं। आत्मा व ज्ञान, गुण-गुणी हैं तथा गुण-गुणी से व गुणी-गुण से कभी भिन्न नहीं होता। आत्मा से पृथक् ज्ञान व ज्ञान से पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं है। ज्ञान गुण से युक्त आत्मा जानता है। ज्ञान से युक्त आत्मा आत्मा को जाने यह स्वजातीय है। ज्ञान के लिए जीव स्वजातीय द्रव्य है क्योंकि ज्ञान व जीव एक हैं किन्तु ज्ञेयपना यदि जीव में है तो ज्ञेयपना अजीव में भी है। ज्ञान मात्र आत्मा में है, जीव द्रव्य में है, अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य ज्ञान से हीन हैं किन्तु ज्ञेय तो हैं। इनके लिए ज्ञान गुण विजातीय है और ज्ञान गुण के लिए अजीव द्रव्य विजातीय है। परंतु ज्ञान इन अजीव द्रव्य को भी जानता है अत: विजातीय है।

इस प्रकार जीव और अजीव दोनों ही ज्ञान का विषय हैं। ज्ञान गुण की अपेक्षा जीव स्वजातीय व अजीव विजातीय है। ज्ञान दोनों को जानता है। ज्ञान का विषय होने से दोनों जीव व अजीव में ज्ञान गुण का कथन करना, स्वजाति-विजाति द्रव्यादि में स्वजाति-विजाति द्रव्यादि का आरोप करने वाला स्वजाति-विजाति असद्भूतव्यवहारउपनय जाना जाता है।

संस्कृत नयचक्र में इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है–

'जीवपुद्गलानां परस्परसंयोगप्रबंधपरिणतिविशेषकथक: स्वजाति-विजात्यसद्भूत व्यवहारोपनय:।... स्वजातीतररूपादिवस्तुश्रद्धेयरूपक: तत् प्रधानं वदत्येवं द्वंद्वग्राही नयो भवेत्।'

जीव और पुद्गलों के परस्पर संयोग रचना रूप परिणति विशेष को बतलाने वाला स्वजाति विजातीय-असद्भूत व्यवहार उपनय है। स्वजातीय और विजातीय वस्तु श्रद्धेयरूप है

उसको प्रधान करके जो कहता है वह द्वंद्वसंयोग को अर्थात् स्वजाति-विजाति संयोग को ग्रहण करने वाला स्वजाति विजातीय असद्भूत व्यवहार उपनय है। इस प्रकार असद्भूतव्यवहारनय के तीनों भेदों का कथन हुआ।

उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय भेद

उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा।।88।।

अर्थ–उपचरित असद्भूत व्यवहार नय तीन प्रकार के हैं।

विशेषार्थ–उपचार दो प्रकार का है भेदोपचार और अभेदोपचार। गुण-गुणी में भेद करके कहना भेदोपचार है। इसे सद्भूत व्यवहार कहते हैं। भिन्न द्रव्यों में एकत्व करके कहना अभेदोपचार है। इसे असद्भूत व्यवहार कहते हैं। इस अभेदोपचार के भी दो भेद किए गए हैं। संश्लेषयुक्त अभेद को असद्भूत और संयोगी अभेद को उपचरित असद्भूत कहते हैं। जो नय किसी प्रयोजन या निमित्त से बिल्कुल भिन्न स्वजातीय, विजातीय तथा स्वजाति-विजातीय पदार्थों को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह उपचरितासद्भूत व्यवहार नय है।

उपचार का भी उपचार करने वाला उपचिरत असद्भूत व्यवहार नय तीन प्रकार का है–1. स्वजात्युपचरित-असद्भूत व्यवहार उपनय 2. विजात्युपचरित-असद्भूत व्यवहार उपनय 3. स्वजाति-विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय।

संस्कृत नय चक्र में भी कहा है–

स्वजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहारो विजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहारो

स्वजातीयविजातियोपचरितासद्भूतव्यवहारः इति उपचरितासद्भूतोऽपि त्रेधा।

स्वजातीयोपचरितासद्भूत व्यवहार, विजातीयोपचरितासद्भूतव्यवहार, स्वजातीय-विजातियोपचरितासद्भूत व्यवहार के भेद से उपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय तीन प्रकार का है।

इनके स्वरूप का कथन सोदाहरण-आचार्य महाराज आगे के सूत्रों में करेंगे।

स्वजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय

स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा पुत्रदारादि मम।।89।।

अर्थ–पुत्री, स्त्री आदि मेरे हैं ऐसा कहना स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार उपनय का विषय है।

विशेषार्थ–मेरा अर्थात् इस आत्मा का कुछ भी अपना नहीं है। फिर भी शुद्धसद्भूतव्यवहार की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा के गुण शुद्ध आत्मा के हैं। अशुद्धसद्भूतव्यवहार

उपनय की अपेक्षा से संसार में परिभ्रमण करती आत्मा के वैभाविक गुण अपने हैं। 'यह शरीर मेरा है' इस प्रकार का कथन असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है। सद्भूत व्यवहार नय ने आत्म स्वभाव, गुणादि को पृथक् कर कहा। असद्भूतव्यवहारनय वह पृथक् कर कहता है जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, गुण नहीं है, आत्मरूप नहीं है, किन्तु मिला है। यहाँ प्रसंग स्वजाति उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का है। जो उसका अभेद रूप कथन करता है जो मेरा स्वभाव भी नहीं है, गुण भी नहीं है, पर्याय भी नहीं है, मिला भी नहीं है किन्तु स्वजाति अर्थात् मेरी जाति का है। जैसे—मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा भाई इत्यादि। मैं जीव द्रव्य हूँ व जिन पुत्र, स्त्री आदि को अपना कह रहा हूँ वे भी जीव हैं अतः स्वजातीय हैं। वास्तव में पुत्रादि मेरे नहीं हैं किन्तु उन अत्यंत भिन्न को अभेद रूप कथन करना इस नय का प्रयोजन है। यह नय उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है।

यह कुटुंब मेरा है, गुरु मेरे हैं, शिष्य मेरे हैं, संघ मेरा है इत्यादि स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा से कहा जाता है।

प्राकृत 'णयचक्को' में भी कहा है—

पुत्ताइबंधुवग्गं अहं च मम संपयाइ जप्पंतो।
उवयारासब्भूओ सजाइदव्वेसु णायव्वो॥244॥

पुत्र आदि बंधु वर्ग रूप मैं हूँ या यह सब मेरी संपदा है, इस प्रकार का कथन स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी निरूपित किया है—

पुत्रमित्रकलत्रादि ममैतदहमेव वा।
वदन्नेव भवत्येषोऽसद्भूतो ह्युपचारवान्॥

'ये पुत्र, मित्र, स्त्री आदि मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ' यह कथन सत्योपचार असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा है। लोकोपचार में यथार्थ स्वामित्वपना पाया जाता है किन्तु आत्मरूप नहीं है इसलिए असद्भूत है।

विजाति-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरणहेमरत्नादि मम॥90॥

अर्थ—वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रत्नादि मेरे हैं ऐसा कहना विजातिउपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय है।

विशेषार्थ–जो आत्म गुण पर्यायादि नहीं हैं, आत्मा से अत्यंत पृथक् हैं किन्तु विजातीय हैं उनका अभेद रूप कथन करना इस नय का प्रयोजन है जैसे–वस्त्राभूषण, स्वर्ण, रत्नादि मेरे हैं। मैं अर्थात् जीव द्रव्य और जिसको अपना कह रहे हैं वह आत्मा से बिल्कुल पृथक् हैं। रत्न, वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण आदि सभी पुद्गल हैं अतः विजातीय हैं। इनको अपना कहना, अभेद रूप कथन करना विजातिउपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है।

'णयचक्को' में भी इसका स्वरूप बताते हुए कहा है–

आहरणहेमरयणं वच्छादीया ममेदि जप्पंतो।
उवयरियअसब्भूओ विजाइदव्वेसु णायव्वो॥245॥

आभरण, सोना, रत्न और वस्त्र आदि मेरे हैं, ऐसा कथन विजाति द्रव्यों में उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी कहा है–

हेमाभरणवस्त्रादि ममेदं यो हि भाषते।
उपचारादसद्भूतो विद्वद्भिः परिभाषितः॥

'सोना, आभरण, वस्त्र आदि मेरे हैं' जो नय ऐसा कहता है, विद्वज्जनों ने उस नय को विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार नय कहा है।

स्वजाति-विजाति-उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय

स्वजातिविजात्युपचरिताऽसद्भूतव्यवहारो यथा देशराज्यदुर्गादि मम॥91॥

अर्थ–'देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं यह स्वजाति-विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय का विषय है।

विशेषार्थ–आत्मा से अत्यंत पृथक्, जिसमें सचेतन (सजाति) व अचेतन (विजाति) दोनों समाहित हों, उसे अपना कहना स्वजाति-विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे–उदाहरण दिया 'देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं' अर्थात् देश, राज्य, दुर्ग आदि में रहने वाले सभी व्यक्ति, चेतन या जीव द्रव्य तथा अजीव, जड़, पुद्गल वस्तुएँ मेरी हैं। देशादि में जीव सजातीय है व अजीव द्रव्य विजातीय है। देश को अपना कहने से स्वजाति व विजाति दोनों द्रव्यों को अपना कह रहा है। सचेतन-अचेतन मिश्रित द्रव्य का अभेद रूप कथन कर रहा है यही मिश्र या स्वजाति-विजात्युपचरित नय का विषय है।

णयचक्को में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है–

देसवं रज्जदुग्गं मिस्सं अण्णं च भणइ मम दव्वं।
उहयत्थे उवयरिओ होइ असब्भूदववहारो॥246॥

जो देश के समान राज्य, दुर्ग आदि अन्य मिश्र सजाति विजाति द्रव्यों को अपना कहता है उसका यह कथन सजाति-विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

संस्कृत नयचक्र में भी उल्लिखित है–

देशं दुर्गं च राज्यं च, गृह्णातीह ममेति यः।
उभयार्थोपचारत्वादसद्भूतोपचारकः॥4॥

जो नय देश, दुर्ग, राज्य आदि को ग्रहण करता है वह नय चेतनाचेतन मिश्र पृथक् पदार्थ को अपना बतलाता है वह स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार उपनय है।

जैसे कोई कहे ये विद्यालय मेरा है, ये कंपनी मेरी है, ये फैक्ट्री मेरी है तब उन विद्यालयादि में सचेतन व अचेतन दोनों समाहित हैं उनको अपना कहना उपचरितअसद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन है। यहाँ कोई प्रश्न करता है जब आत्मा का कुछ है ही नहीं, तब इन्हें अपना कहना मिथ्या है तब इस कथन की पुष्टि करने वाले असद्भूत व्यवहार या उपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय सम्यक् कैसे हो सकता है? तब निराकरण करते हुए कहते हैं कि यथार्थ में आत्मा का कुछ भी नहीं है किन्तु संसार में रहते हुए, लोकव्यवहार को चलाने के लिए व्यवहार नय की आवश्यकता होती है। यदि स्वामीपने को स्वीकार नहीं किया जाएगा तो किसी का किसी वस्तु पर अधिकार नहीं होगा। पति का पत्नी पर, माँ का बच्चों पर, राजा का देश पर, डायरेक्टर का कंपनी पर, मालिक का फैक्ट्री पर अधिकार नहीं होता। व्यक्ति अपने अधिकार की वस्तुओं का ही संरक्षण करता है। यदि स्वामीपने का व्यवहार नहीं होगा तो लोक व्यवहार ही नष्ट होता हुआ दृष्टिगोचर होगा। चारों ओर अन्याय, अत्याचार, अराजकता वृद्धिंगत हो जाएगी। संसार में कौन किसका है? रिश्ते-संबंध आदि का व्यवहार नहीं हो पाएगा तब सब कुछ नष्ट होता सा प्रतीत होगा। अतः ये उपनय अत्यंत प्रमाणिक, सम्यक् व आवश्यक हैं। आत्मा का कुछ भी नहीं है यह निश्चय की भाषा है किन्तु व्यवहार में रहते जीव को व्यवहार की आवश्कता होती है। व्यवहार को छोड़कर वह सम्यक् जीवनयापन नहीं कर सकता।

इन नय का कारण व प्रयोजन बताते हुए पंचाध्यायी में प्ररूपित करते हैं–

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद् बिना भवंति यतः॥550॥

तत्फलभविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः॥551॥

उपचरितअसद्भूतव्यवहार नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि उक्त क्रोधादिक रूप विभाव भाव नियम से स्व व पर दोनों के निमित्त से होते हैं क्योंकि शक्ति विशेष के रहने पर भी वे बिना निमित्त के नहीं हो सकते और इस नय का फल यह है कि बुद्धिपूर्वक किए क्रोधादि भावों के साधन से अबुद्धिपूर्वक किए क्रोधादि भावों की सत्ता भी साध्य हो जाती है अर्थात् सिद्ध हो जाती है।

उपचार सर्वथा अप्रमाण नहीं है इसका उल्लेख करते हुए स्याद्वाद मंजरी में कहा है–

'लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम्। ... न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव। उपचारस्यापि किञ्चित् साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्।

आकाश नित्यानित्य है क्योंकि सर्वसाधारण में भी 'यह घट का आकाश है' 'यह पट का आकाश है' यह व्यवहार होता है। यह व्यवहार से उत्पन्न होता है इसलिए अप्रमाण नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपचार भी किसी न किसी साधर्म्य से ही मुख्य अर्थ को द्योतित करने वाला होता है। इस प्रकार उपनय के भेदों का कथन यहाँ पूर्ण हुआ।

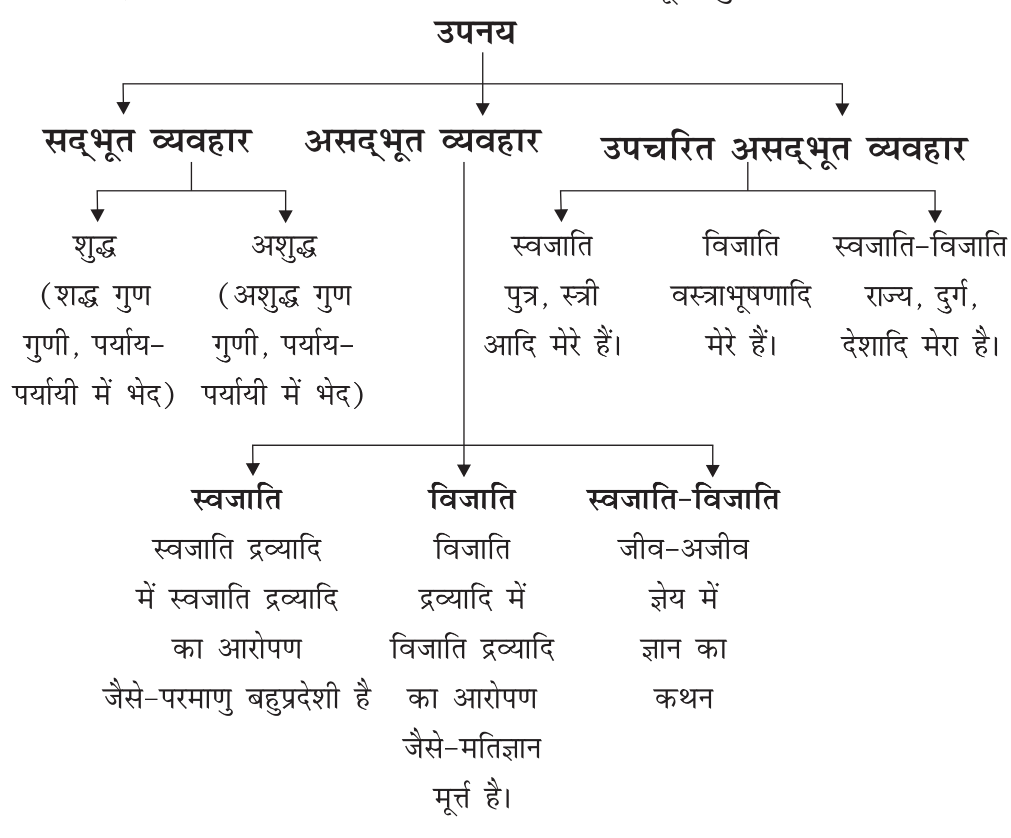

गुण-व्युत्पत्ति अधिकार

गुण-पर्याय लक्षण

सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः॥92॥

अर्थ—साथ में होने वाले गुण हैं और क्रम-क्रम से होने वाली पर्यायें हैं।

विशेषार्थ—गुण शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है जैसे रूपादि गुण (रूप, रस, गंधादि गुण) में गुण का अर्थ रूपादि है। 'दो गुणा यव त्रिगुणा यव' में गुण का अर्थ भाग है। 'गुणज्ञ साधु' में या 'उपकारज्ञ' में उपकार अर्थ है। 'गुणवान् देश' में द्रव्य अर्थ है क्योंकि जिसमें गाय या धान्य अच्छा उत्पन्न होता है वह देश गुणवान् कहलाता है। 'द्वि गुण रज्जु त्रिगुण रज्जु' में समान अवयव अर्थ है। 'गुणभूतावयम्' में गौण अर्थ है।[1] 'कर्मों के उदय उपशमादि से उत्पन्न जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं, वे उसी गुण संज्ञा वाले कहे जाते हैं'। यहाँ गुण का अर्थ गुणस्थान है।[2] सम्यग्दर्शनादि भी गुण हैं।[3] संयम व संयमासंयम भी गुण हैं।[4] औदयिक औपशमिक आदि पाँच भाव भी गुण कहे गए हैं।[5] गुण को विस्तार विशेष भी कहा जाता है।[6] अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियाँ भी गुण कही गई हैं।[7] किन्तु यहाँ 'गुण' शब्द से प्रयोजन है जो संपूर्ण द्रव्य में व्याप्त रहते हैं। द्रव्यों के सहभूत हैं। गुण जो सदैव द्रव्य के आश्रित होते हैं किन्तु वे गुण स्वयं गुणों से हीन होते हैं।

पर्याय का अर्थ होता है विशेष, अपवाद व व्यावृत्ति।[8] व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्यय, पर्यव, अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा छेद, भेद और भंग ये सब एक ही अर्थ के

---

1. रा.वा./2
2. जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
   जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं॥8॥ –गो.जी.
3. सम्यग्दर्शनादयो गुणाः
4. को पुण गुणा? संजमो संजमासंजमो वा। –ध. 1
5. औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। –ध. 1
6. गुणा विस्तारविशेषाः –प्र.सा./त.प्र.
7. अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं।
   ईसत्त, पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए॥513॥ –वसु.श्रा.
8. पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। –स.सि.

वाचक हैं।[9] प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय परिणमन होता है। जो परिणमन करती है 'पर्येति' वह पर्याय है। द्रव्य या गुणों की प्रतिसमय होने वाली अवस्था का नाम पर्याय है।

द्रव्य से गुण व पर्याय और गुण व पर्यायों से द्रव्य भिन्न नहीं है। द्रव्य व गुण का अस्तित्व अभिन्न होने से दोनों में एकद्रव्यपना है। दोनों के प्रदेशों में भिन्नता नहीं होने से एक क्षेत्रपना है, दोनों सदैव सहभावी हैं अतः एककालपना है और दोनों का एक स्वभाव होने से भाव की अपेक्षा भी एकत्व है। एक द्रव्य के सभी गुण एक साथ रहते हैं।

द्रव्य में जितने भी गुण हैं वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं होते। 'सहभुवो' सहवर्तन करने वाले होते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अस्ति रूप से विद्यमान गुण कभी विरोधी नहीं होते। नास्ति रूप गुण भी विरोधी नहीं होते। पुद्गल के गुण हैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वे आपस में किसी के विरोधी नहीं होते। प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक काल में विद्यमान रहने वाले सभी गुण एक-दूसरे के साथ रहते हैं। फिर चाहे वह द्रव्य का प्रधान गुण हो या गौण गुण हो सब साथ-साथ रहते हैं। किन्तु किसी भी गुण या द्रव्य में पर्यायें सब एक साथ नहीं रहती। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं। कभी भी किसी गुण या द्रव्य की एक साथ दो पर्याय नहीं होती और कभी समय ऐसा भी नहीं आता कि द्रव्य बिना पर्याय के रहे या कोई गुण बिना पर्याय के रहे। संभव है कोई पूर्ण शुद्ध पर्याय है, कोई पूर्ण अशुद्ध पर्याय है, कोई मिश्र पर्याय है, मिश्र अर्थात् शुद्धाशुद्ध पर्याय तो हो सकती है किन्तु दो पर्याय एक-साथ कदापि नहीं हो सकतीं। जैसे कोई सम्यग्दृष्टि जीव है उसके श्रद्धा गुण की पर्याय सम्यक् रूप है, कोई मिथ्यादृष्टि जीव है उसके श्रद्धा गुण की पर्याय मिथ्या रूप है और कोई जीव जो तृतीय गुणस्थानवर्ती है उसके श्रद्धा गुण की पर्याय सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र रूप है। यह पर्याय दो पर्यायों का मेल नहीं है, यह स्वतंत्र एक पर्याय है। जैसे रात्रि का अंधकार पृथक् है और प्रातः का प्रकाश पृथक् है। यह नहीं कहा जा सकता कि संध्याकाल रात्रि के अंधकार व दिन के प्रकाश दोनों को मिलाकर हो जाता है। ऐसा नहीं है। संधिकाल का दृश्य-समय अलग होता है।

---

9. **ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो। -गो. जी.**
पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। -स.म.
अपि चांशः पर्यायो भागो हारोविधा प्रकारश्च।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते॥ पं. ध.

आशय यह है कि किसी भी द्रव्य व गुण की एक समय में दो पर्याय कदापि नहीं हो सकती। इसलिए कहा 'क्रमवर्तिनः पर्यायः' ये पर्याय सदैव क्रमभावी होती हैं, क्रमवर्ती होती हैं या इन पर्यायों का एक क्रम नियत होता है किन्तु ये पर्याय कभी क्रमबद्ध नहीं होती हैं। क्रमवर्ती का अर्थ होता है एक के बाद एक होना, क्रमभावी का भी यही अर्थ होता है। क्रम नियत का अर्थ है पर्याय नियत रूप से क्रम-क्रम से आ रही हैं, एक साथ दो पर्याय नहीं आ सकती या कभी अंतर (गैप) से भी नहीं आ सकतीं। एक-एक के क्रम से आती जाती हैं। किन्तु क्रमबद्ध का अर्थ होता है—बना हुआ क्रम। इस पर्याय के बाद नियम से यह ही पर्याय आएगी, उसके बाद वही पर्याय आएगी, यह छद्मस्थों के द्वारा नहीं कहा जा सकता। केवली के ज्ञान में सभी पर्याय क्रमबद्ध वा नियत हो सकती हैं किन्तु छद्मस्थों के ज्ञान में ऐसा नहीं हो सकता।

स्थूल पर्यायों की अलग बात है किन्तु यहाँ सूक्ष्म परिणमन का कथन चल रहा है, जीव कब पुरुषार्थ करके अपने भाग्य को बदल सकता है, कब पुण्य प्रकृतियों का संक्रमण पाप रूप कर दे, कब पाप प्रकृतियों को पुण्य में संक्रमित कर दे, कब अविपाक निर्जरा हो जाये, कब कर्म की निर्जरा हो जाये इसलिये इन पर्यायों को पुरुषार्थादि के द्वारा अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। किन्तु उनका क्रम बंधा हुआ नहीं है। कुछ एकांतवादी व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि क्रमबद्ध मान लें तो क्या हर्ज है? बहुत बड़ा हर्ज हो जायेगा। यदि क्रमबद्ध मान लेंगे तो पुरुषार्थ की कोई महत्ता नहीं रहेगी और पुरुषार्थ को गौण करने से भाग्य मूलहीन हो जायेगा क्योंकि पुरुषार्थ से भाग्य बनता है। पुरुषार्थ पिता के समान व भाग्य पुत्रवत् है यदि पुरुषार्थ की महत्ता न मानी जाये तो यही मानना पड़ेगा कि बिना माता के भी संतान की उत्पत्ति होना। यह संभव नहीं है। यदि पुरुषार्थ नहीं होगा तो कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकेगा, मोक्ष की प्राप्ति भाग्य से नहीं पुरुषार्थ से होती है। बुद्धिपूर्वक सदाचार का पालन किया जाता है, कदाचार का त्याग किया जाता है तो ये पुरुषार्थ कहलाता है।

लौकिक जीवन में भी व्यक्ति पुरुषार्थ करता है वह अर्थोपार्जन हेतु, स्वास्थ्य लाभ के लिये या वंश वृद्धि के लिये धर्म, अर्थ काम व मोक्ष पुरुषार्थों को करता है। धर्म के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है, धर्म की संप्राप्ति भाग्य से नहीं होती। अर्थ कमाने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है चाहे तत्काल में करो या पूर्व का किया हुआ पुरुषार्थ हो। वंशवृद्धि के लिये काम पुरुषार्थ करना होता है व मोक्ष भी पुरुषार्थपूर्वक ही प्राप्त होता है भाग्य से नहीं। इससे सिद्ध है पर्यायें क्रमबद्ध नहीं होती वह क्रमवर्ती, क्रमभावी होती हैं। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने

क्रमनियत शब्द भी दिया है। इसलिये 'नियत' शब्द से भ्रमित न हों, नियत से अर्थ यह न लगायें कि इसके बाद यही आयेगी वरन् अर्थ यह है कि जो क्रम नियत है एक समय के बाद दूसरी पर्याय आयेगी तो वह अंतर दो समय का नहीं होगा, वह अंतर दस समय या उससे कम समय में बदल जाये ऐसा नहीं हो सकता।

गुण वे कहलाते हैं जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं, जिनके अन्य कोई विशेष गुण नहीं होते और वे गुण एक साथ ही वर्तन करते हैं कभी कोई गुण किसी भी गुण का विरोधी नहीं होता, चाहे वह जीव संसारी अवस्था में या शुद्ध अवस्था में हो। यदि पुद्‌गल को देखा जाये तो पुद्‌गल के चार गुण हैं चाहे शुद्ध परमाणु है तब भी चार गुण हैं और यदि अशुद्ध स्कंध है तब भी चार गुण हैं। जीव संसारी दशा में है तब भी उसके अंदर चेतनादि गुण हैं शुद्ध बन जाये तब भी चेतनादि गुण रहते हैं उनका कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। वे सभी गुण एक साथ रहते हैं यही उनकी व्यवस्था नियत है इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता।

क्रमवर्ती का उदाहरण समझें—जैसे किसी कलश में पानी भरा है, उस कलश में एक छेद कर पुनः कपड़े की गाँठ लगाकर एक धजी लगा दी अब एक-एक बूँद पानी उसमें से गिर रहा है वह बूँद एक एक करके ही आयेगी, उतने ही अंतराल से गिरेगी तो ये क्रमवर्ती है किन्तु ये नहीं कह सकते कि कौन सी बूँद पहले जायेगी, कौन सी बाद में। क्रमनियत का अर्थ तो यही है जो बूँद जितने अंतराल से आ रही है उतने अंतराल से आयेगी, जितनी बड़ी बूँद आ रही है उतनी बड़ी ही आएगी। क्रमभावी का अर्थ भी यही है कि क्रम से आ रही है अक्रम से नहीं। किन्तु कोई भी बूँद आगे पीछे आ सकती है, हाँ ये नहीं हो सकता कि एक साथ दो आ जायें या बीच में गैप (अंतर) पड़ जाये।

दूसरा उदाहरण समझें—किसी मशीन में अनाज पिस रहा है माना उसमें गेहूँ का दाना एक-एक करके आता है तो एक-एक दाना टंकी में से आ रहा है कौन सा दाना पहले आयेगा यह कोई नियम नहीं है, अथवा जहाँ मशीन से अनार का जूस निकाला जा रहा है तो अनार का कौन सा दाना पहले आयेगा कौन सा बाद में यह कुछ नहीं कह सकते। तो यह क्रमवर्ती का अर्थ हुआ अथवा किसान अपनी फसल काट रहा है तो यह नियम नहीं है कि कौन सा दाना पहले आयेगा। किन्तु क्रमबद्ध में एकान्तवादियों के द्वारा यह उदाहरण दिया जाता है कि जैसे माला में मोती एक के बाद एक होते हैं किसी ने 108 मोतियों पर नंबर डाल दिया तो एक के बाद दूसरे नंबर वाला मोती आयेगा तो यह कहलाया क्रमबद्ध यह

अक्रम नहीं हो सकता। किन्तु छद्मस्थों के द्वारा यह क्रमबद्ध जैन सिद्धांत से मेल नहीं खाता क्योंकि इससे पुरुषार्थ की गौणता हो जायेगी, अविपाक निर्जरा, उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि महत्वहीन होंगे। न संवर हो सकेगा न कोई जीव पुरुषार्थ करने वाला फिर ज्यादा पुण्य कमा सकेगा, न पाप से बच सकेगा, मिथ्यात्व का पोषण करने वाला फिर ज्यादा पाप न कमा पायेगा नरक नहीं जा पायेगा फिर तो वही हो जायेगा जैसा क्रम बंधा था वैसा ही मिलना है तो यह सर्वथा उचित नहीं है। खदिरसाल भील व राजा श्रेणिक का उदाहरण भी यहाँ ज्ञातव्य है इसलिये क्रमवर्ती, क्रमभावी व क्रमबद्ध शब्दों को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये और क्रमबद्ध सुनकर भ्रमित नहीं होना चाहिये।

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि हमारा कल्याण होना होगा तो ऐसे ही हो जायेगा। हम पुरुषार्थ क्यों करें? उदीरणा होगी या संक्रमण ये हम नहीं जानते जब जो होना होगा तब हो जायेगा। नहीं, ये धारणा सही नहीं है। हमने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण किया है और अनंत बार पंचपरावर्तन किये हैं यदि होना होता तो कब का हो गया होता किन्तु ऐसे होता नहीं, पुरुषार्थ से होता है। छद्‌मस्थ यदि यह सिद्धांत लगाता है तो व्यवहार जीवन में सिद्धांत नहीं चलता।

व्यक्ति जब अस्वस्थ होता है तो औषधि सेवन करता है वह क्यों नहीं सोच लेता कि मुझे मरना होगा तो मर जाऊँगा जीना होगा तो जी जाऊँगा। उसे भूख लगती है तो क्यों भोजन करता है, क्यों नहीं सोच लेता कि मेरे पेट में भोजन पहुँचना होगा तो पहुँच जायेगा। क्यों धन कमाने के लिये इतनी मेहनत करता है? दुकान पर ताला क्यों डालता है चोरी होनी होगी तो वैसे ही हो जायेगी, केवलज्ञान में झलक रही होगी पर्याय ऐसा क्यों नहीं सोच लेता? अन्य व्यवहारिक चीजों में इतनी सावधानी क्यों बरतता है? वह बेईमानी क्यों करता है जबकि उसे ज्ञात है कि बेईमानी करने से पाप का बंध होता है।

व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ का फल अवश्य मिलता है। मिथ्या पुरुषार्थ से मिथ्या व सम्यक् पुरुषार्थ से सम्यक् फल की संप्राप्ति होती है। पुरुषार्थ मंद, मंदतर, मंदतम वा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भी होता है। पुरुषार्थ अनर्थकारी या निष्फल नहीं होता। अतः जो व्यक्ति पुरुषार्थ को नहीं मानते उन्हें सम्यग्ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। वे जिनशासन से बहिर्भूत हैं। आवश्यकता है सम्यक् प्रकार से सम्यक् ग्रंथों का अध्ययन करने की, सिद्धांत शास्त्रों का आलोडन-विलोडन करने की। जब तक किसी अनुभवी दिगंबर साधु के चरणों में बैठकर ग्रंथों का अध्ययन न करेंगे तब तक अपनी पुरानी धारणाओं के अनुसार उलझे ही रहेंगे।

व्यक्ति जिस राह को जानता है यदि वह गलत भी हो तो भी पुनः पुनः लौटकर वहीं पहुँच जाता है बार-बार मिथ्या मार्ग पर चलने से सम्यक् नया मार्ग नहीं मिलेगा, उसे खोजना पड़ेगा। वह नया मार्ग मिलेगा दिगंबर साधु के चरण सान्निध्य में बैठकर उनके तत्त्वोपदेश सुनने से, जिनवाणी का अध्ययन करने से तभी यथार्थ बोध को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार आचार्य महाराज ने यहाँ गुण व पर्याय के स्वरूप का कथन किया, गुण सदैव द्रव्य के आश्रित होते हैं, सहभावी होते हैं व पर्याय क्रमवर्ती होती हैं।

विशेष गुण का लक्षण

गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्तेगुणाः।।93।।

अर्थ–जिनके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जाता है, वे गुण कहलाते हैं।

विशेषार्थ–जिसके माध्यम से एक-द्रव्य, दूसरे द्रव्य से पृथक्-पृथक्, भिन्न या अलग माने जाते हैं, जो अलग-अलग जाति के माने जाते हैं वे गुण कहलाते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं सामान्य और विशेष। सामान्य गुण तो सभी द्रव्यों में पाए जाते हैं किन्तु कुछ विशेष गुण होते हैं जो तदनुसार किसी विशेष द्रव्य में पाए जाते हैं, जिनसे एक द्रव्य को अन्य द्रव्यों से पृथक् किया जाता है। जीव और अजीव दो द्रव्य हैं। चेतनत्व, अमूर्तत्त्वादि गुण जीव को अजीव से और अजीव को जीव से भिन्न सिद्ध करते हैं। वह पुद्गल के स्पर्शादि गुणों का ही प्रभाव है जो उसे अन्य पाँच द्रव्यों से भिन्न रखता है। धर्म द्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व गुण अन्य द्रव्यों से पृथक् इनकी सत्ता सिद्ध करता है। आकाश द्रव्य का अवगाहनत्व गुण व कालद्रव्य का वर्तना गुण इन्हें अन्य द्रव्यों से भिन्न करता है। ये गुण द्रव्य की सर्व अवस्थाओं और संपूर्ण भाग में सर्वथा रहते हैं। ये गुण अनादिनिधन होते हैं। किसी द्रव्य में एक भी गुण की कभी वृद्धि नहीं हो सकती और एक भी गुण का कभी विनाश नहीं हो सकता। सर्वार्थसिद्धि में भी उद्धृत है–

'गुण इदि दव्वविहाणं' अर्थात् द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। संस्कृत नय चक्र में भी उल्लिखित है–

'गुणव्युत्पत्तिर्गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्याद्द्रव्यं येनासौ विशेषगुणः' अर्थात् जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से पृथक् किया जाता है वह विशेष गुण है। यह गुण का व्युत्पत्ति अर्थ है।

अस्तित्व स्वभाव लक्षण

अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वम्।।94।।

अर्थ–'अस्ति' इसके भाव को अर्थात् सत्रूपपने को अस्तित्व कहते हैं।

विशेषार्थ–'अस्तित्व' शब्द में 'त्व' प्रत्यय लगा है जिसका अर्थ है–पना। जैसे अपनत्व-अपनापन, ममत्व-मेरापना, समत्व-समानपना, जीवत्व-जीवपना इसी प्रकार अस्तित्व यानि अस्तिपना। 'अस्ति' का अर्थ होता है–'है' तब अस्तित्व अर्थात् है पना। अस्तिपना, है पना जिसका भाव है वही अस्तित्व है वही सत् रूप होता है। छहों द्रव्यों में यह अस्तित्व गुण पाया जाता है अर्थात् उनमें है पना पाया जाता है जिसके कारण उनकी सत्ता है। अस्तित्व गुण है व अस्ति स्वभाव है। अस्तित्व गुण के बिना किसी भी द्रव्य की सत्ता संभव नहीं है। जो भी सत्रूप है वह द्रव्य है। जो द्रव्य है उसके अस्तित्व गुण है। जिस शक्ति के माध्यम से सत्रूपपना, है पना, अस्तिपना है वही अस्तित्व गुण है।

संस्कृत नय चक्र में आचार्य महाराज लिखते हैं–

अस्तित्वस्य-भावोऽस्तित्वं। सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्यापनोतीति सत्।

अस्तित्व का भाव अस्तित्व है। अपने गुण और पर्याय में व्याप्त होने वाला सत् है।

सप्तभंगी तरंगिणी में भी कहा है–

'अस्धात्वर्थोऽस्तित्वं सत्त्वपर्यवसन्नम्'

'अस्' धातु का अर्थ अस्तित्व है और उसका सत्ता रूप अर्थ से तात्पर्य है। णयचक्को में भी प्ररूपित है **'अत्थिसहावे सत्ता'** अस्तित्व स्वभाव को ही सत्ता कहते हैं।

जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है। प्रवचनसार में भी उल्लिखित है–

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।96।।

सर्व काल में गुणों तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

पंचास्तिकाय की टीका में भी यही स्वरूप बताते हुए लिखा है–

'एकेण पर्यायेण प्रलीयमानस्यान्येनोपजायमानस्यान्वयिना गुणेन ध्रौव्यं बिभ्राणस्यैकस्यापि वस्तुनः समुच्छेदोत्पादध्रौव्यलक्षणमस्तित्वमुपपद्यत एव।'

जिसमें एक पर्याय का विनाश होता है, अन्य पर्याय की उत्पत्ति होती है तथा उसी समय

अन्वयी गुण के द्वारा जो ध्रुव है ऐसी एक वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप लक्षण ही अस्तित्व है।

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में भी अस्तित्व को बताते हुए उसके दो भेदों का कथन किया है। **'अस्तित्वं नाम सत्ता। सा किं विशिष्टा। सप्रतिपक्षा अवान्तरसत्ता महासत्तेति'**

'अस्तित्व अर्थात् सत्ता। वह महासत्ता व अवांतर सत्ता के भेद से दो प्रकार की है।' प्रवचनसार की तत्त्व टीका में स्वरूपास्तित्व व सादृश्यास्तित्व के भेद से अस्तित्व दो प्रकार का कहा।

प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित होते हैं।[1] अथवा प्रतिनियतवस्तुवर्ती तथा स्वरूपास्तित्व की सूचना देने वाली अर्थात् पृथक्-पृथक् पदार्थ का पृथक्-पृथक अस्तित्व बताने वाली अवान्तर सत्ता है।[2] यह स्वरूपास्तित्व या अवांतर सत्ता अस्तित्व का प्रथम भेद है।

सर्वपदार्थ समूह में व्याप्त होने वाली सादृश्य अस्तित्व को सूचित करने वाली महासत्ता है।[3] अथवा यद्यपि सर्व द्रव्य स्वरूपास्तित्व से लक्षित होते हैं, फिर भी सर्वद्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला और प्रत्येक द्रव्य की बंधी हुई सीमा की अवगणना करता हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत सादृश्य अस्तित्व है वह एक ही जानना चाहिए।[4]

इस प्रकार जिससे द्रव्य है पने को प्राप्त है, सद्रूप है वह उसका अस्तित्व गुण है।

वस्तु स्वभाव लक्षण

वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु॥95॥

अर्थ–सामान्यविशेषात्मक वस्तु होती है। उस वस्तु का जो भाव है, वह वस्तुत्व है।

विशेषार्थ–वस्तुत्व अर्थात् वस्तु पना। प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य में वस्तुत्व गुण है। वस्तुत्व गुण से रहित कोई वस्तु या द्रव्य नहीं होता। वस्तु का भाव ही वस्तुत्व है अर्थात् उस द्रव्य, पदार्थ या वस्तु में अर्थक्रिया है, उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य है। ऐसी संसार में कोई वस्तु

---

1. प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि। –प्र.सा./त.प्र.
2. प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। –पं. का./त.प्र.
3. सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव। –पं.का./त.प्र
4. स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपंचं प्रवृत्य वृतं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्व-मेकं खल्ववबोधव्यम्। –प्र. सा./त.प्र.

नहीं जो निष्क्रिय हो, जो वस्तुपने या वस्तुत्व गुण से रहित हो। वस्तु वह है जो प्रयोजनयुक्त हो, जिसकी कोई अर्थक्रिया हो, जिसमें वस्तुपना हो। लघीयस्त्रय में आचार्य भगवन् कहते हैं–

'अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणनिष्पत्तिर्न युज्येत्'

प्रयोजन निष्पत्ति को अर्थ क्रिया कहते हैं। जैसे ज्ञान का प्रयोजन जानना है, अतः ज्ञान का परिच्छित्ति रूप जो परिणमन है वही ज्ञान की अर्थक्रिया है। अपने स्वरूप को न छोड़कर परिणमन करना द्रव्य का प्रयोजन है क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से ही द्रव्य की सत्ता है। अतः द्रव्य में जो परिणमन रूप क्रिया होती है वह द्रव्य की अर्थक्रिया है। इस अर्थक्रिया, वस्तुपने से युक्त द्रव्य होता है।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। इसी वस्तु का तथा सामान्य विशेष का लक्षण बताते हुए परीक्षामुख में कहा है–'सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है। तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य के भेद से सामान्य दो प्रकार का है। सदृश अर्थात् सामान्य परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे खंडी, मुंडी आदि गायों में गोपना समान रूप से रहता है। पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे–स्थास, कोश, कुशूल आदि घट की पर्यायों में मिट्टी रहती है। विशेष भी दो प्रकार का है–पर्याय, व्यतिरेक के भेद से। एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणाम को पर्याय कहते हैं। जैसे–आत्मा में हर्ष, विषाद आदि परिणाम क्रम से होते हैं वे ही पर्याय हैं। एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं जैसे–गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है।

द्रव्यत्व स्वभाव लक्षण

द्रव्यस्यभावो द्रव्यत्वम्, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम्।।96।।

अर्थ–जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखंडपने से अपने स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है वह द्रव्य है। उस द्रव्य का जो भाव है, वह द्रव्यत्व है।

विशेषार्थ–द्रव्य का द्रव्य पना उसका गुण है, द्रवित होना उसका स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य में परिणमन होता है, प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती है व पूर्व-पूर्व पर्याय नष्ट होती जाती है। जिस गुण के माध्यम से द्रव्य की द्रव्यता कायम रहती है वह द्रव्यत्व है। जिसके माध्यम से द्रव्य अखंड रूप से रहता है, उसका कोई अंश पृथक् होकर अन्य द्रव्य में जाकर

सम्मिलित नहीं होता, स्वयं के स्वचतुष्टय में रहता है, वह द्रव्यत्व गुण है। किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में द्रव्य परिणमन से रहित नहीं हो सकता। वह प्रतिसमय परिणमनशील होता है। द्रव्य जो विभिन्न पर्यायों को, चाहे वे स्वभाव रूप हों या विभाव रूप हों प्राप्त होता रहता है। स्वभाव द्रव्य के परिणमन में स्वभाव पर्याय ही होती हैं व विभाव द्रव्य में विभाव पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं किन्तु जब वह अशुद्ध द्रव्य, शुद्ध द्रव्य रूप हो जाता है तब उसकी पर्यायें भी तदनुरूप ही होती हैं। जैसे जीव द्रव्य जब तक कर्मों से बद्ध है, अशुद्ध या विभावास्था में है तब तक मनुष्यादि विभाव पर्यायें ही होंगी। कर्म रहित हो जाने पर जीव की शुद्ध सिद्ध पर्याय में होने वाले परिणमन से उत्पन्न पर्यायें शुद्ध या स्वभाव रूप ही होंगी। पुद्गल परमाणु की स्वभाव पर्यायें होंगी, यदि वह स्कंध बनता है तो विभाव रूप होने से विभाव पर्याय ही होंगी किन्तु पर्याय प्रत्येक द्रव्य की होगी।

जो द्रवित होता है, हुआ था व होता रहेगा वह ही द्रव्य है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी पंचास्तिकाय ग्रंथ में द्रव्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।।9।।

उन उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी भी कहते हैं–

'यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि।

जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं।

'द्रव्यं भव्य' इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह 'द्रव्य' यह समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार बिना गाँठ की सीधी द्रु अर्थात् लकड़ी बढ़ई आदि के निमित्त से टेबल, कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी उभय (बाह्य व अभ्यंतर) कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है।[1]

ऐसे द्रव्य की द्रव्यता को बनाए रखना ही द्रव्यत्व गुण का कार्य है।

---

1. **राजवार्तिक**

सत् लक्षण

सद्द्रव्यलक्षणम्, सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्, उत्पादव्ययध्रौययुक्तं सत्॥97॥

अर्थ–द्रव्य का लक्षण सत् है। अपने गुण और पर्यायों को व्याप्त होने वाला सत् है। अथवा जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है।

विशेषार्थ–कोई शिष्य यहाँ शंका करता है कि 'सद्द्रव्यलक्षणम्' व 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इन्हें क्रमशः सूत्र 6 व 7 में कहा जा चुका है तब पुनः यहाँ कहने से पुनरुक्ति दोष प्राप्त होता है। तब निराकरण करते हुए आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि नहीं, यह कोई दोष नहीं है। तीक्ष्णबुद्धि वाले शिष्यों के लिए संक्षेप से एक बार कहना भी पर्याप्त होता है किन्तु मंदबुद्धि वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए आचार्य भगवन् श्री देवसेन स्वामी ने प्रसंगानुसार पुनः सत् का लक्षण यहाँ कहा। नय, न्याय सिद्धांत का विषय पुनः पुनः अध्ययन करने पर ही समीचीन रूप से कंठस्थ हो पाता है, समझ में आ पाता है अतः उसे यहाँ कहना आचार्य भगवन् की विशेष कृपा ही समझनी चाहिए।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने धवला जी पुस्तक 3 में कहा भी है–

जो अपने गुण और पर्यायों में तिष्ठता है, व्याप्त होता है वह सत् है। सत् ही द्रव्य का लक्षण है। कोई भी द्रव्य कदापि भी अन्य के गुण वा पर्यायों को व्याप्त नहीं होता। जीव द्रव्य अपने चेतनादि गुण व जीव की स्वभाव या विभाव रूप पर्यायों को ही प्राप्त करेगा। जीव द्रव्य में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश या काल द्रव्य के गुण वा पर्याय नहीं आ सकते। धर्म द्रव्य के जो (विशेष) गुण वा पर्याय हैं, वे कालद्रव्य में नहीं हो सकते। प्राकृत नयचक्र प्राकृत में कहा भी है–

अवरोप्परं विमिस्सा तह अण्णोण्णावगासदो णिच्चं।
संतो वि एयखेत्ते ण परसहावेहि गच्छंति॥

परस्पर में मिले हुए तथा एक दूसरे में प्रवेश पाकर नित्य एकक्षेत्र में रहते हुए भी इन छहों द्रव्यों में से कोई भी अन्य द्रव्य के स्वभाव को प्राप्त नहीं होता।

योगसार में भी प्ररूपित है–

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः।
न शक्यन्तेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन॥

समस्त पदार्थ स्वभाव से ही अपने स्वरूप में स्थित हैं वे कभी अन्य पदार्थों से अन्यथा नहीं किए जा सकते।

कोई द्रव्य अपने गुण-पर्यायों को छोड़कर कभी भी अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों को ग्रहण नहीं करता। द्रव्य अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता। जैसे जीव द्रव्य अपना चेतन स्वभाव, अजीव द्रव्य अपना अचेतन स्वभाव कभी नहीं छोड़ता। पंचास्तिकाय में उल्लिखित भी है–

अण्णोण्णं पविसंता दिंवा ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति॥

वे छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

अतः जो सदैव अपने-अपने गुणों और द्रव्यों से व्याप्त रहता है वही सत् है, वही द्रव्य है। वह सत् सदैव उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है।

प्रमेयत्व स्वभाव लक्षण

प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम् प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम्॥98॥

अर्थ–प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं।

विशेषार्थ–प्रमा का अर्थ होता है ज्ञान वा प्रकृष्ट माण। प्रमेय अर्थात् ज्ञान के योग्य। संसार का ऐसा कोई द्रव्य, कोई पदार्थ नहीं है जिसमें प्रमेयत्व गुण न पाया जाए। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण, प्रत्येक पर्याय ज्ञान का विषय है। यद्यपि गुण व पर्याय में प्रमेय गुण नहीं पाया जाता किंतु द्रव्य से अभिन्न होने के कारण वे भी प्रमेय हैं। प्रमेयत्व प्रत्येक द्रव्य का गुण भी है और स्वभाव भी।

यहाँ कोई शंका करता है कि गुण व पर्याय इसलिए प्रमेय हैं क्योंकि वे द्रव्य से अभिन्न हैं। गुण तो द्रव्य के सहभावी हैं किन्तु पर्याय जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई या अभी उत्पन्न ही नहीं हुई तब द्रव्य से जुदा होने के कारण वो ज्ञान का विषय नहीं हो सकती क्योंकि भूतभावी इन पर्यायों में तो प्रमेयत्व गुण नहीं पाया जाता?

तब शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'ऐसा कहना ठीक नहीं है। यद्यपि नष्ट व अनुत्पन्न पर्यायों का वर्तमान में अभाव है क्योंकि एक समय में द्रव्य की एक ही पर्याय होती है तो भी वे पर्यायें वर्तमान में शक्ति रूप से रहती हैं इसलिए ज्ञान का विषय बन जाती

हैं। श्री जयधवल ग्रंथ में भी उल्लिखित है 'अतीत और अनागत पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है।

जीवादि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण पाया जाता है। ये सभी द्रव्य ज्ञान के विषय हैं। यदि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण नहीं होता तो वह कभी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता था। चाहे परमाणु हो या विशाल स्कंध या अनंत प्रदेशी आकाश हो सभी प्रमेय हैं। आत्मा ज्ञान से युक्त होती है और प्रमेयत्व गुण से युक्त द्रव्य को जानने में समर्थ होती है। आत्मा ज्ञान गुण से युक्त है, प्रमेय व प्रमाता भी है अतः आत्मा स्वयं आत्मा को जानती है और अन्य द्रव्यों को, भी अशुद्धात्मा क्षयोपशमानुसार व शुद्धात्मा पूर्ण रूपेण जानती है। जो ज्ञान सब द्रव्यों को, पदार्थों को जानता है, उस ज्ञान को जानने के लिए भी वही ज्ञान समर्थ है। जैसे प्रज्ज्वलित दीपक स्व-पर प्रकाशी होता है, अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है और स्वयं को भी प्रकाशित करता है। एक प्रज्ज्वलित दीप को देखने के लिए अन्य प्रज्ज्वलित दीप की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। यदि एक ज्ञान को जानने हेतु अन्य ज्ञान की आवश्यकता होगी तो उस अन्य ज्ञान को जानने के लिए फिर किसी ज्ञान की आवश्यकता होगी। तो उस अन्य ज्ञान को जानने के लिये पुनः दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी। इस प्रकार चलता ही रहेगा। ऐसे मानने पर तो अनवस्था दोष आ जाएगा। अतः ज्ञान स्व-पर को जानता है। जो भी अपने योग्य है वह प्रमेय है अर्थात् प्रमाण के द्वारा जाना जाए वह प्रमेय एवं उस प्रमेय का भाव प्रमेयत्व कहलाता है।

अगुरुलघुत्व स्वभाव लक्षण

अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् सूक्ष्माः अवाग्गोचराः प्रतिक्षणवर्तमानाः आगमप्रमाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः॥99॥

जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिसमय में परिणमनशील है तथा आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघुगुण है।

अगुरुलघु का भाव अगुरुलघुत्व कहलाता है। अगुरु-अलघु-न्यूनता व अधिकता से रहित। अनादिकाल पूर्व द्रव्य में जितने प्रदेश थे, अनंतकाल के बाद भी उस द्रव्य में उतने ही प्रदेश रहेंगे। कोई एक प्रदेश घट नहीं सकता, कोई एक प्रदेश बढ़ नहीं सकता। यह अगुरुलघुगुण का प्रभाव होता है। कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के माध्यम से अपने प्रदेशों की वृद्धि नहीं कर

सकता और अन्य को स्वयं के प्रदेश दे नहीं सकता। अगुरुलघुत्व गुण के माध्यम से शुद्ध द्रव्यों में प्रति समय परिणमन होता है और वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

इस गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्यपना सदा बना रहता है। द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सकता है और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सकता है। इस गुण के निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में तथा उसके गुणों में प्रति समय षट्गुण हानि-वृद्धि होती रहती है। कहा भी है–

षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

षट्स्थान पतित वृद्धि हानि रूप परिणत हुआ जो वस्तु के निज स्वभाव की प्रतिष्ठा का कारण विशेष अगुरुलघुत्व नाम गुण-स्वरूप अगुरुलघुत्व नामा सत्रहवीं शक्ति है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में भी कहा है–

'अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः'

अगुरुलघु गुण की षड्गुण हानि वृद्धि रूप से प्रतिक्षण प्रवर्तमान अर्थपर्याय होती है।

इस गुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थपर्यायें हैं। इस अगुरुलघुत्व गुण का कार्य अत्यंत सूक्ष्म होता है जिसे सर्वज्ञ जानते हैं और छद्मस्थ आगम के द्वारा जानते हैं। प्रत्येक द्रव्य में आगमप्रमाण से सिद्ध अनंत अविभाग प्रतिच्छेद वाला अगुरुलघुगुण स्वीकार किया गया है।

इसका छः स्थान पतित वृद्धि व हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः धर्मादि द्रव्यों का उत्पाद-व्यय स्वभाव से होता रहता है। यह अगुरुलघुत्व गुण इंद्रियों के अगोचर है, वचनों के अगोचर है अतः यह आगम के प्रमाण से जाना जाता है। आगम अर्थात् आप्त द्वारा प्रणीत, गणधर द्वारा संग्रहीत व मुनि द्वारा लिखित। ऐसे आगम से यह गुण जाना जाता है।[1]

पंचाध्यायी में निरूपित है–

किंत्वस्ति च कोऽपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः।
नाम्ना चागुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा॥

---

1. **स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वाभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। –सर्वार्थसिद्धि**

किन्तु स्वतः सिद्ध और प्रत्यक्षदर्शियों के लक्ष्य में आने योग्य अर्थात् केवलज्ञानगम्य अथवा स्वानुभूति के द्वारा जानने योग्य तथा नाम से अगुरुलघु ऐसा कोई वचनों के अगोचर गुण है।

इस अगुरुलघुत्व गुण की सूक्ष्म व्याख्याओं को जानने में सामान्य व्यक्ति समर्थ नहीं है। ये सूक्ष्म व्याख्याएँ उसी के श्रद्धान का विषय होती हैं जो वास्तव में सम्यग्दृष्टि है। विपरीतदृष्टियों का उपयोग इस प्रकार की व्याख्या में लगता नहीं है। वे इन्हें कलोल-कल्पित भी कह सकते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव इसे स्वीकार करता है वह जानता है कि अर्हंत देव का आगम प्रमाण है।

अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुण के संबंध से धर्म-अधर्मादि अजीव द्रव्यों में अगुरुलघु गुण की सिद्धि हो जाती है। अनादि से कर्मनोकर्म बंधनों से बद्ध जीवों में कर्मोदय कृत अगुरुलघु गुण होता है। उसके अत्यंताभाव हो जाने पर मुक्त जीवों के स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
अज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥5॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व हेतुओं के द्वारा खंडित नहीं किए जा सकते। उन आज्ञा सिद्ध सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते।

विशेषार्थ—जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लिया है, वे जिन कहलाते हैं[1] अथवा अनेक भवों के गहन विषयों रूप संकटों की प्राप्ति के कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है, वह जिन है।[2] वीतरागी, केवली, सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित वस्तुओं का स्वभाव तर्क के अगोचर, स्थूल व सूक्ष्म द्विप्रकार है। सूक्ष्म, परोक्ष (दूरस्थ) एवं कालांतरित वस्तुओं के संबंध में सामान्य जीवों की सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है। समाधान के अभाव में शंका भी उत्पन्न होती है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के सूक्ष्म व स्थूल किसी भी तत्त्व में शंका नहीं करते क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि जो सर्वदृष्टा, सर्वज्ञाता हैं वे कभी अन्यथा वस्तु तत्त्व का कथन कर ही नहीं सकते।

---

1. जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति॥59॥ —मू.आ.
2. अनेकभवगहनविषयव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः॥ —पं.का./ता.वृ.

जिस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य अमूर्त्त होते हैं, शुद्ध जीव द्रव्य भी अमूर्त्त होते हैं, ये कभी मूर्त्तरूप अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते। इनका मूर्त्त रूप होना जिस प्रकार असंभव है उसी प्रकार राग-द्वेष से रहित वीतरागी सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि अन्यथा रूप होना असंभव है।

प्रदेशत्व स्वभाव लक्षण

प्रदेशस्यभावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं। अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धम्।।100।।

अर्थ–प्रदेश का भाव प्रदेशत्व है अथवा क्षेत्रत्व है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

विशेषार्थ–अविभागी, अविभाजित पुद्गल परमाणु के द्वारा जितना स्थान घेरा जाता है वह प्रदेश कहा जाता है। यह प्रदेश को मापने का पैमाना है। क्षेत्र के माप की 'प्रदेश' एक इकाई है।

प्रवचनसार में प्रदेश का लक्षण बताते हुए कहा है–

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं।।140।।

एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को 'आकाश प्रदेश' के नाम से कहा गया है और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।

नियमसार की टीका में भी कहा है–

एकोऽविभागी अणुः यावत् क्षेत्रं रुणद्धि तावत् क्षेत्रस्य 'प्रदेशं इति संज्ञा।

एक अविभागी परमाणु जितने क्षेत्र को रोकता है, उतने क्षेत्र का 'प्रदेश' यह नाम है।

वृहद्द्रव्यसंग्रह में परिभाषित कर निरूपित किया है–

जावदियं आयासं अविभागिपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।।27।।

जितना आकाश का क्षेत्र अविभागी पुद्गल परमाणु द्वारा रोका जाता है वह प्रदेश है। 'णयचक्को' में उल्लिखित है–

जेत्तियमेत्त खेत्तं अणूण रुद्धं खु गयणदव्वस्स।
तं च पएसं भणियं जाण तुमं सव्वदरसीहि।।

आकाश द्रव्य के जितने क्षेत्र को पुद्गल परमाणु रोकता है उसको प्रदेश जानो, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है।

इस आकाश प्रदेश के द्वारा ही जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य में प्रदेशों की गणना की जाती है। प्रदेश का भाव प्रदेशत्व कहा जाता है।

जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशी, पुद्गल द्रव्य एक, संख्यात, असंख्यात व अनंतप्रदेशी, धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी, अलोकाकाश अनंत प्रदेशी, काल द्रव्य अप्रदेशी या एकप्रदेशी होता है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने नियमसार में प्ररूपित किया है—

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु।।35।।
लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा।।36।।

मूर्त्तिक के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। लोकाकाश में भी उतने-असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं, काल को कायपना नहीं है क्योंकि उसमें एकप्रदेश है।

चैतन्य का लक्षण

चेतनस्य भावश्चेतनत्वम् चैतन्यमनुभवनम्।।101।।

अर्थ—चेतन के भाव को चेतनत्व कहते हैं। चैतन्य नाम अनुभवन का है।

विशेषार्थ—जिस शक्ति के सान्निध्य से आत्मा ज्ञाता-दृष्टा अथवा कर्त्ता-भोक्ता होता है वह चेतना है और वही जीव का स्वभाव होने से उसका लक्षण है।[1] चेतना का भाव चेतनत्व है। जीव में चेतना पाई जाती है। **'चेतना लक्षणो जीवः।'** जिसमें चेतनत्व, चैतन्यता या चिन्मयता पाई जाए वह चेतनत्वभाव है। चैतन्यपना होने से ही जीव चेतनत्व गुण से युक्त कहलाता है। जिसके बिना चेतना की सत्ता संभव नहीं है वह चेतनत्व है। **'चैतन्यमनुभवनम्'** जो अभुनव करती है वह चैतन्य शक्ति है। अथवा **'अणुहवभावो चेयणं'** अनुभव रूप भाव का नाम चेतन है। वा **'चेतनातावत्प्रतिभासरूपाः'** चेतना प्रतिभास रूप होती है। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना इन सबका एक अर्थ है।

'चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्' —पं. का./त. प्र.

1. जीव स्वभावश्चेतना। .... यत्संनिधानादात्मा ज्ञातादृष्टाकर्ताभोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः। —रा. वा.

छः द्रव्यों में मात्र जीव ही ऐसा द्रव्य है, जो अनुभव करता है जिसमें अनुभव करने का सामर्थ्य है और वह सामर्थ्य चेतनत्व गुण से ही प्रकट होता है। सभी जीव चेतनत्व गुण से युक्त होते हैं। चैतन्य भाव से हीन जीव नहीं है वह अजीव है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में अनुभव करने का सामर्थ्य होता है। कोई अनुभव कम करे और कोई ज्यादा यह तो संभव है किन्तु जीव अनुभवनहीन हो यह संभव नहीं है। **'स्वरूपं चेतना जंतोः'** जीव के स्वरूप को चेतना कहते हैं और चेतना का भाव चेतनत्व गुण जीव अर्थात् स्वजातीय की अपेक्षा सामान्य और विजातीय की अपेक्षा विशेष गुण है।

चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च।
क्रिया मनोवचःकायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम्॥6॥

अर्थ–चैतन्य नाम अनुभूति का है। वह अनुभूति क्रियारूप अर्थात् कर्तव्य स्वरूप ही होती है। मन, वचन, काय में अन्वित (सहित) वह क्रिया नित्य होती रहती है।

विशेषार्थ–'चेतनालक्षणो जीवः' जीव का लक्षण चेतना है। चेतना का अर्थ है चैतन्य भाव। चैतन्य भाव का अर्थ है अनुभूति। यह अनुभूति चेतना में ही होती है। यह अनुभूति क्रिया रूप है क्योंकि यह क्रियाशीलत्व गुण जीव व पुद्गल में ही संभव है बाकी सब द्रव्य निष्क्रिय हैं। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं। आत्मा के सद्भाव में ही मन, वचन, काय द्रव्य व भाव रूप से प्रवर्तनशील होते हैं। आत्मा के अभाव में मन, वचन, काय संभव नहीं। ध्रुव रूप से मन, वचन, काय की आत्मा के साथ अनुस्यूत प्रवृत्ति होती है। मन, वचन, काय के बिना तो आत्मा संभव है किन्तु आत्मा के बिना मन, वचन, काय की प्रवृत्ति संभव नहीं है।

अचेतन स्वभाव लक्षण

अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमचैतन्यमननुभवनम्॥102॥

अर्थ–अचेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों के अननुभवन को अचेतनत्व कहते हैं।

विशेषार्थ–जैसे जिसमें मिठासपना है वह मीठा है, खारापन है वह नमकीन है, चैतन्यपना है वह चेतन है वैसे ही अचेतनपना होने से अचेतन होता है। अचेतनपना नहीं होने से वह पदार्थ, द्रव्य अचेतन नहीं हो सकता। अचेतन भाव ही अचेतनत्व है अर्थात् जिसमें अचेतनपना पाया जाए वह अचेतनत्व है। अनुभव करना चेतना है तो अनुभव नहीं करना अर्थात् अननुभवन अचेतना है। चेतना के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में अनुभव करने का सामर्थ्य

नहीं होता। कोई कहता है कि अनुभव करने का सामर्थ्य तो जीव में होता है यहाँ चेतना क्यों कहा? तो बताते हैं कि चेतना गुण है और जीव गुणी। गुण, गुणी से कभी पृथक् नहीं होता है इसलिए यह मात्र कथन भेद है, अर्थ में कोई भेद नहीं है। चेतना गुण जीव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं द्रव्यों में नहीं पाया जाता। जीव से इतर सभी द्रव्यों में अचेतन गुण ही होता है। चैतन्य गुण जीव के सर्व प्रदेशों में पाया जाता है। ऐसा एक भी प्रदेश नहीं जहाँ चैतन्य गुण न हो। इसी प्रकार अचेतन गुण जीव के अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायों, अवस्था व दशाओं मे पाया जाता है। वह अचेतन गुण अनुभवन से रहित है, जानने-देखने की सामर्थ्य से हीन है। संसार में जो कुछ भी अचेतन है उसमें कभी चेतनत्व गुण प्रकट नहीं हो सकता और जो चेतन है उसमें अचेतनत्व गुण प्रकट नहीं हो सकता।

इस प्रकार अचेतनत्व गुण पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश व काल द्रव्य में पाया जाता है जिसके कारण वे जानने की शक्ति से हीन हैं, अनुभव करने में असमर्थ होते हैं। अनुभव करने में असमर्थ भाव ही अचेतनत्व जानना चाहिए।

मूर्त स्वभाव लक्षण

मूर्त्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्वम्॥103॥

अर्थ–रूप, रस, गंध, स्पर्शयुक्तता को मूर्त्त कहते हैं। मूर्त्त के भाव को मूर्त्तत्व कहते हैं।

विशेषार्थ–जिस शक्ति के माध्यम से पुद्गल रूपादि अवस्था को प्राप्त होता है वह उसका मूर्त्तत्व गुण है। जो रूपवान्, रसवान्, गंधवान् और स्पर्शवान् है वह पुद्गल द्रव्य मूर्त्तत्व गुण से युक्त होता है। जो द्रव्य रूप, रस, गंध और वर्ण से युक्त होता है वह मूर्त्त कहलाता है, **'रूपादि-संस्थानपरिणामो मूर्तिः'** धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य रूप, रस, गंध वर्ण से युक्त नहीं होने के कारण मूर्त्त नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य सदैव मूर्त्तिक है।

स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्त्तिरुच्यते तत्सद्भावात् मूर्त्तः पुद्गलः। (पं.का./ता.वृ.)

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सहित मूर्ति होती है, उसके सद्भाव के कारण पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। जीव का संयोग जब पुद्गल के साथ होता है तब उपचार से वह भी मूर्त्तिक कहलाता है किन्तु पुद्गल अर्थात् कर्म से रहित जीव कभी मूर्त्तिक नहीं होता। कहा भी है–

जीवाजीव-दव्व-रूवारूवित्ति होदि पत्तेय।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया॥ गो.जी.

संसारी जीव रूपी अर्थात् मूर्त्तिक है और कर्मरहित सिद्ध जीव अमूर्त्तिक है।

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी॥19॥ त.सा.

आत्मा मूर्त्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाती है किन्तु अमूर्त्तिक आकाश को मदिरा मदकारिणी नहीं होती है।

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि॥ पं.का.

क्योंकि कर्म का फल जो (मूर्त्त) विषय वे नियम से (मूर्त्त ऐसी) स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा जीव से सुख-दुःख रूप में भोगे जाते हैं, इसीलिए कर्म मूर्त्त है।

कर्म सहित होने से जीव भी मूर्त्त है।

अनादिबंधनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण संबंध प्रति विरोधासिद्धे। ध.पु.-1

जीव के प्रदेश अनादिकालीन बंधन से बद्ध होने के कारण मूर्त्त हैं अतः इनका मूर्त्त शरीर के साथ संबंध होने में कोई विरोध नहीं आता।

प्रवचनसार में भी कहा है–'जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निंब, चंदनादि वनराजिरूप परिणमित होता हुआ द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्त्तत्व और विकार-रहित विशुद्ध स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।

पंचास्तिकाय में प्रतिपादित भी है–

'जे खलु इंदियगज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।'

जो पदार्थ जीवों के इन्द्रिय ग्राह्य विषय हैं वे मूर्त्त हैं।

शुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इंद्रिय ग्राह्य विषय नहीं हैं अतः मूर्त्त नहीं हैं। किन्तु अशुद्ध या कर्मबद्ध जीव एवं पुद्गल इंद्रिय ग्राह्य विषय या तदनुरूप योग्यता का सद्भाव होने से मूर्त्तिक कहे जाते हैं।

'ते कदाचित्स्थूलस्कंधत्वमापन्नाः कदाचित्सूक्ष्मत्वमापन्नाः कदाचित्परमाणुत्वमापन्नाः इन्द्रियग्रहणयोग्यतासद्भावात् ग्रह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्त्ता इत्युच्यन्ते।'

वे पदार्थ कदाचित् स्थूल स्कंधपने को प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्म स्कंधपने को प्राप्त हुए और कदाचित् परमाणुपने को प्राप्त होते हुए, इंद्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों परन्तु मूर्त्त हैं क्योंकि उन सभी में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता का सद्भाव है।

अमूर्त स्वभाव लक्षण

अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम्॥104॥

अर्थ–अमूर्त्त के भाव को अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहितपने को अमूर्त्तत्व कहते हैं।

विशेषार्थ–अमूर्त्तपने का भाव ही अमूर्त्तत्व है। जो स्पर्शवान्, रसवान्, गंधवान् व वर्णवान् नहीं है वह अमूर्त्तिक कहलाता है। धर्मादि द्रव्यों में रूप नहीं पाया जाता इसलिए अरूपी हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य एवं शुद्ध जीव द्रव्य सभी स्पर्श रस, गंध, वर्ण से रहित होने से इंद्रिय विषय के अग्राह्य होने से अमूर्त्तिक कहलाते हैं। धवला जी पु. 3 में कहा है– द्रव्य दो प्रकार का है–जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। उनमें अजीव द्रव्य भी दो प्रकार का है–रूपी अजीव द्रव्य और अरूपी अजीव द्रव्य। रूपी अजीव द्रव्य तो पुद्गल व शब्दादि हैं तथा अरूपी अजीव द्रव्य चार प्रकार का है–धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य।

जीव द्रव्य भी दो प्रकार का है–संसारी व मुक्त। संसारी मूर्त्तिक व मुक्त जीव अमूर्त्तिक जानने चाहिए। कहा भी है–

कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः

कर्म बंध के अभाव से व्यक्त किए गए, सहज स्पर्शादिशून्य ऐसे आत्म प्रदेश स्वरूप अमूर्त्तत्व शक्ति है।

क्योंकि धर्मादि चार द्रव्य व मुक्त जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आकारादि से रहित हैं अतः अमूर्त्तिक हैं। इन द्रव्यों में अमूर्त्तत्वपना अमूर्त्तत्व गुण के कारण ही पाया जाता है।

पर्याय का व्युत्पत्ति अर्थ

स्वभावविभावरूपतया यानि पर्येति परिणमतीति पर्यायः॥105॥

अर्थ–जो स्वभाव विभाव रूप से सदैव परिणमन करती रहती है, वह पर्याय है।

विशेषार्थ–द्रव्य वा गुणों का स्वभाव या विभाव रूप जो परिणमन, विकार, भाव या परिवर्तन होता है वह पर्याय कही जाती है। **'परिसमन्तादायः पर्यायः'** जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है अथवा द्रव्य व गुणों का विकार या परिणमन पर्याय है। पर्याय सहभावी व क्रमभावी के भेद से दो प्रकार की है अथवा यह पर्याय द्रव्य, गुण के भेद से दो

प्रकार की है अथवा अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय के भेद से ये दो प्रकार की है अथवा स्वभाव पर्याय व व्यंजन पर्याय के भेद से पर्याय दो प्रकार की होती है।[1]

शुद्ध द्रव्यों की अगुरुलघुगुण की षड्गुण वृद्धि-हानि के द्वारा स्वभाव पर्याय होती है। अशुद्ध द्रव्यों में विभाव पर्याय होती है। धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य ये शाश्वत शुद्ध हैं, इन शुद्ध द्रव्यों की सदा शुद्ध स्वभाव पर्याय ही होती है। शुद्ध जीव (सिद्ध) व पुद्गल (परमाणु) की स्वभाव पर्याय होती हैं क्योंकि इनमें सदैव स्वभाव परिणमन ही होता है। जैसा द्रव्य होता है पर्याय भी वैसी ही होती हैं। पर्याय, द्रव्य से भिन्न नहीं होती। संसारी या अशुद्ध जीव एवं पुद्गल स्कंधों की पर्याय भी अशुद्ध या विभाव रूप होती है। विभाव स्थित द्रव्यों में विभाव पर्यायें ही होती हैं।

कोई भी द्रव्य कभी कूटस्थ नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है द्रव्य में निरंतर परिणमन होता रहता है। वह स्वभाव व विभाव रूप परिणमन ही पर्याय जानी जाती है।

स्वभावव्युत्पत्ति अधिकार

अस्ति स्वभाव

स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः॥106॥

अर्थ–जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त हैं उससे कभी भी च्युत नहीं होना अस्ति स्वभाव है।

विशेषार्थ–पूर्व में किन द्रव्यों में कौन-कौन से स्वभाव पाए जाते हैं उनका वर्णन किया जा चुका है। अब उनका लक्षण बताते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि प्रत्येक जीव का अपना-अपना स्वभाव होता है, स्वकीयभाव या स्वभाव का लाभ होने पर उससे कभी च्युत नहीं होना अस्ति स्वभाव है। यदि यह स्वभाव जीव में न हो तो द्रव्य की सत्ता ही नहीं रहेगी।

अस्ति स्वभाव के न होने पर पर्याय, गुण, द्रव्य कुछ भी शेष नहीं रहेगा। 'अस्ति' का अर्थ है– 'है' अर्थात् 'द्रव्य है'। जिस स्वभाव के कारण द्रव्य की सत्ता है, वह है, यह अस्ति स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य अस्ति स्वभाव के कारण ही स्वचतुष्टय में उपस्थित रहता है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव से कोई भी द्रव्य कभी भी च्युत नहीं होता उसका कारण द्रव्य का अस्ति स्वभाव ही है।

---

1. सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं। –न.च.वृ.

नास्ति स्वभाव

परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः॥107॥

अर्थ–परस्वरूप का अभाव होने से नास्ति स्वभाव है।

विशेषार्थ–नास्ति का अर्थ होता है–'नहीं है' अर्थात् द्रव्य नहीं है किन्तु परस्वरूप की अपेक्षा। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से द्रव्य नहीं है। यदि द्रव्य पर रूप हो जाए तो उसका स्वयं का अस्तित्व ही नष्ट हो जाए किन्तु द्रव्य में परचतुष्टय की अपेक्षा अभाव होने से नास्ति स्वभाव है। जैसे पिच्छी, पिच्छी की अपेक्षा से तो है किन्तु वह पिच्छी, कमंडलु, शास्त्रादि की अपेक्षा नहीं है अर्थात् पिच्छी-शास्त्र नहीं है, कमंडलु नहीं है, टेबल नहीं है। एतावता परस्वरूप की अपेक्षा से नहीं होना ही उसका नास्ति स्वभाव है।

जीव, जीव की अपेक्षा से है किन्तु पुद्गल, धर्मादि द्रव्य की अपेक्षा से नहीं है। जीव में परचतुष्टय का अभाव उसके नास्ति स्वभाव के कारण है। कहा भी है **'असंततच्चा हु अण्णमण्णेण'** अन्य का अन्य रूप से न होना ही नास्ति या असत् स्वभाव है।

नित्य स्वभाव

निज-निजनानापर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्यस्वभावः॥108॥

अर्थ–अपनी-अपनी नाना पर्यायों में 'यह वही है' इस प्रकार द्रव्य की प्राप्ति 'नित्य स्वभाव' है।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों से युक्त होता है, कोई भी द्रव्य पर पर्यायों से युक्त नहीं होता। उन पर्याय के साथ द्रव्य की उपलब्धि होती है। वह द्रव्य, द्रव्यत्व की अपेक्षा से नित्य है क्योंकि उस द्रव्य का नित्य स्वभाव है। जैसे–माना स्वर्ण द्रव्य है, स्वर्ण का हार बना हुआ है, हार उस स्वर्ण की एक पर्याय है। उस हार को नष्ट करा, उसका ही कंगन बनवाया वह कंगन नामक दूसरी पर्याय उत्पन्न हुई। पर्याय बदल गई किन्तु स्वर्ण, स्वर्ण ही रहा। स्वर्ण नष्ट नहीं हुआ यह उसका नित्यपना है। पहले कोई जीव देव पर्याय में था, वह नष्ट हुई पुनः मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हुआ। तब पर्याय तो बदल गई किन्तु वह जीवात्मा वैसा ही रहा। पर्याय बदलती हैं, नष्ट होती हैं, उत्पन्न होती हैं किन्तु द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता। उस जीव की अपनी-अपनी नाना पर्यायें होती हैं कभी तिर्यंच, देव, मनुष्य, नारकी किन्तु जीव नष्ट नहीं होता वह उसका नित्य स्वभाव है। ध्रुवत्व की अपेक्षा या द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है। यह नित्यता उसके नित्य स्वभाव के कारण ही है।

अनित्य स्वभाव

तस्याप्यनेकपर्यायपरिणामितत्वादनित्यस्वभावः॥109॥

अर्थ–उस द्रव्य का अनेक पर्याय रूप परिणत होने से अनित्य स्वभाव है।

विशेषार्थ–प्रतिसमय द्रव्य में परिणमन होता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त द्रव्य में उत्पन्न पर्याय अनित्य होती है। एक पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है। वही द्रव्य अनेक पर्यायों से परिणत होने के कारण पर्यायों की अपेक्षा अनित्य स्वभावी है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य स्वभाव से युक्त है। यदि द्रव्य के अनित्य स्वभाव न होता तो पर्यायें नहीं बदलतीं जिससे द्रव्य कूटस्थ हो जाता और यदि सर्व कूटस्थ होगा तो सकल शून्यत्व का प्रसंग प्राप्त होगा।

एक स्वभाव

स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः॥110॥

अर्थ–संपूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से एक स्वभाव है।

विशेषार्थ–सभी स्वभावों का एक आधार द्रव्य है। उस द्रव्य में ही समस्त गुण, स्वभाव, पर्याय निहित हैं। द्रव्य से पृथक् गुण, पर्यायादि कुछ भी नहीं है। सभी गुणादि का एक आधार द्रव्य है। अतः गुण, पर्याय, स्वभाव आदि का एक द्रव्य आधार होने से द्रव्य एकस्वभाव से युक्त है। कहा भी है **'सामान्यरूपेणैकत्वमिति'** सामान्य की अपेक्षा एक स्वभाव है।

अनेक स्वभाव

एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेकस्वभावः॥111॥

अर्थ–एक ही द्रव्य के अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने से अनेक स्वभाव है।

विशेषार्थ–समस्त गुण पर्यायादि का एक आधार है, अतः आधार की अपेक्षा से द्रव्य अनेक स्वभावी है। एक ही द्रव्य में अनेक स्वभाव पाए जाते हैं एतावता द्रव्य एक आधार है किन्तु आधेय अनेक हैं। अतः आधेय की अपेक्षा से द्रव्य अनेक स्वभावी है। एक द्रव्य में एक ही समय में अनेक स्वभावों की उपस्थिति पाई जाती है। गुण के समान स्वभाव भी सहभुवा होते हैं। जैसे गुण एक साथ एक द्रव्य में कई पाए जाते हैं उसी प्रकार एक समय में एक द्रव्य में कई स्वभावों की उपलब्धि होती है। पर्याय तो एक द्रव्य में एक समय में एक

ही पाई जाती है, वे क्रमवर्ती होती हैं किन्तु स्वभाव, गुण से समान सहभुवा होते हैं। अतः एक ही द्रव्य अनेक स्वभावों का आधार होने से अनेक स्वभावी भी कहा जाता है।

संस्कृत नयचक्र में कहा भी है–**'स्यादनेक इति विशेषरूपेणैव कुर्यात्'** अर्थात् विशेष की अपेक्षा अनेक स्वभाव है।

भेद स्वभाव

गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः॥112॥

अर्थ–गुण-गुणी आदि में संज्ञादि का भेद होने से भेद स्वभाव है।

विशेषार्थ–गुण और गुणी यद्यपि अविनाभावी होते हैं। जैसे ज्ञान गुण है और आत्मा (द्रव्य) गुणी है दोनों अपृथक् हैं क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा का और आत्मा के बिना ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु गुण व गुणी इन दोनों की संज्ञा पृथक्-पृथक् है। गुण व गुणी दोनों का लक्षण अलग है, संख्या अलग है, स्वभाव अलग है।

जीव (गुणी) का लक्षण चेतना है और ज्ञान (गुण) का लक्षण जानना है। यहाँ गुणी की संज्ञा जीव व गुण की संज्ञा ज्ञान है। गुणी (जीव) अनेक हैं और गुण (ज्ञान) एक है। जीव (गुणी) बंध, मोक्षादि पर्याय रूप परिणमन करता है यह जीव का प्रयोजन है और जानना मात्र ज्ञान गुण का प्रयोजन है।

इस प्रकार एक साथ होने के बाद भी गुण-गुणी में कथंचित् भेद है क्योंकि यदि भेद संभव नहीं होगा तो यह व्यवहार नय का विषय नहीं बनेगा। यदि व्यवहार नय नहीं होगा तो निश्चय नय भी मिथ्या हो जाएगा अतः वह भेदपना स्वभाव है। ऐसा कोई द्रव्य नहीं जिसमें भेद न किया जा सके। यहाँ तक कि परमाणु भले ही अविभागी है किन्तु उसमें भी स्पर्श, रस, गंधादि पाए जाते हैं। एतावता द्रव्य के अखंड होने के बाद भी उसमें गुण-गुणी की अपेक्षा भेद पाया जाता है। यदि द्रव्य में भेद स्वभाव न हो तो गुण-गुणी आदि का व्यवहार भी संभव न हो सकेगा।

अतः गुण-गुणी पर्याय-पर्यायी आदि में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद होने से द्रव्य का भेद स्वभाव है। संस्कृत नय चक्र में कहा भी है। **'सद्भूतव्यवहारेण भेद इति'** सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा भेद स्वभाव है।

अभेद स्वभाव

गुणगुण्याद्येकस्वभावादभेदस्वभावः॥113॥

अर्थ–गुण और गुणी का एक स्वभाव होने से अभेद स्वभाव है।

विशेषार्थ–गुण और गुणी अभेद होते हैं। जीव द्रव्य व उसका स्वभाव चैतन्य इन दोनों को कभी अलग नहीं किया जा सकता। जो जीव है वह चेतना लक्षण से युक्त है और जहाँ चैतन्यपना नहीं वहाँ जीव द्रव्य भी नहीं है। अग्नि व अग्नि की ऊष्णता इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता अथवा धर्म द्रव्य व उसका लक्षण गति-हेतुत्व इन्हें पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। गुण-गुणी आदि को कभी पृथक् नहीं किये जाने के कारण द्रव्य का अभेद स्वभाव भी सिद्ध है। व्यवहार नय की दृष्टि से भेद दृष्टि होती है किन्तु निश्चय नय या द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में द्रव्य अखंड है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव एक अखंड द्रव्य है। जीव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि भेद रूप कथन करना व्यवहार नय का विषय है। निश्चय नय से जीव में दर्शन, ज्ञानादि भेद नहीं है। श्री समयसार में आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा भी है–

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसण जाणगो सुद्धो॥

व्यवहार नय से जीव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र है किन्तु निश्चय नय से न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है।

निश्चय नय वा द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य के अखंड होने से उसका अभेद स्वभाव है। संस्कृत नयचक्र में कहा है–**'स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात्'** अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से ही अभेद स्वभाव है।

प्राकृत नय चक्र में भी उल्लिखित है–

गुणपज्जयदो दव्व दव्वादो ण गुणपज्जयाभिण्णा।
जम्हा तम्हा भणिदं दव्वगुणपज्जयमणण्णं॥

गुण, पर्याय से, द्रव्य और द्रव्य से गुण, पर्याय भिन्न नहीं हैं अर्थात् प्रदेश भेद नहीं है इसलिए गुण, पर्याय से द्रव्य को अनन्य कहा है अर्थात् गुण-गुणी में अभेद स्वभाव कहा है।

भव्य स्वभाव

भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाद्भव्यस्वभावः॥114॥

अर्थ–भाविकाल में पर (आगामी पर्याय) स्वरूप होने से भव्य स्वभाव है।

विशेषार्थ–द्रव्य कभी कूटस्थ नहीं होता, वह प्रतिसमय परिणमनशील होता है। द्रव्य सदा एक पर्याय से युक्त नहीं होता। वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य में भविष्य में आगामी पर्याय रूप होने की योग्यता होने से उसका भव्य स्वभाव है। 'भव्य' शब्द भव धातु से बना है जिसका अर्थ है होना और भव्य अर्थात् होने योग्य। द्रव्य आगामी पर्याय को प्राप्त करने रूप योग्यता होने से भव्य स्वभाव वाला है। जीव द्रव्य, जीव द्रव्य की ही अन्य पर्याय को प्राप्त होगा। कोई जीव मनुष्यादि पर्याय तो धारण कर सकता है किन्तु पुद्‌गलादि द्रव्य की पर्याय नहीं। अतः द्रव्य अपनी ही अन्य पर्याय होने से भव्य स्वभाव से युक्त कहा जाता है। यहाँ 'परस्वरूपाकार' से आशय परद्रव्य रूप से नहीं अपितु पर अर्थात् इतर या अन्य आगामी पर्याय से है अर्थात् द्रव्य अपनी ही अन्य पर्याय रूप होता है। श्री अमृतचंद्राचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में कहा है–**'द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति'** अर्थात् द्रव्य सर्वदा अभूत या भावी पर्यायों से भाव्य है अर्थात् भावि पर्याय रूप होने योग्य है अतः द्रव्य में भव्य भाव है। नयचक्र में भी उक्त है–**'भवितुं परिणमितुं योग्यत्वं तु भव्यत्वं तेन विशिष्टत्वाद् भव्याः।'** होने योग्य अथवा परिणमन करने योग्य वह भव्यत्व है। उस भव्यत्व भाव से विशिष्ट द्रव्य भव्य है।

अभव्य स्वभाव

कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकाराभवनादभव्यस्वभावः॥115॥

तीन काल में परस्वरूपाकार अर्थात् दूसरे द्रव्य रूप नहीं होगा अतः अभव्य स्वभाव है।

अनादिकाल से सभी द्रव्य एकमेक रहते हैं, एकक्षेत्रावगाह रूप स्थित हैं फिर भी किसी एक द्रव्य का परिणमन अन्य द्रव्य रूप नहीं होता।

णयचक्को में कहा है–

अवरोप्परं विमिस्सा तह अण्णोण्णावगासदो णिच्चं।
संतो वि एयखेत्ते ण परसहावेहि गच्छंति॥

परस्पर में मिले हुए तथा एक दूसरे में प्रवेश पाकर नित्य एकक्षेत्र में रहते हुए भी इन छहों द्रव्यों में से कोई भी अन्य द्रव्य के स्वभाव को प्राप्त नहीं होता।

द्रव्य का अन्य द्रव्य रूप नहीं होने से उसका अभव्य स्वभाव है। आत्मा कभी पुद्गल रूप नहीं होगा। पुद्गल कभी आकाश, धर्म द्रव्य, कभी अधर्म द्रव्य इत्यादि रूप नहीं होगा। परमात्म प्रकाश में कहा है–

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जिण होइ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमे पभणहिं जोइ।।

निज वस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही हैं। आत्मा तो परद्रव्य नहीं होता और परद्रव्य आत्मा नहीं होता, ऐसा निश्चय से योगीश्वर कहते हैं।

'द्रव्यमन्यद्रव्यैः सदा शून्यमिति' द्रव्य अन्य द्रव्यों से सदा शून्य है। अतः एक द्रव्य का अन्य द्रव्य रूप नहीं होने में उसका अभव्य स्वभाव कारण है।

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति।।7।।

अर्थ–वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

विशेषार्थ–संसार में आकाश द्रव्य अनंत अवस्था को प्राप्त है किन्तु असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल छः द्रव्य विद्यमान हैं। आकाश के जितने हिस्से में जीवादि छः द्रव्य परिणमन युक्त दृष्टिगोचर होते हैं, आकाश के उतने हिस्से को लोक कहते हैं। इस लोक में छहों द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश को प्राप्त हैं किन्तु फिर भी कोई भी द्रव्य अपने मूल स्वभावों का कभी भी परित्याग नहीं करते। इन छः द्रव्यों की स्थिति लोक में अनादिनिधन है।

पारिणामिक भाव

पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः।।116।।

अर्थ–पारिणामिक भाव की प्रधानता से परमस्वभाव है।

विशेषार्थ–स्वभाव ही है प्रयोजन जिसका वह पारिणामिक है। प्रत्येक पदार्थ के निरुपाधिक तथा त्रिकाली स्वभाव को उसका पारिणामिक भाव कहा जाता है।

णयचक्को में कहा है–

अत्थित्ताइसहावा सुसंठिया जत्थ सामण्णविसेसा।
अवरुप्परमविरुद्धा तं णियतच्चं हवे परमं।।

जहाँ सामान्य और विशेष रूप अस्तित्वादि स्वभाव स्व व पर की अपेक्षा विधि-निषेध रूप से अविरुद्ध स्थित रहते हैं, उसे निज परम तत्त्व या वस्तु का स्वभाव कहते हैं।

अपने स्वभाव से रहना या होना पारिणामिक भाव है।

कम्मजभावातीदं जाणगभावं विसेस-आहारं।
तं परिणामो जीवो अचेयणं भवदि इदराणं॥

जो कर्मजनित औदयिकादि भावों से अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है, वह जीव का पारिणामिक भाव है और अचेतन भाव शेष द्रव्यों का पारिणामिक भाव है। ऐसे पारिणामिक भाव की मुख्यता से परमस्वभाव है।

द्रव्य की ऐसी शक्ति जो कभी अंत को प्राप्त नहीं होती वह पारिणामिक कहलाती है। द्रव्य के परम स्वभाव होने से उसकी परम शक्ति, परम स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। पारिणामिक भाव से ही द्रव्य का परम स्वभाव माना जाता है।

व्युत्पत्ति निर्देश

प्रदेशादिगुणानां व्युत्पत्तिश्चेतनादि-विशेषस्वभावानां च व्युत्पत्तिर्निगदिता॥117॥

अर्थ–प्रदेश आदि गुणों की व्युत्पत्ति तथा चेतनादि विशेष स्वभावों की व्युत्पत्ति की गई।

विशेषार्थ–पूर्व सूत्रों का यह उपसंहार सूत्र ही समझना चाहिए। सूत्र 94 से 116 तक द्रव्य के प्रदेशत्व आदि गुणों की, अस्ति आदि 11 सामान्य स्वभावों की एवं चेतन अचेतन मूर्त व अमूर्त विशेष स्वभावों की व्युत्पत्ति कही गई है।

स्वभाव गुण नहीं

धर्मापेक्षया स्वभावाः गुणाः न भवन्ति॥118॥

अर्थ–धर्म की अपेक्षा स्वभाव गुण नहीं होते।

विशेषार्थ–द्रव्य का निज भाव स्वभाव कहलाता है। **'स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते।**[1]' स्व अर्थात् अपने असाधारण धर्म के द्वारा होना वह स्वभाव कहा जाता है। **'स्वस्य भवनं तु स्वभावः**[2]' स्व का 'भवन' अर्थात् होना वह स्वभाव है।

---

1. रा. वा.
2. स. सा.

'स्वसंवेद्यो निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुतः स्वभावोऽभिधीयते[3]' अर्थात् स्वसंवेद्य निरुपाधिक ही वस्तु का स्वरूप है वही वस्तु का स्वभाव है। द्रव्यों के स्वरूप को स्वभाव कहते हैं।

अथवा आत्मा में स्वभाव अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ रहता है जैसे आत्मा में अस्ति स्वभाव भी है व नास्ति स्वभाव भी है, एक भी है, अनेक भी है। किन्तु ज्ञानगुण का प्रतिपक्षी अज्ञान गुण आत्मा में नहीं है। यह गुण-स्वभाव में अंतर है।

द्रव्य में कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो गुण रूप होते हैं और कुछ धर्म या स्वभाव ऐसे होते हैं जो गुण रूप नहीं होते। जैसे द्रव्य में स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति स्वभाव है। यह अस्तिपना द्रव्य का गुण भी है। किन्तु परचतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य का नास्ति स्वभाव तो है किन्तु गुण नहीं है। इस प्रकार द्रव्य में पाए जाने वाले सामान्य विशेष भावों का गुण रूप होना आवश्यक नहीं है।

गुण स्वभाव होते हैं

स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया परस्परगुणाः स्वभावाः भवन्ति॥119॥

अर्थ—स्वद्रव्यचतुष्टय की अपेक्षा परस्पर में गुण स्वभाव हो जाते हैं।

विशेषार्थ—स्व द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से परस्पर में जो गुण हैं, वे स्वभाव रूप भी होते हैं। अस्ति आदि सामान्य गुण या चेतनादि विशेष गुण स्वभाव भी होते हैं। प्रमेयत्व द्रव्य का गुण है इस गुण का चतुष्टय और द्रव्य का चतुष्टय एक है। इस गुण के कारण ही द्रव्य व अन्य गुण प्रमेय अर्थात् जानने योग्य हैं। अतः यह प्रमेयत्व गुण स्वभाव भी हो जाता है।

गुण द्रव्य भी होते हैं

द्रव्याण्यपि भवन्ति॥120॥

अर्थ—स्वद्रव्य चतुष्टय की अपेक्षा गुण द्रव्य भी हो जाते हैं।

विशेषार्थ—गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। अतः द्रव्य का जो स्वद्रव्य चतुष्टय है वही गुणों का भी होगा। द्रव्य गुणों का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव एक ही होता है। द्रव्य का अस्तित्व गुणों से पृथक् नहीं है। अतः गुण द्रव्य भी हो जाते हैं। चेतनता जीव द्रव्य का गुण है किन्तु गुण भी द्रव्य हो जाते हैं यथा—चेतन द्रव्य। इसी प्रकार अचेतन द्रव्य, मूर्त्तद्रव्य, अमूर्त्तद्रव्य आदि जानना चाहिए।

3. स. श./टी.

विभाव

स्वभावादन्यथाभवनं विभावः।।121।।

अर्थ–स्वभाव से अन्यथा होने को विभाव कहते हैं।

विशेषार्थ–वस्तु का स्वरूप, धर्म स्वभाव है। इसके विपरीत जो वस्तु का धर्म नहीं है वह विभाव कहलाता है। णयचक्को में कहा है–

'सहजादो रूवंतरगहणं जो सो हु विभावो'

सहज अर्थात् स्वभाव से रूपांतर का ग्रहण करना विभाव है। धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य सदा स्वभाव रूप ही परिणमन करते हैं, ये कभी विभाव अवस्था को प्राप्त नहीं करते। पुद्गल स्वभाव-विभाव दोनों रूप परिणमन करता रहता है। जब वह परमाणु रूप होता है तो स्वभाव रूप और जब स्कंध रूप होता है तो विभाव रूप परिणमन करता है। जीव का स्वभाव अनंतदर्शन, ज्ञानादि अनेक गुणों को प्राप्त करना है, सिद्ध पर्याय ही उसकी स्वाभाविक पर्याय है। इसके विपरीत संसार में परिभ्रमण करता हुआ कर्मबद्ध जीव विभाव रूप परिणमन करता है।

शुद्ध-अशुद्ध भाव

शुद्धं केवलभावमशुद्धं तस्यापि विपरीतम्।।122।।

अर्थ–केवलभाव शुद्ध स्वभाव है। इसके विपरीत अशुद्ध स्वभाव है।

विशेषार्थ–यहाँ केवलभाव का आशय है अमिश्रित भाव अर्थात् द्रव्य का शुद्ध भाव। जो द्रव्य शुद्ध है उस द्रव्य का भाव भी शुद्ध होता है किन्तु जो द्रव्य अशुद्ध है उसका भाव भी अशुद्ध होता है। केवलभाव अर्थात् द्रव्य का वह भाव जिसमें अन्य कोई भाव मिश्रित नहीं होता। द्रव्य का केवल या शुद्ध भाव ही शुद्धस्वभाव है। धर्मादि चार द्रव्य तो शाश्वत शुद्ध हैं। जीव व पुद्गल के शुद्ध होने पर उनका भाव शुद्ध व अशुद्ध होने पर भाव अशुद्ध होता है। क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है कहा भी है–**'उपादानकारणसदृशकार्यं भवतीति'**

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने समयसार में भी निरूपित किया है–

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा।
अयसमया भावादो जह जायते तु कडयादी।।

स्वर्णमय द्रव्य से स्वर्णमय कुंडलादि भाव होते हैं और लोहमय द्रव्य से लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव होते हैं।

अत: शुद्ध-द्रव्य का शुद्ध स्वभाव व अशुद्ध द्रव्य का अशुद्ध स्वभाव जानना चाहिए।

उपचरित स्वभाव

स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभाव:॥123॥

अर्थ–स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरित स्वभाव है।

विशेषार्थ–अन्य वस्तु के धर्म या स्वभाव को प्रयोजनवश अन्य वस्तु में आरोपित करना उपचार कहलाता है अथवा निमित्त के वश से किसी अन्य पदार्थ को अन्य का कहना उपचार है। जैसे मिट्टी के घड़े में घी रखा है तब उपचार से उसे घी का घड़ा कहना। जीव व पुद्गल में उपचार संभव है अन्य धर्मादि द्रव्यों में उपचार संभव नहीं है कार्य में कारण का, अल्प में पूर्ण का, भावी में भूत का, आधार में आधेय का इत्यादि अनेक प्रकार से उपचार करने में आता है।

उपचरित स्वभाव भेद

स द्वेधा कर्मज-स्वाभाविक-भेदात्। यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं यथा सिद्धात्मना परज्ञता परदर्शकत्वं च॥124॥

अर्थ–वह उपचरित स्वभाव कर्मज और स्वाभाविक के भेद से दो प्रकार का है। जैसे जीव के मूर्त्तत्व और अचेतनत्व कर्मज-उपचरित स्वभाव हैं तथा जैसे–सिद्ध आत्माओं के पर का जाननापना तथा पर का दर्शकत्व स्वाभाविक-उपचरित-स्वभाव है।

विशेषार्थ–उपचरित स्वभाव दो प्रकार का कहा गया है–कर्मज व स्वाभाविक। कर्म के उदय से पायी जाने वाली जीव की दशा कर्मज और शुद्ध या स्वभाव प्राप्त जीव की पायी जाने वाली दशा स्वाभाविक जाननी चाहिए।

जीव के मूर्त्तत्व व अचेतनत्व मानना कर्मज उपचरित स्वभाव है क्योंकि जब तक जीव मूर्त्तिक कर्मों से बद्ध है तभी वह मूर्त्त व अचेतन कहा जाता है। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव कभी भी मूर्त्तिक या अचेतन नहीं होता वह सदा अमूर्त्तिक व चेतन ही होता है किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से कर्मबद्ध जीव को मूर्त्तिक व अचेतन कहा जाता है। क्योंकि कर्म की अपेक्षा से जीव के मूर्त्त व अचेतन स्वभाव कहा जाता है अत: यह कर्मज-उपचरित-स्वभाव कहलाता है।

निश्चय से सिद्ध जीव स्वयं को ही जानते व देखते हैं किन्तु उपचार से वे पर को जानते हैं व पर को देखते हैं। कोई कहता है कि सिद्ध भगवान् तो तीनों लोकों के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को युगपत् जानते हैं अतः सर्वज्ञ हैं, तब सर्वज्ञता को भी उपचार मानना होगा? आचार्य बताते हैं कि यदि ऐसा है तो रहने दो। इसमें कोई दोष नहीं है। नियमसार में कहा भी है–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥

केवली भगवान् सर्व पदार्थों को जानते हैं देखते हैं–यह कथन व्यवहार नय (उपचरित नय) से है परंतु केवलज्ञानी नियम से अपनी आत्मा को ही जानते व देखते हैं।

जीव की स्वभावजन्य अवस्था अर्थात् सिद्ध दशा में उसके परज्ञता व परदर्शकत्व स्वीकार किया गया है स्वाभाविक दशा में उपचार किया गया है अतः यह स्वाभाविक-उपचरित-स्वभाव कहलाता है।

एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथा संभवो ज्ञेयः॥125॥

अर्थ–इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी यथासंभव उपचरित स्वभाव जानना चाहिए।

विशेषार्थ–पूर्व सूत्र में जीव में उपचरित स्वभाव का कथन किया गया है। इसके अतिरिक्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य में कभी भी उपचरित स्वभाव नहीं होता। किन्तु पुद्गल द्रव्य में भी जीव की भाँति उपचरित स्वभाव स्वीकार किया गया है। कर्मों से प्रतिबद्ध होने के कारण से जीव में उपचार से कथंचित् मूर्त्तपना व अचेतनत्व स्वीकार किया है उसी प्रकार पुद्गल व जीव के संयोग से पुद्गल में भी उपचार से कथंचित् अमूर्त्तत्व व चेतनत्व स्वीकार किया गया है।

एकांत पक्ष में दोष

दुर्नयैकान्तमारूढ़ा भावानां स्वार्थिकाः हि ते।
स्वार्थिकाश्च विपर्यस्ताः सकलंका नयाः यतः॥

जो नय पदार्थों के दुर्नय रूप एकान्त पर आरुढ़ है, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले नित्य, अनित्य आदि उभय धर्मों में से एक को मानकर दूसरे का सर्वथा निषेध करते हैं वे स्वार्थिक हैं अर्थात् स्वेच्छा-प्रवृत्त हैं। स्वार्थिक होने से वे नय विपरीत हैं क्योंकि वे दूषित नय अर्थात् नयाभास हैं।

विशेषार्थ–मिथ्या नय नयाभास कहलाता है। एक धर्म को ही ग्रहण कर उस वस्तु के अन्य धर्मों के निराकरण करने वाले ज्ञान को दुर्नय कहते हैं।

कहा गया है–

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥ –अष्टसहस्री

अनेक धर्मात्मक पदार्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके धर्मान्तर सापेक्ष एक अंश के ज्ञान को नय कहते हैं और धर्मान्तरों का निराकरण करके वस्तु के एक ही धर्म का कथन करने वाले को दुर्नय कहते हैं।

माना किसी से पूछा जाए कि राम कौन थे? उसने उत्तर दिया 'राम पति थे।' क्या वे और कुछ नहीं थे? बोला, नहीं वे पति ही थे। तब उस एकांततः उत्तर देने वाले ने राम के पुत्र, पिता, भाई, मुनि, जिन आदि रूप अस्वीकार कर दिए। इस प्रकार एक ही पक्ष मानकर अन्यों का निषेध करने वाले ये दूषित नय हैं। 'स्यात्' पद का प्रयोग कर तत्त्व की समीचीन सिद्धि संभव है। जैसे राम पति भी थे, पुत्र भी थे, पिता भी थे, भाई भी थे इत्यादि। यह स्यात् पद सहित सापेक्ष कथन करने वाले अनेकांत के ज्ञान को प्रमाण, वस्तु के एक धर्म के जानने वाले को नय कहा जाता है।

जैसे सप्तभंगी के विषय में आचार्यों ने कहा है उसी प्रकार दुर्नय सप्तभंगी का भी कथन किया गया है–

अत्थेव णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं तहेव पुण तिदयं।
तह सिय णयणिरवेक्खं जाणसु दव्वे दुणयभंगी॥258॥ ण.च.

स्यात् पद तथा नय निरपेक्ष वस्तु अस्ति ही है, नास्ति ही है, उभय रूप ही है, अवक्तव्य ही है, अस्ति अवक्तव्य ही है, नास्ति अवक्तव्य ही है, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है यह दुर्नयभंगी जानना चाहिए।

ये दुर्नय, दूषित नय, नयाभास संसार में भ्रमित कराने वाले होने से सर्वथा त्याज्य हैं। आत्म कल्याण के इच्छुक महानुभावों को सम्यक् नयों, अनेकांत का आश्रय लेना श्रेयस्कर है।

एकांत दुर्नय क्यों?

तत्कथम्॥126॥

अर्थ—वह किस प्रकार?

विशेषार्थ—दुर्नय समीचीन वा सम्यक् कथन करने वाले नहीं होते। इस प्रकार कहने पर आचार्य स्वयं प्रश्न करते हैं कि किस प्रकार ऐसा होता है, तब आगामी सूत्रों में उनका उत्तर निहित है—

संकरादि 8 दोष कथन

तथाहि—सर्वथैकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था संकरादिदोषत्वात्॥127॥

अर्थ—संकरादि दोषों से दूषित होने के कारण सर्वथा एकान्त के मानने पर सद्रूप पदार्थ की नियत व्यवस्था नहीं होती।

विशेषार्थ—मिथ्या एकांत नय दुर्नय कहा जाता है। अनेकांत के ज्ञान को प्रमाण वस्तु के एक धर्म के जानने को नय और अन्य धर्मों के निराकरण करने वाले ज्ञान को दुर्नय कहते हैं। यह वस्तु तत्त्व के स्वरूप को जानने में असमर्थ होता है। णयचक्को में कहा भी है—

सव्वे वि य एयंते दव्वसहावा विदूसिया होंति।
दुट्ठे ताण य हेऊ सिज्झइ संसार-मोक्खं वा॥55॥

सभी एकांत मतों में द्रव्य का स्वभाव दूषित होता है और उसके दूषित होने पर संसार और मोक्ष एवं उनके कारणों की प्रक्रिया नहीं बनती।

यहाँ संकरादि दोषों का कथन किया। ये संकरादि दोष आठ प्रकार के होते हैं—

संकर, व्यतिकर, विरोध, वैयाधिकरण, अनवस्था, संशय, अप्रतिपत्ति, अभाव।

1. संकर दोष—सब वस्तुओं का मिलकर एक रूप हो जाना संकर दोष है। प्रमेयरत्नमाला में कहा है कि जिस रूप से भेद है, उस रूप से भेद भी है अभेद भी है अतः संकरदोष प्राप्त होता है।[1]

2. व्यतिकर दोष—जिस वस्तु की किसी भी प्रकार से स्थिति न हो, वह व्यतिकर दोष है। जैसे—चक्षु से सुना अथवा जिस अपेक्षा से भेद है, उसी अपेक्षा से अभेद है और जिस अपेक्षा से अभेद है उसी अपेक्षा से भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है।[2]

---

1. येन रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति संकरः।
2. येन भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः।

3. विरोध दोष—जड़ का चेतन या चेतन का जड़ हो जाना। जड़ व चेतन में परस्पर विरोध है अथवा भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेध स्वरूप हैं इसलिए उनका एक अभिन्न वस्तु में रहना असंभव है जैसे कि शीत और ऊष्ण स्पर्श का एक साथ एक वस्तु में रहना असंभव है। इस प्रकार जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक मानने पर विरोध दोष आता है।[3]

4. वैयाधिकरण दोष—एक समय में अनेक वस्तुओं में विषम अर्थात् परस्पर विरुद्ध पर्यायें रह सकती हैं। जैसे शीत व ऊष्ण पर्यायें भिन्न-भिन्न वस्तुओं में तो रह सकती हैं यथा जल में शीतलता और अग्नि में ऊष्णता। किन्तु इन दोनों परस्पर विरुद्ध अर्थात् विषम पर्यायों को एक ही समय में एक के आधार कहना वैयाधिकरण दोष है अथवा भेद का आधार अन्य है और अभेद का आधार अन्य है इसलिए इन दोनों का एक आधार मानने से वैयाधिकरण दोष आता है।[4]

5. अनवस्था दोष—एक से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की उत्पत्ति—इस प्रकार कहीं पर भी ठहराव नहीं होना अनवस्था दोष है। जैसे कहा कि इस संसार का कर्त्ता ईश्वर है तब उस ईश्वर का कर्त्ता कौन होगा। जो ईश्वर का कर्त्ता होगा उसका भी कोई कर्त्ता होगा, पुनः उसका भी कोई कर्त्ता होगा इस प्रकार कल्पनाओं का कहीं विराम नहीं होना अनवस्था दोष है। जिस स्वरूप को मुख्य करके भेद कहा जाता है और जिस स्वरूप का आश्रय लेकर अभेद कहा जाता है वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। पुनः उनमें भी भेद, अभेद की कल्पना से अनवस्था दोष प्राप्त होता है।[5]

6. संशय दोष—वर्तमान में निश्चय न कर सकना संशय है। विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं जैसे यह सीप है या चांदी। वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने पर उसका असाधारण आकार से निश्चय नहीं किया जा सकता, अतः संशय दोष आता है।[6]

---

3. भेदाभेदयोर्विधिनिषेधयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसंभवः शीतोष्णस्पर्शयोर्वेति।
4. भेदस्यान्यदधिकरणमभेदस्य चान्यदिति वैयाधिकरण्यम्।
5. यमात्मान पुरोधाय भेदो य च समाश्रित्याभेदः, तावात्मनौ भिन्नौ चाभिन्नौ च। तत्रापि तथापरिकल्पनादनवस्था।
6. भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्ते संशयः।

7. अप्रतिपत्ति दोष–वस्तु स्वरूप की अज्ञानता अप्रतिपत्ति दोष है अथवा संशय होने से उसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता अतः अप्रतिपत्ति दोष आता है।[7]

8. अभाव दोष–जिस वस्तु का सर्वथा अभाव हो उसको कहना अभाव दोष है जैसे–गधे के सींग। ठीक प्रतिपत्ति के न होने से अभाव नामक दोष भी आता है।[8]

निरपेक्ष एकांत में ये आठों दोष संभव हैं किन्तु सापेक्ष अनेकांत दृष्टि वाले स्याद्वादियों के मत में उक्त आठ दोष संभव नहीं हैं। यदि निरपेक्ष एकांत दृष्टि से कथन किया जाए तो द्रव्यादि की नियत व्यवस्था नहीं बन सकेगी। यदि पदार्थ को मात्र एकांत से सत् रूप ही स्वीकार किया जाए तो किसी वस्तु या कार्यादि की उत्पत्ति नहीं होगी। पूर्व आकार के त्याग और उत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम ही परिणाम है। यदि सर्वदा सत् ही मानेंगे तो पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होगी, परिणमन नहीं होने से सब कूटस्थ हो जाएगा।

सर्वथा वस्तु को सत् ही मानने पर वह स्वद्रव्य की अपेक्षा के समान परद्रव्य की अपेक्षा से भी सत् हो तो चेतन-अचेतन आदि में कोई भेद नहीं होगा। घट-पट और पट-घट रूप हो जाएगा। इस प्रकार किसी द्रव्य का सद्भाव नहीं रहेगा।

तब सकल शून्यता का प्रसंग प्राप्त होगा। संसार-मोक्षादि व्यवस्था के लिए एकान्तवाद का त्याग करना ही पड़ता है।

एकांत से असद्रूप मानने में दोष

तथा सद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगात्॥128॥

अर्थ–यदि सर्वथा एकान्त से असद्रूप माना जाए तो सकल शून्यता का प्रसंग आ जाएगा।

विशेषार्थ–यदि सर्वथा, एकांत से असत् रूप मान लिया जाए तो असत् न द्रव्य होता, न गुण होते और न पर्याय ही होती। संसार में कुछ भी शेष नहीं रहेगा, लोक कुछ भी नहीं होगा।

सर्वथा असत् रूप मानने पर संपूर्ण पदार्थ आकाश पुष्प के समान असत् रूप ही हो जाएँगे, सबके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। सभी का स्वरूप से भी अभाव मानना होगा जिससे सकल शून्यता का प्रसंग प्राप्त होगा।

---

7. ततश्चाप्रतिपति।
8. ततोऽभावः। –प्र.र.

यद्यपि परचतुष्टय की अपेक्षा से वही द्रव्य असत् रूप है और स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्‌रूप है। यहाँ पर इस प्रकार का सापेक्ष कथन है, सम्यक् एकांत है। जितने भी कथन निरपेक्ष होते हैं वे मिथ्या नय होते हैं। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥15॥ आ.मी.

स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को सत् कौन नहीं मानेगा और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को असत् कौन नहीं मानेगा?

यदि वस्तु पररूपादि की अपेक्षा की तरह स्वद्रव्यादि से भी असत् हो तो सब तत्त्व शून्य हो जाएँगे, जगत् में किसी तत्त्व का सद्भाव नहीं रहेगा। इसी प्रकार, यदि वस्तु परक्षेत्र के समान स्वक्षेत्र की अपेक्षा से भी असत् हो तो वस्तु क्षेत्र रहित हो जाएगी, परकाल के समान स्वकाल की अपेक्षा से असत् हो तो वस्तु काल रहित हो जाएगी तथा परभाव के समान स्वभाव की अपेक्षा से भी असत् हो तो वस्तु स्वभाव रहित हो जाएगी।

अत: यहाँ एकांत रूप से असत् मानने पर सर्व शून्यत्व होता है।

नित्य ही मानने में दोष

नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः॥129॥

अर्थ–सर्वथा नित्य रूप मानने पर पदार्थ एक रूप हो जाएगा। एक रूप होने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–यदि द्रव्य को सदा नित्य मान लिया जाए तो उसमें मात्र ध्रुवत्व सिद्ध होगा, पर्याय सिद्ध नहीं होंगी। उसमें वस्तुत्व गुण का अभाव हो जाएगा। प्रत्येक वस्तु अर्थक्रियाकारित्व होती है। किसी वस्तु का प्रयोजन अर्थक्रिया कहलाती है। जैसे घट का प्रयोजन पानी धारण करना, ज्ञान का जानना इत्यादि। यदि अर्थक्रियाकारित्व न हो तो वस्तु भी नहीं होगी। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में वस्तु का ही अभाव होगा और द्रव्य के अभाव में लोक के अभाव का अर्थात् सकल शून्यत्व का प्रसंग प्राप्त होगा।

द्रव्य को एकांतत: नित्य नहीं कहा जा सकता। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वह अनित्य भी होता है। यदि सर्वथा नित्य मानेंगे तो सब पदार्थ जैसे के तैसे ही रहेंगे, उनमें कोई

परिवर्तन नहीं होगा। जब परिवर्तन नहीं होगा तो बंध, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। देवागम स्तोत्र में प्रतिपादित है–

पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बंधमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः।।40।।

हे भगवन्! जिनके आप नायक नहीं हैं उन नित्यत्वैकान्तवादियों के मत में पुण्य-पाप की क्रिया, परलोक गमन, सुखादि फल, बंध और मोक्ष ये सब नहीं बन सकते।

अतः नित्यत्वैकान्त से अर्थक्रियादि के अभाव में सकल शून्यत्व का प्रसंग प्राप्त होगा।

अनित्य ही मानने में दोष

अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाभावः। अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः।।130।।

अर्थ–सर्वथा अनित्य पक्ष में भी निरन्वय अर्थात् निर्द्रव्यत्व होने से अर्थ क्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा और अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–यदि द्रव्य को एकांततः अनित्य ही मान लिया जाए तो ध्रौव्य नामक कोई चीज नहीं होगी। ध्रौव्यपने का अभाव होने से गुणों का भी अभाव हो जाएगा और गुणों का अभाव होने से पर्याय नहीं होंगी। जब ध्रौव्य, गुण, पर्याय सब अभाव रूप होंगे तो द्रव्य भी नहीं रहेगा। निरन्वय अर्थात् अन्वय रहित।

प्रत्येक द्रव्य में गुण व पर्याय होती हैं अथवा गुण-पर्यायों का समूह द्रव्य है। द्रव्य में गुण ध्रौव्य रूप से रहते हैं और पर्यायों का उत्पाद-व्यय होता है। अतः पर्याय अनित्य होती हैं। यदि पर्याय की अपेक्षा द्रव्य को एकांततः अनित्य ही मान लिया जाएगा तो द्रव्य का ही अभाव प्राप्त होता अर्थात् पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाले द्रव्य का अभाव हो जाएगा। द्रव्य के अभाव में सकलशून्यत्व का प्रसंग उपस्थित होगा। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी द्रव्य को क्षणिक या अनित्य मानने वाले बौद्ध मत का निरासन करते हुए कहते हैं–

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभः कुतः फलं।।

क्षणिकैकान्त पक्ष में भी प्रेत्यभाव आदि संभव नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्य का आरंभ भी संभव नहीं है और कार्य के अभाव में उसका फल कैसे संभव हो सकता है?

सर्वथा अनित्य पक्ष के ही स्वीकार करने पर द्रव्य की सत्ता का अभाव हो जाएगा, गुणों का अभाव हो जाएगा। मात्र पर्याय ही शेष रहेंगी जो द्रव्य व गुण के बिना नहीं हो सकती। जैसे बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं उसी प्रकार द्रव्य-गुण के बिना पर्यायें संभव नहीं हैं।

द्रव्य और गुणों का परिणमन ही पर्याय है। द्रव्य व गुण कभी नष्ट नहीं होते। हाँ! इनकी पर्याय अवश्य बदलती रहती हैं। द्रव्य के एकांततः अनित्य मानने पर लोक के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

अतः द्रव्य कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य है।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी आप्तमीमांसा नामक ग्रंथ में प्ररूपित करते हैं–

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः॥56॥

प्रत्यभिज्ञान का विषय होने के कारण तत्त्व कथंचित् नित्य है। प्रत्यभिज्ञान का सद्भाव बिना किसी कारण के नहीं होता है क्योंकि अविच्छेद रूप से वह अनुभव में आता है। हे भगवन्! आपके अनेकान्त मत में काल भेद होने से तत्त्व में बुद्धि का संचार नहीं हो सकता।

सर्वथा नित्य पदार्थ में कोई स्वभाव भेद नहीं हो सकता और स्वभाव भेद न होने से पूर्व व उत्तर पर्यायों की प्राप्ति भी नहीं हो सकती अतः पदार्थ को कथंचित् नित्य मानना आवश्यक है। इसी प्रकार उसमें कथंचित् क्षणिकत्व, अनित्यपना स्वीकार करना भी आवश्यक है।

भगवज्जिनसेनाचार्य श्री आदिपुराण में प्ररूपित करते हैं कि जीव तत्त्व को नित्य व अनित्य दोनों ही रूप से मानने वाले स्याद्वादी लोगों के मत में ही ध्यान की सिद्धि हो सकती है अन्य एकान्तवादी लोगों के मत में नहीं हो सकती। कदाचित् यहाँ कोई कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मों का आधार नहीं हो सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नहीं हो सकता तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि विवक्षा के भेद से वैसा कहने में कोई विरोध नहीं आता। यदि एक ही विवक्षा से दोनों विरुद्ध धर्म कहे जाते तो अवश्य ही विरोध आता परंतु यहाँ अनेक विवक्षाओं से अनेक धर्म कहे जाते हैं इसलिए कोई विरोध मालूम नहीं होता। जीव तत्त्व द्रव्य की विवक्षा से नित्य है न कि पर्याय के भेदों की विवक्षा से। इस प्रकार वही जीव तत्त्व पर्यायों के उत्पाद और विनाश की अपेक्षा अनित्य है न कि द्रव्य की

अपेक्षा से। जिस प्रकार एक ही देवदत्त विवक्षा के वश से पिता और पुत्र दोनों ही रूप होता है उसी प्रकार एक ही वस्तु विवक्षा के वश से नित्य तथा अनित्य दोनों रूप ही होती है। देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

सर्वथा एक पक्ष में दोष

एकस्वरूपस्यैकान्तेन विशेषाभावः सर्वथैकरूपत्वात्। विशेषाभावे सामान्य-स्याप्यभावः॥131॥

अर्थ—एकांत से एक रूप मानने पर, सर्वथा एकरूप मानने पर, सर्वथा एकरूपता होने से विशेष का अभाव हो जाएगा और विशेष का अभाव होने पर सामान्य का भी अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ—वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। सामान्य का अर्थ द्रव्य और 'विशेष' का अर्थ पर्याय है। जैसे—शिशु, युवा, प्रौढ़, वृद्धादि पर्यायें अथवा नर, नारकादि। इन पर्यायोंमें अन्वय रूप से रहने वाला जीव द्रव्य सामान्य है। द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। द्रव्य को एकांततः एकरूप मानने पर विशेष अर्थात् पर्यायों का अभाव हो जाएगा और विशेष (पर्याय) के अभाव में सामान्य का भी अभाव हो जाएगा। सामान्य-विशेष के अभाव में वस्तु का भी अभाव हो जाएगा तब एकांत से एक रूप मानने पर सकल शून्यत्व का प्रसंग प्राप्त होता है।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहित्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥9॥

अर्थ—विशेष रहित सामान्य निश्चय से गधे के सींग के समान है और सामान्य से रहित होने के कारण विशेष भी गधे के सींग के समान है अर्थात् अवस्तु है ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य नहीं होता। कई बार गुणों की अपेक्षा सजातीय में सामान्य व विजातीय में विशेष प्राप्त होता है। जो द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ या वस्तु सामान्य है वह विशेष भी होगी और जो विशेष है वह सामान्य भी होगी। जैसे जीव का चैतन्य गुण। सर्व जीव द्रव्य की अपेक्षा देखें तो यह सामान्य हैं एवं पुद्‌गलादि की अपेक्षा देखें तो विशेष है।

प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से सामान्य व किसी अपेक्षा से विशेष होती है। कोई वस्तु सामान्य ही हो, विशेष न हो यह भी संभव नहीं है और कोई वस्तु विशेष ही हो, सामान्य न हो यह भी संभव नहीं है। सामान्य और विशेष से रहित तो अवस्तु ही संभव है, वस्तु नहीं।

सर्वथा अनेक पक्ष में दोष

अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याभावो निराधारत्वात् आधाराधेयाभावाच्च॥132॥

अर्थ–सर्वथा अनेक पक्ष में भी पदार्थों (पर्यायों) का निराधार होने से तथा आधार-आधेय का अभाव होने से द्रव्य का अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–यदि एकांततः अनेक पक्ष को ही स्वीकार किया जाए तो मूल पक्ष का अभाव हो जाता है। मूल पक्ष के अभाव में अनेक पक्ष भी न ठहर सकेंगे। माना कोई फल, फूल, पत्ते, शाखा आदि अथवा बीज, अंकुर, पौधादि अनेक पक्ष को तो स्वीकार करता है किन्तु जिस वृक्ष पर ये सब हैं उस मूल पक्ष का अभाव मानता है तो फलादि का अभाव स्वयं सिद्ध होता है और बीज-अंकुर वा फल-शाखा आदि के अभाव में वृक्ष का अभाव भी स्वयं सिद्ध है। देव, मनुष्यादि अनेक पक्ष आधेय को स्वीकार तो करता है किन्तु एक पक्ष आधार रूप आत्मा को स्वीकार नहीं करता तो आत्मा के नहीं होने पर देवादि पर्याय किस प्रकार संभव है और देवादि पर्याय से रहित आत्मा किस प्रकार संभव है। पर्याय द्रव्य पर आधारित है। अनेक पक्ष अर्थात् आधेय रूप पर्याय का अभाव होने पर आधार रूप द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा और द्रव्य के अभाव में सकल शून्यता का प्रसंग प्राप्त होता है।

सर्वथा भेदपक्ष में दोष

भेदपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावः। अर्थक्रिया-कारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः॥133॥

अर्थ–सर्वथा भेद पक्ष में विशेष स्वभाव के निराधार हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी का सर्वथा भेद मानने पर इनकी सत्ता अलग-अलग हो जाएगी। जैसे ज्ञान गुण है व आत्मा गुणी है। इन दोनों को प्रदेश की अपेक्षा यदि अलग-अलग स्वीकार किया जाए तो आत्मा से पृथक् ज्ञान और ज्ञान से पृथक् आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। आत्मा पर्यायी और मनुष्य पर्याय है, प्रदेश भेद से इनकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है।

भेद पक्ष में दूषण देते हुए आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं–

देशकालविशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युत सिद्धवत्।
समानदेशता न स्यात् मूर्तकारणकार्ययोः॥63॥

यदि अवयव-अवयवी, कार्य-कारण आदि एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं तो पृथक्सिद्ध पदार्थों की तरह भिन्न देश व भिन्न काल में उनकी स्थिति माननी पड़ेगी क्योंकि मूर्त्त कारण और कार्य में समानदेशता नहीं बन सकती है।

गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी आदि के भेद रूप ही स्वीकार करने पर गुण और पर्याय निराधार हो जाएँगे अर्थात् द्रव्य के आधार नहीं रहेंगे।

आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी ने कहा भी है–**'न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा कश्चिदपि स्यात्। यथा सुवर्णात्पृथग्भूत तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलादिकत्वमिति वा।'**

निश्चय नय से द्रव्य से पृथग्भूत कोई भी गुण या पर्याय नहीं होती। जैसे स्वर्ण का पीलापन गुण तथा कुण्डलादि पर्यायें स्वर्ण से पृथक्भूत नहीं होती।

गुण और पर्याय विशेष स्वभावों के निराधार हो जाने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव हो जाने पर द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा। द्रव्य के अभाव हो जाने पर सकल शून्यता प्राप्त होगी।

सर्वथा अभेद पक्ष में दोष

अभेदपक्षेऽपि सर्वेषामेकत्वम्, सर्वेषामेकत्वेऽर्थक्रियाकारित्वाभावः, अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः॥134॥

अर्थ–सर्वथा अभेद पक्ष में संपूर्ण पदार्थ एकरूप हो जाएंगे। संपूर्ण पदार्थों के एकरूप हो जाने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायेगा और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–यदि गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी सर्वथा अभेद रूप ही माने जाऐं तो संपूर्ण पदार्थ एक रूप हो जाएँगे। जैसे–एकांत से स्पर्श गुण ही पुद्गल है (अर्थात् गुण-गुणी को एक मानें) ऐसा कहा जाए तब, स्पर्श गुण वाला ही पुद्गल होगा और तब वर्ण, रस, गंधादि का अभाव प्राप्त होगा। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त ही पुद्गल है। मात्र एक गुण से युक्त पुद्गल नहीं होता। अतः वर्ण, रसादि के अभाव में पुद्गल का अभाव सिद्ध होता है। पुद्गल

के अभाव में स्पर्शादि गुणों का भी अभाव हो जाएगा। इस प्रकार सर्वथा अभेद पक्ष में संपूर्ण वस्तुओं के एक रूप होने का प्रसंग प्राप्त होगा जिससे अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होगा और उसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव होगा। आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने कहा है–

'यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तद ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्त सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति। तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माऽभाव, आत्मनः आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभाव, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः।

यदि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाए तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त होगा, फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नहीं रहेगा तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जाएगा। जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया, तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया। इस प्रकार अभेद एकांत मत में ज्ञान गुण और आत्मद्रव्य दोनों का ही अभाव हो जाएगा।

अतः अभेद एकांत मत में गुण व द्रव्य दोनों का अभाव प्राप्त होगा। इनके अभाव में सकलशून्यत्व होगा।

एकांततया भव्य पक्ष में दोष

भव्यस्यैकान्तेन पारिणामिकत्वात् द्रव्यस्य द्रव्यान्तरत्व-प्रसंगात्, संकरादिदोष संभवात्॥135॥

अर्थ–एकांत से सर्वथा भव्य स्वभाव के मानने पर द्रव्य के द्रव्यान्तर का प्रसंग आ जाएगा क्योंकि द्रव्य परिणामी होने के कारण पर द्रव्यरूप भी परिणम जाएगा। इस प्रकार संकरादि दोष संभव है।

विशेषार्थ–भव्य का अर्थ है–होने योग्य तथा अभव्य का अर्थ है–नहीं होने योग्य। द्रव्य सदैव परिणमनशील है। प्रतिक्षण पर्याय उत्पन्न व विनष्ट होती हैं। नव-नव पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है। यह उसके भव्य स्वभाव के कारण है। इसी स्वभाव से द्रव्य अपनी आगामी पर्यायों को प्राप्त करता है। द्रव्य में अभव्य स्वभाव भी होता है, जिससे एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप परिणमन के योग्य नहीं होता। जीव, पुद्गल नहीं होता, धर्म-अधर्म नहीं होता, आकाश-काल नहीं होता। यदि एकांततः भव्य स्वभाव ही स्वीकार किया जाए, अभव्य स्वभाव स्वीकार नहीं किया जाए तो द्रव्य के अन्य द्रव्य रूप होने का प्रसंग प्राप्त होगा। जीव,

पुद्गलादि रूप प्राप्त होगा, सर्व एक रूप हो जाएगा, जिससे अर्थक्रियाकारित्व के अभाव से सकल शून्यत्व होगा।

एकांततः अभव्य पक्ष में दोष

सर्वथाऽभव्यस्यैकान्तेऽपि तथा शून्यताप्रसंगात् स्वरूपेणाप्यभवनात्।।136।।

अर्थ–एकांत से सर्वथा अभव्य स्वभाव के मानने पर शून्यता का प्रसंग आ जाएगा क्योंकि स्वस्वरूप से भी वह नहीं हो सकेगा।

विशेषार्थ–यदि द्रव्य के सर्वथा अभव्य स्वभाव ही माना जाएगा तो द्रव्य में परिणमन का अभाव हो जाएगा, वह निज पर्यायों को प्राप्त नहीं कर सकेगा। पर्यायों के नहीं होने पर द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा क्योंकि गुण-पर्यायों का समूह ही तो द्रव्य कहलाता है और द्रव्य के अभाव में सर्व शून्य हो जाएगा।

एकांततः सर्वथा रूप मानने में दोष

स्वभावस्वरूपस्यैकान्तेन संसाराभावः।।137।।

अर्थ–एकांत से सर्वथा स्वभावस्वरूप माना जाए तो संसार का ही अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य सदा स्वभाव में ही रहते हैं। जीव और पुद्गल विभाव व स्वभाव दोनों रूप होते हैं। जीव जब कर्मों से बद्ध होता है, तब वह विभाव रूप होता है व तभी संसार में परिभ्रमण करता है। स्वभाव रूप जीव अर्थात् सिद्ध तो लोकाग्र पर विद्यमान होते हैं। इसी प्रकार पुद्गल जब परमाणु रूप होता है तब स्वभाव रूप होता है। स्कंध पुद्गल की विभावावस्था है। यदि एकांततः स्वभाव रूप ही माना जाए तो संसार में दृश्यमान वस्तुओं व जीवादि का अभाव हो जाएगा अर्थात् संसार का ही अभाव प्राप्त होगा जिससे सर्वशून्य हो जाएगा।

एकांततः विभाव पक्ष में दोष

विभावपक्षेऽपि मोक्षस्याप्यभावः।।138।।

अर्थ–सर्वथा विभाव पक्ष के मानने पर मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–कर्म से बद्ध जीव विभाव से युक्त है। विभाव से युक्त जीव संसार में परिभ्रमण करता है और जब सब कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है तब जीव की वह

स्वभावावस्था है। यदि एकांततः विभाव पक्ष ही माना जाएगा तो जीव कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाएगा। सर्वथा विभाव पक्ष मानने पर मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा।

यदि पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा देखें तो परमाणु पुद्गल की स्वभावावस्था है। सर्वथा विभाव पक्ष स्वीकार करने पर परमाणु का ही अभाव हो जाएगा। तब उससे निर्मित होने वाले स्कंध अर्थात् वस्तुओं का ही अभाव हो जाएगा। जिससे सर्व शून्य हो जाएगा।

सर्वथा चैतन्य पक्ष में दोष

सर्वथा चैतन्यमेवेत्युक्ते सर्वेषां शुद्धज्ञानचैतन्यावाप्ति स्यात् तथा सति ध्यानं ध्येयः ज्ञानं ज्ञेयः गुरुशिष्याद्याभावः॥139॥

अर्थ–सर्वथा चैतन्य पक्ष के मानने पर सब जीवों के शुद्ध ज्ञान रूप चैतन्य की प्राप्ति हो जाएगी। शुद्धज्ञानरूप चैतन्य की प्राप्ति हो जाने पर ध्यान, ध्येय, ज्ञान, ज्ञेय, गुरु, शिष्य आदि का अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–चैतन्य गुण जीव की अपेक्षा सामान्य गुण है एवं सभी द्रव्यों की अपेक्षा विशेष गुण है। यदि एकांत से चैतन्य पक्ष ही स्वीकार किया जाए तो सभी द्रव्यों के चैतन्य होने का प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि असंभव है। सभी जीवों के शुद्ध ज्ञान रूप चैतन्य होने पर सभी जीव शुद्ध सिद्ध होंगे। ज्ञान को आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्म का अभाव ही सिद्ध हो जाएगा क्योंकि एकांततः जीव को शुद्ध ज्ञान रूप चैतन्य स्वीकार किया है। जीव विभावावस्था में रहेगा ही नहीं, स्वभाव में ही बना रहेगा तब संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा।

यदि सभी जीव शुद्ध ज्ञान रूप चैतन्य से युक्त माने जाएँगे तो ध्यान-ध्येय, ज्ञान-ज्ञेय, गुरु-शिष्य आदि के संबंध का अभाव प्राप्त हो जाएगा। सर्व सिद्ध गुणापेक्षया समान हैं, अनंत ज्ञानादि से युक्त हैं तब ध्यान-ध्येय का संबंध कैसे रहेगा क्योंकि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए ध्यान की आवश्यकता होती है सिद्ध व्यवहार से परज्ञता व परदर्शकत्व से युक्त किन्तु निश्चय से आत्मज्ञ व स्वात्मदर्शक हैं तब उनमें ज्ञान-ज्ञेय का संबंध भी कैसे होगा? एतावता गुरु-शिष्यादि के संबंध का अभाव मानना पड़ेगा। किन्तु यह सब संभव नहीं है।

इस प्रकार सर्वथा चैतन्य पक्ष के मानने पर सर्व व्यवस्थाएँ बिगड़ जाती हैं। अतः ऐसा मानना मिथ्या है। शुद्ध चैतन्य शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से माना जाता है अन्य अपेक्षा से नहीं। शुद्ध निश्चय नय को छोड़कर यदि अन्य किसी अपेक्षा से आत्मा को शुद्ध माना जाता

है तो भी वह मिथ्या है और सर्वथा माना जाता है तब भी वह मिथ्या है। इसलिए सम्यक् कथन करने वाले आचार्य कह रहे हैं कि सर्वथा एकांत से किसी एक पक्ष को स्वीकार करने पर बहुत से दोष उत्पन्न हो जाएँगे।

सर्वथा शब्द किसका वाची है

सर्वथाशब्द सर्वप्रकारवाची, अथवा सर्वकालवाची, अथवा नियमवाची वा, अनेकान्तसापेक्षी वा? यदि सर्वप्रकारवाची सर्वकालवाची अनेकान्तवाची वा, सर्वादिगणे पठनात् सर्वशब्द, एवं विधश्चेत्तर्हि सिद्धं न समीहितम्। अथवा नियमवाची चेत्तर्हि सकलार्थानां तव प्रतीति कथं स्यात्? नित्य अनित्य एक अनेकः भेद अभेदः कथं प्रतीति स्यात् नियमितपक्षत्वात्? ॥140॥

अर्थ—सर्वथा शब्द सर्वप्रकारवाची है अथवा सर्वकालवाची है अथवा नियमवाची है अथवा अनेकांतवाची है? यदि सर्व-आदि गण में पाठ होने से सर्वथा शब्द सर्वप्रकार वाची सर्वकालवाची अथवा अनेकांतवाची है तो हमारा समीहित अर्थात् इष्टसिद्धांत सिद्ध हो गया। यदि सर्वथा शब्द नियमवाची है तो फिर नियमित पक्ष होने के कारण संपूर्ण अर्थों की अर्थात् नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि रूप संपूर्ण पदार्थों की प्रतीति कैसे होगी? अर्थात् नहीं हो सकेगी।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्र में सर्वथा शब्द का प्रयोग किया गया है। उस शब्द के लिए यहाँ कह रहे हैं कि वह सर्वप्रकारवाची है, सर्वकालवाची, है, नियमवाची है या अनेकांतवाची है। यदि सर्वकालवाची मानते हैं तो ठीक है, सर्वकाल की अपेक्षा से जीव शुद्ध होता है, कोई न कोई काल में शुद्ध होगा। यदि सर्वप्रकारवाची मानते हैं तब भी उचित है क्योंकि संसार में सब प्रकार के जीव हैं। यदि अनेकांतवाची मानते हैं तब भी उचित है क्योंकि जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है। किन्तु यदि नियमवाची मानते हैं कि जीव शुद्ध ही है तब जीव अशुद्ध नहीं हो सकेगा, संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। सर्वथा नित्य है तो अनित्य नहीं हो सकेगा, सर्वथा अनित्य है तो नित्य नहीं हो सकेगा, सर्वथा एक है तो अनेकरूप नहीं हो सकेगा व सर्वथा अनेक है तो एकरूप नहीं हो सकेगा। सर्वथा भेद है तो अभेद नहीं, सर्वथा अभेद है तो भेद नहीं इत्यादि बहुत से दोष प्राप्त होंगे। अतः सर्वथा शब्द का प्रयोग यदि नियमवाची के रूप में करते हैं तो प्रत्येक कथन मिथ्या ही सिद्ध होगा।

जो परमतानुयायी सर्वथा शब्द का अर्थ 'नियम' करते हैं उनका वह प्रयोग मिथ्या है। कहा भी है–

परसमयाणं वयणं, मिच्छ खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाण पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।। (गो. क.)

मिथ्यामतियों का वचन 'सर्वथा' कहने से नियम से मिथ्या अर्थात् असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' का प्रयोग होने से सम्यक् हैं अर्थात् सत्य हैं।

अतः सर्वथा का प्रयोग यदि नियम के रूप में किया जाए तो वह नियम से मिथ्या है। द्रव्य को सर्वथा नित्य या अनित्य, सर्वथा भेद या अभेद आदि नहीं कह सकते।

निरपेक्ष नय सर्वथा शब्द से युक्त हो करके मिथ्या नयों की पुष्टि करने वाला होता है। वह तत्त्वबोध को नष्ट कर अज्ञान के दलदल में फँसाने वाला होता है, दुर्गति में ले जाने वाला होता है। अतः कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को दुर्नयों का सहारा कभी नहीं लेना चाहिए। जिस प्रकार अत्यंत भूखा व्यक्ति भी विष खाकर के अपना पेट नहीं भरता उसी प्रकार आत्म कल्याण का इच्छुक दुर्नयों का सहारा लेकर के अपना कल्याण नहीं करना चाहता। भूखा व्यक्ति भूखा तो रह सकता है, किन्तु जहर खाकर मरना नहीं चाहेगा। वैसे ही मिथ्याज्ञान के गर्त में पड़ने से अच्छा अज्ञानी बने रहना है। वर्तमान काल में कुछ एकांतवादी मिथ्यानयों का सहारा लेकर आत्मा या तत्त्व की सिद्धि करना चाहते हैं वे स्वयं को मिथ्याज्ञान के समुद्र में डुबा रहे हैं, वे सूर्य के अस्त होने पर या दीपक को बुझाकर प्रकाश चाहते हैं, वे अग्नि कुंड में कूदकर शांति चाहते हैं, वे जहर को पीकर अमृत प्राप्त करना चाहते हैं। यह निश्चय से मूर्खों की चेष्टा है। अतः सम्यग्ज्ञानी व्यक्ति को एकांत का सहारा नहीं लेना चाहिए यहाँ तक की एकांतवादियों की संगति भी नहीं करना चाहिए, एकांतवादियों के शास्त्रों को भी नहीं पढ़ना चाहिए।

जैसे प्याज के खेत में रखे वस्त्र में से दुर्गंध आनी प्रारंभ हो जाती है, वह वस्त्र अपनी किंचित् सुगंध को खो देता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के अंश से युक्त भी एकांतवादियों की संगति में पहुँचता है तो उसका वह सम्यग्ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

अज्ञानियों या मिथ्याज्ञानियों के गुरु होने से सम्यग्ज्ञानी का शिष्य बनना श्रेष्ठ है। मूर्खों के सिर पर बैठने वाला अधोगति का व सम्यग्ज्ञानी के चरणों में बैठने वाला देवगति का व परम्परा से मुक्ति का पात्र भी बन जाता है। अतः व्यक्ति को सम्यक् नय का ही आश्रय लेना चाहिए।

कुछ लोग एकांतवाद के आग्रह को नहीं छोड़कर स्वयं अपना अकल्याण तो कर ही रहे हैं, साथ में अन्य लोगों का भी अहित कर रहे हैं। वस्तुतत्त्व को ठीक-ठीक न समझने के कारण एकांतवादियों को सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है और सम्यग्ज्ञान के अभाव में संसार के परिभ्रमण से छूटना असंभव है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी श्री देवागम स्तोत्र में कहते हैं–

कुशला कुशलं कर्मं परलोकश्च न क्वचित्।
एकांतग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु॥8॥

जो वस्तु के अंनतधर्मों में से किसी एक ही धर्म को मानते हैं ऐसे एकांतग्रहरक्त नर अपने भी शत्रु हैं और दूसरे के भी शत्रु हैं। उनके यहाँ पुण्यकर्म एवं पापकर्म तथा परलोक आदि कुछ भी नहीं बन सकता है।

एकांतवाद में अर्थक्रिया का होना असंभव है। अर्थक्रिया के अभाव में द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा जिससे सर्व शून्य हो जाएगा। अत: अनेकांतात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाले अर्हंत एवं उसको स्वीकार करने वाले उसके अनुयायी ही स्तुत्य व श्लाघनीय हैं।

सर्वथा अचेतन पक्ष में दोष

तथाऽचैतन्यपक्षेऽपि सकलचैतन्योच्छेदः स्यात्॥141॥

अर्थ–वैसे ही सर्वथा अचेतन पक्ष के मानने पर संपूर्ण चेतन का उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि केवल अचेतन ही माना गया है।

विशेषार्थ–छह द्रव्यों में जीव द्रव्य चेतनायुक्त है एवं अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य अचेतन हैं। यदि एकांतत: अचेतन पक्ष को ही स्वीकार किया जाए तो संपूर्ण चेतनता कहीं रहेगी ही नहीं। चेतनता के अभाव में जीव का अभाव हो जाएगा जिससे सर्व शून्य हो जाएगा।

सर्वथा मूर्त पक्ष में दोष

मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो न मोक्षस्यावाप्तिः स्यात्॥142॥

अर्थ–सर्वथा एकांत से आत्मा को मूर्त्त स्वभाव के मानने पर आत्मा को कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

विशेषार्थ–संसारी जीव के कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्त्त स्वभाव जाना जाता है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने धवला जी में कहा है कि संसारावस्था में जीव के अमूर्त्तपना नहीं पाया जाता।[1] **''मुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो।''** संसारी जीव मूर्त आठ कर्मों के द्वारा अनादिकालीन बंधन से बद्ध है इसलिए यह अमूर्त नहीं हो सकता। अतः संसारी जीव के मूर्त्त स्वभाव होता है और मुक्त के अमूर्त्त। जीव में मूर्त्तत्व का कारण कर्म है अतः कर्म का अभाव होने पर तज्जनित मूर्त्तत्व का भी अभाव हो जाता है और इसलिए सिद्ध जीवों के अमूर्त्तपने की सिद्धि हो जाती है।[2] यदि जीव के एकांततः मूर्त्त स्वभाव ही माना जाए तो आत्मा से कभी कर्म नष्ट नहीं होंगे, वह अमूर्त्तिक स्वभावी सिद्धावस्था को प्राप्त न कर सकेगी अर्थात् मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। जो कि प्रत्यक्ष बाधित व असंभव है।

सर्वथा अमूर्त पक्ष में दोष

सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथात्मनः संसारविलोपः स्यात्॥143॥

अर्थ–आत्मा को सर्वथा अमूर्त्तिक मानने पर संसार का लोप हो जाएगा।

विशेषार्थ–संसार में रागद्वेष रूपी उष्णता से संयुक्त वह आत्मा रूपी दीपक योग रूप बत्ती के द्वारा कार्माण वर्गणा के स्कंधों (रूपी तेल) को ग्रहण करके फिर उन्हें कर्म रूपी कज्जल स्वरूप से परिणमाता है। ऐसा संसारी जीव मूर्त्तिक स्वभावी कहा गया है।

जो हु अमुत्तो भणिओ जीवसहावो जिणेहिं परमत्थो।
उवयरियसहावादो अचेयणो मुत्तिसंजुत्तो॥120॥ ण.च.

जिनेंद्रदेव ने जो जीव को अमूर्त्तिक कहा है, वह जीव का परमार्थ स्वभाव है। उपचरित स्वभाव से तो मूर्त्तिक और अचेतन है।

जबकि पौद्‌गलिक मूर्त्त कर्मों के नष्ट करने पर शुद्ध जीव अमूर्त्तिक स्वभावी है। यदि जीवात्मा को सर्वथा अमूर्त्तिक ही माना जाए तो वह सदा शुद्ध ही होगा, कर्मों से बद्ध नहीं होगा अर्थात् संसारी जीव का अभाव हो जाएगा। ऐसा मानने पर संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः सर्वथा रूप यह कथन दोषयुक्त है, मिथ्या है।

---

1. संसारावत्थाए जीवाणमसुत्तत्ताभावादो। –ध. 13
2. जीवस्स मुत्तत्तणिबंधणकम्माभावे तज्जणिदमुत्तत्तस्स वि तत्थ अभावेण सिद्धाणममुत्तभावसिद्धीदो॥ –ध. 13

सर्वथा एक प्रदेश मान्यता में दोष

एकप्रदेशस्यैकान्तेनाखण्डपरिपूर्णस्यात्मनोऽनेककार्यकारित्व एव हानिः स्यात्।।144।।

अर्थ–सर्वथा एक प्रदेश स्वभाव के मानने पर अखंडता से परिपूर्ण द्रव्य के अनेक क्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–अनेकांत रूप वस्तु ही नियम से अर्थक्रिया से युक्त होती है। यदि वस्तु को सर्वथा एकांत रूप स्वीकार किया जाए तो वह किंचित् भी कार्य करने में समर्थ नहीं होती उसमें क्रियाकारित्व का अभाव होगा। आचार्य श्री कार्तिकेय स्वामी ने कहा है–

जं वत्थुं अणेयतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थ-कज्जकरं दीसदे लोए।।225।।
एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण करेदि लेसमेत्तं पि।
जे पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं।।226।।

जो वस्तु अनेकांत रूप है वही नियम से कार्यकारी है, क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है। एकांत रूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता और जो कार्य नहीं करता उसे द्रव्य कैसे कहा जाए?

अनेक प्रदेश होने से वस्तु अनेककार्यकारित्व युत होती है। सर्वथा एकांत से एक प्रदेश के मानने पर अनेक प्रदेश स्वभाव का अभाव हो जाएगा। इसके अभाव से अनेक कार्य कारित्व का अभाव हो जाएगा। उसके अभाव में द्रव्य का अभाव हो जाएगा जिससे सकल शून्यता का प्रसंग प्राप्त होता।

सर्वथा अनेक प्रदेश मान्यता में दोष

सर्वथाऽनेकप्रदेशत्वेपि तथा तस्यानर्थकार्यकारित्वं स्वस्वभावशून्यताप्रसंगात्।।145।।

अर्थ–सर्वथा अनेक प्रदेशत्व मानने पर भी अखंड एकप्रदेशस्वरूप स्वभाव के अभाव होने से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाएगा।

विशेषार्थ–अखंडपने की अपेक्षा द्रव्य के 'एकप्रदेश' स्वभाव है। सर्वथा अनेक प्रदेशत्व मानने पर कालद्रव्य को भी बहुप्रदेशी स्वभाव से युक्त मानना होगा किन्तु कालद्रव्य तो एकप्रदेशी ही है अत: सर्वथा अनेक प्रदेशत्व मानने में दोष है। इसके अतिरिक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय हैं किंतु अखंड हैं।

जीव द्रव्य (एक आत्मा) असंख्यात प्रदेशी व एक अखंड है, पुद्गल एक-संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेशी है तथापि परमाणु की अपेक्षा अखंड है, धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी व अखंड है तथा आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी व अखंड है। यह अखंडता एकप्रदेश स्वभाव के कारण है। यदि सर्वथा अनेकप्रदेशी ही माना जाए तो प्रदेशों के अलग-अलग होने का, बिखरने का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। तब इनके अर्थ क्रिया का ही अभाव हो जाएगा। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का ही अभाव प्राप्त होगा जिससे सर्व शून्य हो जाएगा।

सर्वथा शुद्ध मान्यता में दोष

शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो न कर्ममलकलंकावलेपः सर्वथा निरञ्जनत्वात्॥146॥

अर्थ–एकांत से सर्वथा शुद्ध स्वभाव मानने पर आत्मा निरंजन हो जाएगी जिससे कर्म मल रूपी कलंक का अवलेप संभव नहीं होगा।

विशेषार्थ–जीव जब कर्म से युक्त होता है तब वह अशुद्ध द्रव्य जाना जाता है क्योंकि उसकी शुद्धावस्था कर्म से रहित सिद्धदशा है। यदि एकांततः आत्मा को शुद्ध माना जाए तो आत्मा के कर्मबंधादि नहीं होगा। आत्मा सदा कर्म रूपी कीचड़ से रहित ही होगी, आत्मा के सदा कर्म रहित होने से संसारी जीव का अभाव हो जाएगा। उसके अभाव में संसार का ही अभाव प्राप्त होगा अर्थात् सर्वशून्य हो जाएगा।

सर्वथा अशुद्ध पक्ष में दोष

सर्वथाऽशुद्धैकान्तेऽपि तथाऽत्मनो न कदापि शुद्धस्वभावप्रसंगः स्यात् तन्मयत्वात्॥147॥

अर्थ–एकांत से सर्वथा अशुद्ध स्वभाव के मानने पर अशुद्धमयी हो जाने से आत्मा को कभी शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी।

विशेषार्थ–यदि जीव को एकांततः अशुद्ध ही माना जाए अर्थात् कर्मयुक्त ही स्वीकार किया जाए तो आत्मा कभी कर्मों को नष्ट नहीं कर सकेगी, वह कभी अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकेगी। सर्वथा अशुद्ध स्वभाव मानने पर मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः आत्मा के कथंचित् शुद्ध स्वभाव भी है और कथंचित् अशुद्ध स्वभाव भी है। मुक्त जीवों की अपेक्षा शुद्ध स्वभावी है और संसारी जीवों की अपेक्षा अशुद्ध है।

एकांततः उपचरित स्वभाव में दोष

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता संभवति नियमितपक्षत्वात्।।148।।

अर्थ–उपचरित-स्वभाव के एकांत पक्ष में भी आत्मज्ञता संभव नहीं है क्योंकि नियत पक्ष है।

विशेषार्थ–शुद्ध आत्मा या सिद्ध जीव स्वयं को जानते व देखते हैं। वे पर को जानते हैं व देखते हैं यह कथन उपचार से है। यदि सदा एकांत से उपचरित स्वभाव ही स्वीकार किया जाए तो जीव के आत्मज्ञता व स्वदर्शकत्व नहीं बनेगा। आत्मा के स्वयं को जानने व देखने के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंदस्वामी ने नियमसार में कहा है–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।158।।

केवली भगवान् व्यवहार नय से समस्त पदार्थों को जानते हैं और देखते हैं परंतु निश्चय नय से वे आत्मस्वरूप को ही जानते और देखते हैं।

अतः एकांततः निरपेक्ष आत्मज्ञ मानने से कथन मिथ्या होगा।

एकातंतः अनुपचरित स्वभाव में दोष

तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात्।।149।।

अर्थ–उसी प्रकार अनुपचरित एकांत पक्ष में भी आत्मा के परज्ञता आदि का विरोध आ जाएगा।

विशेषार्थ–सर्वथा एकांत से अनुपचरित पक्ष ग्रहण करने पर आत्मज्ञता व स्वदर्शकत्व ही होगा क्योंकि परज्ञता व परदर्शकत्व उपचरित स्वभाव है। अतः एकांत से अनुपचरित पक्ष में परज्ञता व परदर्शकत्व का अभाव होगा जिससे सर्वज्ञता के ही अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः निरपेक्ष-मिथ्या एकांत कथन मिथ्या ही होते हैं। अतः अनेकान्तवादियों के मत में जीव के उपचरित व अनुपचरित दोनों ही स्वभावों को स्वीकार किया गया है। सापेक्ष कथन करने पर वस्तु तत्त्व का सम्यक् निर्णय संभव है।

द्रव्य अनेक स्वभाव से युक्त है। किसी भी द्रव्य में एक स्वभाव नहीं है। द्रव्य में एकांततः एक ही स्वभाव मानना मिथ्या है। मिथ्या नय या दुर्नय वस्तु तत्त्व की सिद्धि करने में असमर्थ होता है। प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण, धर्म व स्वभाव होते हैं। प्रमाण से द्रव्य के नाना स्वभावों को जान करके सापेक्ष सिद्धि के लिए स्यात् नयों को मिश्रित करना चाहिए। स्यात् नय का मिश्रण किए बिना यथार्थ तत्त्व को जानना संभव नहीं। कहा भी है–**'सियजुत्तो णयणिवहो दव्वसहावं भणेइ इह तत्थं।'** स्यात् पद से युक्त नय-समूह द्रव्य के यथार्थ स्वभाव को कहता है।

द्रव्य अनेक स्वभावी है और एक-एक नय वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण करता है। यदि एक नय के विषयभूत धर्म को ही द्रव्य का स्वभाव या वस्तु का पूर्ण धर्म स्वीकार किया जाए तो वह मिथ्या है अर्थात् अन्य निरपेक्ष नय मिथ्या है। अतः स्यात् पद से युक्त सापेक्ष-नय ही सम्यक् नय है और स्यात् पद से रहित नय मिथ्या नय है।

णयचक्को में कहा भी है–

सियसावेक्खा सम्मा मिच्छारूवा हु तेवि णिरवेक्खा।
तम्हा सियसद्दादो विसयं दोण्हं पि णादव्वं॥251॥

'स्यात्' सापेक्ष सम्यक् होते हैं और 'स्यात्' निरपेक्ष मिथ्या होते हैं। अतः स्यात् शब्द से दोनों का विषय अर्थात् हर अपेक्षा से जानना चाहिए।

जैसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र में सम्यक् पद न जोड़ा जाए तो ये मिथ्या भी हो सकता है। भोजन में लवण डाले बिना उसमें (खारापन) स्वाद व दूध में मीठा डाले बिना उसमें मिठास नहीं आ सकती इसी प्रकार नयों के साथ 'स्यात्' पद जोड़े बिना वस्तु तत्त्व को सम्यक्रूपेण नहीं जाना जा सकता। मिथ्या एकांत के साथ अपने पक्ष की पुष्टि करने वाला व्यक्ति जिनशासन से बहिर्भूत समझना चाहिए। एकांत पक्ष को ही मानने वाले व्यक्ति को स्व कषाय की मंदता के समय तत्त्व के प्रति सम्यक् निर्णय लेने अर्थात् उसे सही प्रकार से समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए। कषाय की मंदता में ही मिथ्या नय, मिथ्या पक्ष छोड़ा जा सकता है।

नय योजनिका

अर्थ–प्रमाण से नाना स्वभाव वाले द्रव्य को जान करके, सापेक्ष सिद्धि के लिए उसको कथंचित् नयों से मिश्रित अर्थात् युक्त करना चाहिए।

विशेषार्थ—सम्यक्‌रूप संपूर्ण पदार्थ को जानने वाला प्रमाण कहलाता है। अनेक धर्मात्मक पदार्थ का ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। उस पदार्थ का सापेक्ष एक अंश का ज्ञान नय कहा जाता है। वस्तु स्वरूप अनेकांत रूप से प्रतिभासित होता है अतः श्रुतज्ञान स्याद्वाद रूप है। स्याद्वाद रूप श्रुतज्ञान के द्वारा अर्थ के धर्मों को पृथक्-पृथक् रूप से या एक-एक करके जो प्रतिपादन करता है वह नय है। जैसे आम के गुणधर्मों का कथन करते हुए कहना वह वर्ण की अपेक्षा पीला, गंध की अपेक्षा सुगंधित, स्वाद की अपेक्षा मीठा इत्यादि रूप सापेक्ष कथन कर वस्तु को समीचीन रूप से जानना चाहिए।

जैसे द्रव्य ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य है व पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यहाँ सापेक्ष कथन करने से यह बात युक्तियुक्त सिद्ध है। किन्तु यदि सापेक्ष या स्यात् पद की अपेक्षा न करके कहा जाए कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है तो वह मिथ्या है क्योंकि वस्तु सर्वथा न तो नित्य है न वह सर्वथा अनित्य है। अतः साक्षेप रूप से वस्तु स्वरूप को जानना चाहिए। सापेक्ष ज्ञान के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

कहा भी है—

णियमणिसेहणसीलो णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो।
सो सियभद्दो भणिओ जो सावेक्खं पसाहेदि॥253॥ ण. च.

जो सर्वथा नियम का निषेध करने वाला है और निपात रूप से जो सिद्ध है वह 'स्यात्' शब्द कहा गया है, वह वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।

अन्य भी कहा है—

त्रिसंज्ञिकोऽयं स्याच्छब्दो युक्तोऽनेकान्तसाधकः।
निपातनात्समुद्‌भूतो विरोधध्वंसको मतः॥

यह 'स्यात्' शब्द तीन संज्ञा वाला है—अर्थात् किंचित्, कथंचित्, कथंचन। ये तीन स्याद्वाद के पर्याय शब्द हैं, जिनका अर्थ किसी अपेक्षा से होता है। अतः वह 'स्यात्' शब्द अनेकांत का साधक है—उसके बिना अनेकांत की सिद्धि नहीं हो सकती। यह विरोध का नाश करने वाला है।

सिद्धमंत्रो यथा लोके एकोऽनेकार्थदायकः।
स्याच्छब्दोऽपि तथा ज्ञेय एकोऽनेकार्थसाधकः॥

जैसे सिद्ध किया गया एक मंत्र अनेक अभीष्ट फलों को प्रदान करता है, वैसे ही एक 'स्यात्' शब्द भी अनेक अर्थ का—अनेक धर्मात्मक पदार्थ का साधक जानना चाहिए।

नय द्वारा अस्ति स्वभाव सिद्धि

स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभावः॥150॥

अर्थ—स्वद्रव्यादि ग्राहक नय से अस्ति स्वभाव है।

विशेषार्थ—नयों व स्वभावों के प्ररूपण के पश्चात् आचार्य महाराज नयानुसार द्रव्य में स्वभावों का वर्णन करते हैं। किस-किस नय की अपेक्षा किस-किस द्रव्य में कौन-कौन सा स्वभाव पाया जाता है उसका प्रतिपादन यहाँ करते हैं। यद्यपि पूर्व सूत्रों के माध्यम से इन्हें जाना जा चुका है तथापि मंदबुद्धि वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ आचार्य महाराज नयों की योजना करते हैं। संसार में सभी द्रव्यों का स्वचतुष्टय होता है।

स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी द्रव्यों के अस्ति स्वभाव है।

नास्ति स्वभाव सिद्धि

परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः॥151॥

अर्थ—परद्रव्यादि ग्राहक नय से नास्ति स्वभाव है।

विशेषार्थ—प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्ति रूप है और वही द्रव्य अन्य सभी परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति रूप है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य नास्ति स्वभाव से भी युक्त है। अतः संसार के प्रत्येक द्रव्य के परचतुष्टय या परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नास्ति स्वभाव ही होता है।

नित्य स्वभाव सिद्धि

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः॥152॥

अर्थ—उत्पाद, व्यय को गौण करके सत्ता ग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य स्वभाव है।

विशेषार्थ—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त ही द्रव्य है। उत्पाद-व्यय अर्थात् पर्याय, ध्रौव्य अर्थात् गुण। उत्पाद-व्यय को गौण करके ध्रौव्य या सत्ता को ग्रहण करने से पर्याय गौण हो जाती है जो कि अनित्य है व सत्ता (गुण) शाश्वत है। गुण कभी नष्ट नहीं होते और कभी उत्पन्न भी नहीं होते, वे नित्य हैं। एतावता उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्ता को ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है।

अनित्य स्वभाव सिद्धि

केनचित्पर्यायार्थिकेनानित्यस्वभावः॥153॥

अर्थ–किसी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य स्वभाव है।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य परिणमन से युक्त होता है। उत्पाद-व्यय पर्यायों में होता है। ये पर्यायें प्रतिक्षण उपजती व विनशती हैं। सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने से पर्यायों का ग्रहण होता है जो कि अनित्य है। द्रव्य अनित्य नहीं है, पर्याय अनित्य हैं किन्तु पर्याय द्रव्य से पृथक् नहीं हैं, अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य है। जैसे आत्मा को देखें तो नित्य है किन्तु देवादि पर्याय अनित्य हैं, नित्य कोई पर्याय नहीं है। धर्मादि द्रव्यों की भी यदि एक समय की पर्याय को देखो तो वे अनित्य हैं।

एतावता सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य अनित्य है। इस प्रकार द्रव्य कथंचित् नित्य व कथंचित् अनित्य है।

एक स्वभाव सिद्धि

भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावः॥154॥

अर्थ–भेदकल्पनानिरपेक्ष नय की अपेक्षा से एक स्वभाव है।

विशेषार्थ–जब द्रव्य को अभेद अपेक्षा से देखते हैं तो द्रव्य एक रूप दिखाई देता है और जब भेद अपेक्षा से देखते हैं तो अनेक रूप दिखाई देता है। भेद की कल्पना से निरपेक्ष अर्थात् भेद की अपेक्षा न रखते हुए द्रव्य को देखा जाए तो वह एक रूप दिखाई देता है। द्रव्य में अनेक गुण, लक्षण, स्वभाव हैं जैसे जीव में ज्ञान-दर्शनादि, पुद्गल में स्पर्श-रसादि। किन्तु यदि द्रव्य को भेद रूप ग्रहण किया जाए तभी इन सबका ग्रहण होता है। भेद की अपेक्षा से रहित, अभेद रूप से तो मात्र एक द्रव्य का ही ग्रहण होता है। कहा भी है–

'णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसण जाणगो सुद्धो' ॥स.सा.॥

जीव के न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है वह तो ज्ञायक शुद्ध है। अतः अभेद रूप से द्रव्य को एक रूप ग्रहण किया जाता है। भेद कल्पना निरपेक्ष नय से जीव द्रव्य को जीव द्रव्य रूप, पुद्गल द्रव्य को एक पुद्गल द्रव्य रूप, धर्मादि द्रव्य को एक धर्मादि द्रव्य रूप ही ग्रहण करता है, अन्य कोई भेद स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह भेद की अपेक्षा नहीं करने वाला अभेद नय है। इस प्रकार भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य का एक स्वभाव है।

अनेक स्वभाव सिद्धि

अन्वयद्रव्यार्थिकेनैकस्याप्यनेकद्रव्यस्वभावत्वम्॥155॥

अर्थ–अन्वय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक द्रव्य के भी अनेक स्वभाव पाए जाते हैं।

विशेषार्थ–अन्वय की अपेक्षा कथन करने पर द्रव्य में अनेक स्वभाव होते हैं। **'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'** द्रव्य सदैव गुण और पर्यायों से युक्त होता है। एक ही द्रव्य में अनेक गुण व पर्याय होती हैं। गुण व पर्याय से अलग द्रव्य नहीं है, और द्रव्य से पृथक् गुण व पर्याय नहीं है। अतः अनेक गुण व पर्याय होने से द्रव्य के भी अनेक स्वभाव माने जाते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुखादि अनेक गुण हैं और स्थावर, देव, मनुष्यादि अनेक पर्यायें हैं किन्तु आत्मा तो वही एक है। अतः भेद रहित द्रव्यार्थिक नय से तो द्रव्य एकरूप है उसका एक स्वभाव है किन्तु गुण व पर्यायों में द्रव्य को अन्वय रूप से ग्रहण करने वाले अन्वय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य के अनेक स्वभाव हैं। अतः द्रव्य कथंचित् एक स्वभावी व कथंचित् अनेक स्वभावी है।

भेद स्वभाव सिद्धि

सद्भूतव्यवहारेण गुणगुण्यादिभिर्भेदस्वभावः॥156॥

अर्थ–सद्भूत व्यवहार की अपेक्षा गुण-गुणी आदि में भेद स्वभाव है।

विशेषार्थ–व्यवहार का अर्थ होता है–जो अभेद में भेद करके बताए। सद्भूत अर्थात् जो स्वभाव में मिला हुआ है। तब सद्भूत व्यवहार का अर्थ हुआ जो स्वभाव में मिले हुए अभेद का भेद करके कथन करे। द्रव्य में गुण अन्वय रूप से हैं। जहाँ गुण हैं वहाँ गुणी है, जहाँ गुणी है वहाँ गुण हैं। मिठास व शक्कर दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, गुण व गुणी दोनों एक हैं, नमक (गुणी) व उसका खारापन (गुण) दोनों एक हैं, नीम (गुणी) व उसका कड़वापन (गुण) दोनों एक हैं, आत्मा (गुणी) व उसका ज्ञान (गुण) दोनों एक हैं, स्वभाव में मिले हैं। सद्भूतव्यवहारनय गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी में भेद ग्रहण करता है। यह नय अनादिकाल से मिले गुण-गुणी में भी भेद करके बताता है। यथा आत्मा (पर्यायी) व उसकी मनुष्य पर्याय। तीनों कालों में इन्हें कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता किंतु संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा इनमें भेद है। अतः सद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा द्रव्य का भेद स्वभाव है।

अभेद स्वभाव सिद्धि

भेदकल्पनानिरपेक्षेण गुणगुण्यादिरभेदस्वभावः॥157॥

अर्थ–भेदकल्पना निरपेक्ष नय की अपेक्षा से गुण-गुणी आदि में अभेद स्वभाव है।

विशेषार्थ–भेदकल्पनानिरपेक्ष का अर्थ है भेद कल्पना की अपेक्षा न करते हुए अर्थात् अभेद। गुणी का गुण उससे कभी अलग नहीं होता। चिकनाई को घी से अलग करके नहीं बताया जा सकता, धर्मद्रव्य से गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य से स्थितिहेतुत्व को अलग नहीं किया जा सकता। इस अपेक्षा से गुण व गुणी अभेद हैं। गुण-स्वभाव से अलग द्रव्य कुछ भी नहीं है। द्रव्य गुणादि से अभिन्न है। निज गुण-पर्याय-स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है, इनमें प्रदेश भेद नहीं है। अतः भेद की कल्पना की अपेक्षा से रहित अर्थात् भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य के अभेद स्वभाव है। एतावता द्रव्य स्यात् भेद स्वभावी, स्यात् अभेद स्वभावी है।

भव्य-अभव्य पारिणामिक स्वभाव

परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावः॥158॥

अर्थ–परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भव्य और अभव्य पारिणामिक स्वभाव है।

विशेषार्थ–शुद्ध व अशुद्ध के उपचार से रहित द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करना परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है। प्रत्येक द्रव्य अपनी आगामी पर्याय को प्राप्त करने योग्य होने से भव्य स्वभाव वाला और द्रव्य अपने स्वचतुष्टय को छोड़कर अन्य द्रव्य रूप नहीं होने योग्य से अभव्य स्वभाव वाला है। यह स्वभाव प्रत्येक द्रव्य में पाया जाता है। इसमें शुद्धाशुद्ध का भी कोई उपचार नहीं है। भव्य व अभव्य जीव के परम स्वभाव है, इसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। समान रूप से सभी द्रव्यों में होने से परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य के कथंचित् भव्य, कथंचित् अभव्य स्वभाव है।

जीव के चेतन स्वभाव

शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण चेतनस्वभावो जीवस्य॥159॥

अर्थ–शुद्धाशुद्ध-परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के चेतन स्वभाव है।

विशेषार्थ–चेतनस्वभाव जीव का लक्षण है। जिसमें किसी कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं होती वह परम स्वभाव जानना चाहिए। यदि जीव द्रव्य की अपेक्षा

से देखा जाए तो जीव के पारिणामिक भाव तीन होते हैं–जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व। क्योंकि इनमें कर्म से उदयादि की अपेक्षा नहीं होती। जीव जब तक कर्म से बद्ध है तब तक अशुद्ध व कर्मों के क्षय हो जाने से शुद्ध हो जाता है। तब शुद्ध व अशुद्ध के भेद से चेतन स्वभाव कदाचित् दो प्रकार का हो जाता है अतः शुद्ध चेतन स्वभाव को ग्रहण करने वाला शुद्ध परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय एवं अशुद्ध चेतन स्वभाव को ग्रहण करने वाला अशुद्ध परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय जानना चाहिए।

कर्म–नोकर्म के चेतन स्वभाव

असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः॥160॥

अर्थ–असद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के भी चेतन स्वभाव है।

विशेषार्थ–'असद्भूतव्यवहार नय'–'असद्' का अर्थ है 'वह वैसा नहीं है किन्तु किसी अपेक्षा से कह रहे हैं' और व्यवहार भेद करके कह रहा है। कर्म-नोकर्म जीव के साथ लगे हुए हैं. अतः उन्हें भेद करके कहने से व्यवहार नय है और कर्म-नोकर्म पुद्गल हैं फिर भी उन्हें चेतन स्वभाव युक्त कहने से असद्भूत है। कर्म व नोकर्म के भी कथंचित् चेतन स्वभाव माना गया है।

पौरुषेयपरिणामानुरञ्जित्वात् कर्मणः स्याच्चैतन्यम्॥ रा.वा.॥

पौद्गलिक कर्म पुरुष अर्थात् जीव के परिणामों में अनुरंजित होने के कारण कथंचित् चेतन है।

आचार्य श्री अपराजित जी ने भी भगवती आराधना की टीका में कहा है–

सहचित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यम्।

इस आत्मा के साथ जो पुद्गल द्रव्य रहता है वह सचित्त है। जीव का शरीर बनकर जो पुद्गल रहता है वह सचित्त है।

'णयचक्को' में भी उल्लिखित है–

एइंदियादिदेहा जीवा ववहारदो य जिणदिट्ठा।
हिंसादिसु जइ पापं सव्वत्थ वि किं ण ववहारो॥

एकेन्द्रिय आदि का शरीर जीव है ऐसा जिनेंद्र प्रभु ने व्यवहार से कहा है। यदि हिंसा आदि में पाप है तो सर्वत्र व्यवहार का प्रयोग क्यों न हो? अर्थात् व्यवहार सत्य होने से सर्वत्र प्रयोग होना चाहिए।

इस प्रकार कर्म व नोकर्म के भी चेतना स्वभाव माना गया हैं, जीव से मिलेजुले होने के कारण बंध की अपेक्षा उनमें चेतन स्वभाव है। यह विजाति असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा कथन है।

यह नय भी सम्यक् है। इसलिए एकांतवादियों को इन नयों की विवक्षा को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। इनकी विवक्षा को समझे बिना तत्त्वबोध संभव नहीं है। किसी बालक के माध्यम से कुएँ से पानी निकालते समय रस्सी टूट जाने से सर्व परिश्रम व्यर्थ जाता है। उसी प्रकार यदि नय या सापेक्ष कथन छूट गया तो ज्ञान मिथ्या हो जाएगा। यदि राहगीर पगदंडी चूक जाए तो कहीं का कहीं भटक जाता है। एक गलत मोड़ व्यक्ति को उसके लक्ष्य से दूर ले जाता है। ऐसे ही सम्यक् नय की रस्सी टूटी तो संसार में पतित हो जाओगे, दुःख कूप में गिर पड़ोगे। एक भी सापेक्ष कथन चूक गए तो सम्यक् ज्ञान रूपी राह से भटकाव हो जाएगा। अतः आचार्य महोदय की अपेक्षा को समझना आवश्यक है।

कर्म-नोकर्म अचेतन स्वभाव

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावः॥161॥

अर्थ—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के अचेतन स्वभाव है।

विशेषार्थ—कर्म, नोकर्म की मूलभूत अवस्था अचेतन अवस्था ही है। कर्म-नोकर्म ये सब पुद्गल ही हैं। पुद्गल के छः भेदों में से सूक्ष्म एक भेद है और ये कर्मादि पुद्गल का सूक्ष्म भेद है। पुद्गल के अचेतन होने से कर्म, नोकर्मादि भी अचेतन स्वभाव से युक्त हैं। जैसे परमभावग्राहक नय की अपेक्षा से संसारी जीव में भी चेतन स्वभाव है और शुद्ध जीव में भी चेतन स्वभाव है चाहे विभाव से युक्त है या स्वभाव से युक्त है किन्तु जीव में चेतन स्वभाव शाश्वत है ऐसे ही पुद्गल चाहे कर्म रूप है चाहे नोकर्म रूप है, चाहे परमाणु रूप है चाहे स्कंध रूप है अचेतन स्वभाव ही होता है क्योंकि अचेतन उसका मूलस्वभाव है। इस मूल-स्वभाव का कभी भी, किसी भी अवस्था में मूलतः नाश नहीं होता, उपचारादि से कभी पुद्गल कर्मादि को भी चेतन कहा है किन्तु वह कथन जीव के साथ बंध होने से है। मूलस्वभाव उसका कभी बदलता नहीं। न जीव का मूल स्वभाव कभी बदलता है और न पुद्गल का।

अतः अचेतनत्व पुद्गल द्रव्य का मूल या निज स्वभाव है अतः यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

जीव के अचेतन स्वभाव

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः॥162॥

अर्थ–असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव के भी अचेतन स्वभाव है।

विशेषार्थ–यद्यपि जीव का मूल या निजस्वभाव अचेतन नहीं है तथापि असद्भूत व्यवहार अर्थात् ऐसा है नहीं किन्तु किसी निमित्त की अपेक्षा से कह रहे हैं। जीव जब कर्मों से बंधा हुआ है उस समय जीव का अचेतन स्वभाव है। इस अपेक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी अपेक्षा से जीव के अचेतन स्वभाव सिद्ध नहीं होगा। अतः विजात्यसद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा से जीव के अचेतन स्वभाव है।

कर्म-नोकर्म के मूर्त्त स्वभाव

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूतस्वभावः॥163॥

अर्थ–परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म-नोकर्मों के मूर्त्त स्वभाव है।

विशेषार्थ–परमभावग्राहक अर्थात् पुद्गल की मूलभूत अवस्था को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा से कर्म व नोकर्म के मूर्त्त स्वभाव ही सिद्ध होता है। कर्म, नोकर्म पौद्गलिक हैं। पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण होने से वह मूर्तिमान् कहलाता है। कर्म, नोकर्म पुद्गल होने से मूर्त्त स्वभावी हैं।

जीव के मूर्त्त स्वभाव

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः॥164॥

अर्थ–असद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्त्तस्वभाव है।

विशेषार्थ–जीव का यद्यपि मूर्त्त स्वभाव नहीं होता किन्तु कर्म बंध होने के कारण जीव का भी मूर्त्त स्वभाव माना गया है। जीव जब तक संसार में होता है तब तक कर्म व जीव एक साथ होते हैं। अतः मूर्त्त कर्म के साथ होने से जीव भी मूर्त्तिक कहलाता है। यदि व्यवहार में जीव को मूर्त्तरूप न मानें तो कर्म व जीव की एकता नहीं हो सकेगी, जीव के कर्मबंध ही नहीं हो सकेगा। अतः विजाति असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव के मूर्त्त स्वभाव भी है। असद्भूत व्यवहार का अर्थ–जो जीव का स्वभाव तो नहीं है किन्तु कदाचित् उसी प्रकार मिला है, उसको भेद कर कथन करना है, जैसा नहीं है वैसा किसी अपेक्षा से कथन करना है। अतः जीव के मूर्त्त व अचेतन तथा पुद्गल के अमूर्त्त व चेतन स्वभाव विजातिअसद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है।

पुद्गल बिना अन्य द्रव्यों के अमूर्त स्वभाव

परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्तस्वभावः॥165॥

अर्थ–परमभावग्राहक नय की अपेक्षा से पुद्गल को छोड़कर अन्य सभी के अमूर्त्त स्वभाव है।

विशेषार्थ–द्रव्य की मूलभूत या परमभाव को कहने वाला परमभावग्राहक नय है। पुद्गल मूर्त्त स्वभावी है। इस पुद्गल के अतिरिक्त जीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य के अमूर्त्त स्वभाव होता है। जीव का विजातिअसद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से मूर्त्त स्वभाव माना है। किन्तु परमभावग्राहक नय की अपेक्षा अमूर्त्त स्वभाव ही है। धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य के उपचार से भी मूर्त्त स्वभाव नहीं है, उनका सदा अमूर्त्त स्वभाव ही है। अतः पुद्गल को छोड़कर परमभावग्राहक नय की अपेक्षा जीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य के अमूर्त्त स्वभाव है।

पुद्गल उपचार से अमूर्त

पुद्गलस्योपचारादेवास्त्यमूर्तत्वम्॥166॥

अर्थ–पुद्गल के भी उपचार से अमूर्त्तस्वभाव है।

विशेषार्थ–अमूर्त्तत्व पुद्गल का निज या मूलभूत स्वभाव नहीं है। जब पुद्गल (कर्म) जीव के साथ बँध जाते हैं तब जीव के अमूर्त्त स्वभाव होने से कर्मों के भी विजातिअसद्भूतव्यवहार नय से अमूर्त्त स्वभाव प्राप्त होता है अतः पुद्गल का अमूर्त्त स्वभाव विजातिअसद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है।

कालाणु व पुद्गल के एकप्रदेश स्वभाव

परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वम्॥167॥

अर्थ–परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कालाणु द्रव्य और पुद्गल परमाणु के एकप्रदेश स्वभाव है।

विशेषार्थ–परमाणु पुद्गल का अविभागी अंश है। एक परमाणु के द्वारा आकाश का जितना क्षेत्र अवरुद्ध किया जाता है वह प्रदेश कहलाता है।

प्रवचनसार में आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं॥140॥

एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को आकाश प्रदेश के नाम से कहा गया है।

अतः पुद्गल परमाणु एकप्रदेश स्वाभावी है। कालाणु भी एक प्रदेशी है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। तिलोयपण्णत्ति में कहा है-

कालस्स भिण्णाभिण्ण अण्णुण्णपवेसेण परिहीणा।
पुहपुह लोयायासे चेट्ठंते संचएण विणा॥283॥

अन्योन्य प्रवेश से रहित काल के भिन्न-भिन्न अणु संचय के बिना पृथक्-पृथक् लोकाकाश में स्थित हैं।

नियमसार में भी निरूपित है-

'कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा॥39॥

कालद्रव्य को कायपना नहीं है क्योंकि वह एकप्रदेशी है।

परमाणु को उपचार से शक्ति की अपेक्षा बहुप्रदेशी स्वभावी भी माना जाता है किन्तु कालद्रव्य उपचार से भी बहुप्रदेशी नहीं है। दोनों का मूलभूत परम स्वभाव एकप्रदेश स्वभाव है। अतः परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कालाणु द्रव्य और पुद्गल परमाणु के एकप्रदेश स्वभाव है।

अन्य द्रव्यों के एकप्रदेश स्वभाव

भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम्॥168॥

अर्थ-भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अन्य सभी के भी एक प्रदेश स्वभाव है क्योंकि वे अखंड हैं।

विशेषार्थ-पुद्गल व काल के अतिरिक्त जीव, धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य ये अखंड हैं। जैसे एक आत्मा के किसी भी प्रकार से टुकड़े या खंड नहीं किए जा सकते उसी प्रकार धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य के भी खंड नहीं किए जा सकते। यद्यपि जीव, धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी और आकाश अनंत प्रदेशी है। फिर भी भेद कल्पना से रहित अखंड रूप से ग्रहण करने पर उनमें बहुप्रदेशत्व गौण हो जाता है और अखंड एक रूप से ग्रहण

होने पर उनका एकप्रदेश स्वभाव कहा जाता है इस प्रकार भेदकल्पना निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्यों का एक प्रदेश स्वभाव है।

नाना प्रदेश स्वभाव

भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम्॥169॥

अर्थ–भेदकल्पनासापेक्ष-अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा चारों के नाना प्रदेश स्वभाव है।

विशेषार्थ–धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, जीवद्रव्य व आकाश द्रव्य के नानाप्रदेश स्वभाव है। ये बहुप्रदेशी हैं। भेद कल्पना से सहित ग्रहण करने पर इन चारों के नाना प्रदेश स्वभाव है। यदि भेदकल्पना सापेक्ष नय न होता तो इनमें बहुप्रदेशों की सिद्धि संभव नहीं थी। जिससे अस्तिकाय के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता। अतः भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश व जीव द्रव्य के बहुप्रदेश स्वभाव भी है।

पुद्गल परमाणु उपचारवत् नानाप्रदेश स्वभाव

पुद्गलाणोरुपचारतो नानाप्रदेशत्वम्; न च कालाणोः स्निग्धरूक्षत्वाभावात् ऋजुत्वाच्च॥170॥

अर्थ–उपचार से पुद्गल परमाणु के नाना प्रदेश स्वभाव है। किन्तु कालाणु के उपचार से भी नानाप्रदेश स्वभाव नहीं है क्योंकि कालाणु में स्निग्ध व रूक्ष गुण का अभाव है तथा वह स्थिर है।

विशेषार्थ–यद्यपि परमाणु एकप्रदेशी है तथापि स्वजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा वह बहुप्रदेश स्वभावी भी है। आचार्य भगवन् श्री नेमिचंद्र स्वामी ने द्रव्यसंग्रह में कहा है–

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू॥26॥

एक प्रदेशी भी पुद्गल परमाणु स्निग्ध-रूक्ष के कारण बंध होने पर अनेक स्कंधरूप बहुप्रदेशी हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञ देव उपचार से पुद्गलपरमाणु को काय अर्थात् बहुप्रदेशी कहते हैं।

जिस प्रकार उपचार से परमाणु बहुप्रदेशी कहा जाता है उस प्रकार कालाणु उपचार से भी कभी बहुप्रदेशी नहीं होता क्योंकि उसके स्निग्ध व रूक्ष गुण का अभाव है। बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में निरूपित है–

अथ मतं पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्वयणुकादिस्कंधपर्याय-रूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जात तथा कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवत्विति? तत्र परिहारः स्निग्धरूक्षहेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति। तदपि कस्मात्? स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति॥

यदि कोई ऐसी शंका करे कि जैसे द्रव्य रूप से एक भी पुद्गल परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कंध पर्याय द्वारा बहुप्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है, ऐसे ही द्रव्यरूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है? इसका परिहार करते हैं कि स्निग्ध-रुक्ष गुण के कारण होने वाले बंध का कालद्रव्य में अभाव है इसलिए वह काय नहीं हो सकता। ऐसा भी क्यों? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है। काल में स्निग्धता, रूक्षता नहीं होने से बंध नहीं होता। अतः कालाणु के उपचार से भी बहुप्रदेश स्वभाव नहीं है।

कालाणु के उपचरित स्वभाव नहीं

अणोरमूर्तकालस्यैकविंशतितमो भावो न स्यात्॥171॥

अर्थ—अमूर्त्तिक कालाणु के 21वाँ अर्थात् उपचरित स्वभाव नहीं है।

विशेषार्थ—कालाणु में उपचरित स्वभाव नहीं। यदि उपचरित स्वभाव होता तो उपचार से बहुप्रदेशी आदि स्वभाव हो जाते। किन्तु उपचरित स्वभाव नहीं होने से कालद्रव्य में उपचार से कोई भी स्वभाव सिद्ध नहीं होता।

पुद्गल उपचार से अमूर्त्त स्वभाव

परोक्षप्रमाणापेक्षयाऽसद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वं पुद्गलस्य॥172॥

अर्थ—परोक्ष प्रमाण की अपेक्षा से और असद्भूतव्यवहार उपनय की दृष्टि से पुद्गल के उपचार से अमूर्त्त स्वभाव है।

विशेषार्थ—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण युक्त होने से पुद्गल का मूर्त्त स्वभाव है। परोक्ष प्रमाण व असद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा पुद्गल के अमूर्त्त स्वभाव भी है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण के भेद हैं। मन व इंद्रिय की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान एवं मतिज्ञान पूर्वक होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। सूक्ष्म पुद्गल परमाणु या कदाचित् स्कंधादि भी इंद्रियों द्वारा ग्राह्य न होने से अमूर्त्त हैं। विजाति असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा भी पुद्गल का अमूर्त्त स्वभाव है।

द्रव्य में स्वभाव-विभाव भाव

शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन स्वभावविभावत्वम्॥173॥

अर्थ–शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य में स्वभाव भाव है और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव, पुद्गल में विभाव-स्वभाव है।

विशेषार्थ–जीव और पुद्गल में स्वभाव-विभाव दोनों संभव हैं। अन्य शेष धर्मादि चार द्रव्य तो स्वभाव में ही वर्तन करते हैं, शाश्वत शुद्ध हैं। जीव व पुद्गल बंध को प्राप्त होने से विभाव रूप भी होते हैं। जीव एक बार शुद्ध हो जाए तो पुनः कभी अशुद्ध नहीं होता और पुद्गल स्वभाव से विभाव व विभाव से स्वभाव रूप वर्तन करता रहता है। शुद्ध नय शुद्ध का ग्रहण करता है और अशुद्ध नय अशुद्ध का ग्रहण करता है। शाश्वत शुद्ध धर्मादि चार द्रव्य, स्वभाव को प्राप्त शुद्ध जीव व परमाणु (शुद्ध पुद्गल) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय हैं। विभाव में वर्तन करने वाले जीव व पुद्गल अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय हैं।

शुद्ध स्वभाव

शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः॥174॥

अर्थ–शुद्धद्रव्यार्थिक नय से शुद्ध स्वभाव है।

विशेषार्थ–शुद्ध द्रव्यार्थिक नय छहों द्रव्यों के शुद्ध स्वभाव को ही ग्रहण करता है। यह शाश्वत शुद्ध धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य को ग्रहण करता है तथा स्वभाव को प्राप्त सादि-अनंत जीव की सिद्ध शुद्ध पर्याय व परमाणु रूप पुद्गल की शुद्धावस्था को ग्रहण करता है।

अशुद्ध स्वभाव

अशुद्धद्रव्यार्थिकेनाशुद्धस्वभावः॥175॥

अर्थ–अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अशुद्ध स्वभाव है।

विशेषार्थ–अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय द्रव्य के अशुद्ध स्वभाव या विभाव रूप को ग्रहण करता है। नित्य शुद्ध होने से धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य इस नय का विषय नहीं है। कर्मों से बद्ध जीव व द्व्यणुकादि स्कंध रूप पुद्गल विभाव में स्थित होने से, अशुद्ध दशा में होने से अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय हैं।

उपचरित स्वभाव

असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः॥176॥

अर्थ–असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा उपचरित स्वभाव है।

विशेषार्थ–बंधादि को प्राप्त नहीं होने से सदा स्वभाव में स्थित धर्मादि चार द्रव्यों में उपचरित स्वभाव नहीं है। जीव व पुद्गल ये दो द्रव्य बंध को प्राप्त होते हैं इनमें एक क्षेत्रावगाह संबंध होता है जिससे एक-दूसरे के स्वभाव एक-दूसरे में उपचार रूप से ग्रहण किए जाते हैं। अतः मात्र इन दो द्रव्यों के ही उपचरित स्वभाव होता है। यह उपचरित स्वभाव असद्भूतव्यवहार उपनय का विषय है।

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम्।
तथा ज्ञानेन संज्ञात नयोऽपि हि तथाविधः॥11॥

अर्थ–द्रव्यों का जिस प्रकार का स्वरूप है, वह लोक में व्यवस्थित है। ज्ञान से उसी प्रकार जाना जाता है, नय भी उसी प्रकार जानता है।

विशेषार्थ–वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी ने कहा भी है–**'प्रमाणनयैरधिगमः'** अथवा **'प्रमाणनयात्मको न्यायः'** न्याय प्रमाण व नय स्वरूप कहा गया है। इस न्याय के द्वारा वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होता है। इस प्रकार द्रव्यों का जैसा स्वरूप है, उसी प्रकार जैसे ज्ञान या प्रमाण जानता है वैसे नय भी जानता है। प्रमाण व नय के द्वारा ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान संभव है।

णयचक्को में भी प्ररूपित है–

णिच्छित्ती वत्थूणं साहइ तह दंसणम्मि णिच्छित्ति।
णिच्छयदंसण जीवो दोण्हं आराहओ होई॥179॥

प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय होने पर वस्तु का निश्चय होता है और वस्तु का निश्चय होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इस तरह वस्तु स्वरूप के निश्चय और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव ध्यान और ध्यान की भावना का आराधक होता है।

प्रमाण का कथन

प्रमाण का लक्षण

सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं, प्रमीयते परिच्छद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम्॥177॥

अर्थ–सकल वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप को जाना जाता है, निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है।

विशेषार्थ–वस्तु के एक अंश या पक्ष को ग्रहण करने वाला नय कहलाता है। वस्तु के सकल अंशों का ज्ञान कराने वाला या सकल वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने धवला जी पु. 9 में कहा है–

प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थः। तेन प्रकाशितानां प्रमाणगृहीतानामित्यर्थः।

प्रकर्ष अर्थात् संशयादि से रहित वस्तु का ज्ञान प्रमाण है, अभिप्राय यह है कि जो समस्त धर्मों को विषय करता हो वह प्रमाण है।

'इदि तं पमाणविसयं सत्तारूवं खु जं हवे दव्वं॥ न.च.वृ.

केवल सत्तारूप द्रव्य अर्थात् संपूर्ण धर्मों की निर्विकल्प अखंड सत्ता प्रमाण का विषय है।

जिसके द्वारा वस्तु को जाना जाता है वह प्रमाण है। वस्तु के जितने भी गुण, धर्म व स्वभाव हैं वे सब एक साथ जिस ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं वह प्रमाण है। प्रमाणमीमांसा वृत्ति में भी कहा है–

प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।

जिसके द्वारा वस्तु तत्त्व को एकदम सही रूप में (संशयादि रहित) जाना जाता है, पहचाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।

प्रमाण का सामान्य रूप से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–**'प्रमीयते येन तत् प्रमाणम्'** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमा या प्रमिति कहते हैं और उस प्रमा की उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है वही प्रमाण है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ निश्चय करना प्रमाण का कार्य है। आचार्य श्री माणिक्यनंदि जी ने परीक्षामुखसूत्र में कहा है **'स्वपूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'** स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि प्रमाण हितप्राप्ति और अहित परिहार करने में समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है। वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय करने वाला वह सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाण के भेद

तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात्॥178॥

अर्थ–सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—प्रमाण दो प्रकार का है—सविकल्प व निर्विकल्प। पूर्व में प्रमाण के प्रत्यक्ष व परोक्ष दो भेद कहे गए। यहाँ सविकल्प व निर्विकल्प इस प्रकार दो भेद कहे हैं। सविकल्प अर्थात् जिसमें विकल्प होते हैं विचारादि होते हैं। निर्विकल्प अर्थात् जिसमें विकल्प, विचारादि नहीं होते। निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान के लक्षण व भेद आचार्य महाराज आगे स्वयं कहेंगे।

सविकल्प ज्ञान का लक्षण व भेद

सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम् मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम्॥179॥

अर्थ—मानस अर्थात् विचार या इच्छा सहित ज्ञान सविकल्प ज्ञान है। वह चार प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान।

विशेषार्थ—विचार, इच्छा सहित या मन के किंचित् प्रयोग से होने वाला ज्ञान सविकल्प ज्ञान कहलाता है अर्थात् पूर्ण रूप से आत्मप्रत्यक्ष नहीं है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान तो पूर्णतया इंद्रिय सापेक्ष होते हैं किन्तु अवधि व मनःपर्यय ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं। ये क्षयोपशम की अपेक्षा से होते हैं। ये क्षणिक ज्ञान नहीं हैं। अतः इनमें विकल्प रहता है इसलिए इन चारों को सविकल्प ज्ञान की श्रेणी में रखा गया।

मतिज्ञान—'अहिमुहणियमियबोहण-माभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं'॥214॥ पं. सं.

मन और इंद्रिय की सहायता से उत्पन्न होने वाले अभिमुख और नियमित पदार्थ के बोध को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से और इंद्रिय, मन के अवलंबन से मूर्त्त-अमूर्त्त द्रव्य का विकल अर्थात् एकदेश रूप से जो अवबोध करता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। **'आभिनिबोधिकं मतिज्ञानम्'** आभिनिबोधिक ज्ञान को ही मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान—'श्रूयते अनेन तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। —स.सि.

पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुत कहलाता है। यह इसका व्युत्पत्यर्थ हुआ। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो मूर्त्तिक अमूर्त्तिक वस्तु को लोक तथा अलोक को व्याप्ति ज्ञान रूप से अस्पष्ट जानता है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है—

सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भणणदि संसयपहुदीहि परिचत्तं॥292॥

जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं को अनेकांत रूप दर्शाता है, संशय, विपर्यय आदि से रहित उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान–'अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः। –स.सि.

अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने या परिमित विषय वाला होने से अवधि कहलाता है।

'अव्' पूर्वक 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय लगने पर अवधि शब्द बनता है। यदि अव् शब्द अध:वाची है जैसे अध:क्षेपण को अवक्षेपण कहते हैं, अवधिज्ञान भी नीचे की ओर बहुत पदार्थों को विषय करता है। नीचे गौरव धर्म वाला होने से पुद्‌गल की अवाग् संज्ञा है, उसे जो धारण करता है अर्थात् जानता है, वह अवधि है। अवधि शब्द मर्यादार्थक है–द्रव्य, क्षेत्र, कालादि की मर्यादा से सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है[1]। महास्कंध से लेकर परमाणु पर्यंत समस्त पुद्‌गल द्रव्यों को, असंख्यात लोक प्रमाण क्षेत्र, काल और भावों को तथा कर्म के संबंध से पुद्‌गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।[2]

आचार्य श्री यतिवृषभस्वामी ने लिखा है–

अंतिमखंदंताइं परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाइं।
जं पच्चक्खइ जाणइ तमोहिणाणं ति णायव्वं॥972॥ ति.प.

जो प्रत्यक्ष ज्ञान अंतिम स्कंध पर्यन्त परमाणु आदि मूर्त्त द्रव्यों को जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए।

धवला जी (पु. 1) ग्रंथ में भी अवधिज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा है–

'ओहिणाणं णाम दव्वखेत्तकालभाववियप्पियं पोग्गलदव्वं पच्चक्खं जाणदि।'

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विकल्प से अनेक प्रकार के पुद्‌गल द्रव्य को जो प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मन:पर्यय ज्ञान:–'परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मन:पर्यय:। –सं.सि.

दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। उसके मन के संबंध से उस पदार्थ का पर्ययण अर्थात् परिगमन करने को या जानने को मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं।

---

1. रा.वा. 1/20/15/78/27
2. क.पा. 1/1/28/43

चिंताए अचिंताए अद्धचिंताए विविहभेयगयं।
जं जाणइ णरलोए तं चिय मणपज्जवं णाणं॥973॥ ति.प.

चिन्ता, अचिंता और अर्धचिंता के विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थ को जो ज्ञान नरलोक के भीतर जानता है, वह मन:पर्यय ज्ञान है।

मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमादि रूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को जानना मन:पर्यय ज्ञान है।[3] परकीय मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसकी पर्यायों अर्थात् विशेषों को मन:पर्यय कहते हैं। उसको जो ज्ञान जानता है वह मन:पर्यय ज्ञान है।[4]

इस प्रकार ये चार ज्ञान विकल्पयुक्त विचार-इच्छादि होने से सविकल्प ज्ञान जानने चाहिए।

निर्विकल्प मनोरहितं केवलज्ञानम्॥180॥

अर्थ—मन रहित अथवा विचार या इच्छा रहित ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है। केवल ज्ञान निर्विकल्प है।

विशेषार्थ—निर्विकल्प व इंद्रिय-मनादि की अपेक्षा से रहित, बिना इच्छा, विचारादि के मूर्त्त-अमूर्त्त, चेतन-अचेतन द्रव्यों को, स्व को तथा समस्त को हस्तामलकवत् टंकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष जानने वाला अतिशय ज्ञान केवलज्ञान है। मनादि की अपेक्षा से रहित होने से यह असहाय भी कहलाता है। कषाय पाहुड में लिखा है—'असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं क्योंकि वह इंद्रिय प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित है। केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है, इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते हैं।[5]

'असहायमिति' सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ के रचयिता आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा कि केवल शब्द असहायवाची है इसलिए असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। असहाय होने से इस ज्ञान को किसी की अपेक्षा नहीं है। अत: यह निर्विकल्प ज्ञान है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी भी लिखते हैं—

3. तदावरणकर्मक्षयोपशमादि-द्वितीयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मन:पर्यय:। –रा.वा.
4. परकीयमनोगतोऽर्थो मन:, तस्य पर्याया:, विशेषा:, मन:पर्याया: तान् जानातीति मन:पर्ययज्ञानम्॥ –ध.पु. 6
5. केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्। ... आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्। –क.पा. 1

'केवलमसहायमिंदियालोयणिरवेक्खं तिकालगोयराणंतपज्जायसमवेदाणंतवत्थुपरिम संकुडिय- मसवत्तं केवलणाणं।' –ध. 6

केवल असहाय को कहते हैं। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इंद्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकालगोचर अनंतपर्यायों से समवाय संबंध को प्राप्त अनंत वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुटित अर्थात् सर्वव्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

यह असहाय केवल ज्ञान निश्चय से निर्विकल्प ज्ञान जानना चाहिए।

प्रमाणेन वस्तु संगृहीतार्थैकांशो नयः, श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः॥181॥

अर्थ–प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं अथवा श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है।

विशेषार्थ–प्रमाण से जानी हुई वस्तु का उसके किसी एक अंश द्वारा कथन करना नय है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में नय का लक्षण बताते हुए कहा है–

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः॥106॥

साधर्मी का विरोध न करते हुए, साधर्म्य से ही साध्य को सिद्ध करने वाला तथा स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रगट करने वाला नय है।

नय के द्वारा पदार्थ का सम्यक् प्ररूपण एक-एक अपेक्षा से किया जाता है व प्रमाण से संपूर्ण ग्रहण किया जाता है।

एवं ह्युक्तं प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः। –स. सि.

आगम में ऐसा कहा है कि वस्तु को प्रमाण से जानकर अनंतर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है।

प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः। –रा.वा.

प्रमाण द्वारा प्रकाशित किए गए पदार्थ का विशेष प्ररूपण करने वाला नय है।

प्रमाणपरिग्रहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः। –ध. 1

प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः। –एया.मं.

प्रमाण से निश्चित किए हुए पदार्थों के एक अंश ज्ञान करने को नय कहते हैं।

अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय कहलाता है। श्लोकवार्तिक में निरूपित है। **'श्रुतमूला नयाः सिद्धा'** श्रुतज्ञान को मूल कारण मानकर ही नय ज्ञानों की प्रवृत्ति होना सिद्ध माना गया है।

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। श्री धवला जी. 9 में प्ररूपित है–प्रभाचंद्र भट्टारक ने भी कहा है–प्रमाण के आश्रित परिणाम भेदों से वशीकृत पदार्थ विशेषों के प्ररूपण में समर्थ जो प्रयोग हो वह नय है। स्पष्ट करते हुए कहते हैं–जो प्रमाण के आश्रित है तथा उसके आश्रय से होने वाले ज्ञाता के भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के अधीन हुए पदार्थ-विशेषों के प्ररूपण में समर्थ है, ऐसे प्रणिधान अर्थात् प्रयोग अथवा व्यवहार स्वरूप प्रयोक्ता का नाम नय है।[1]

अथवा जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है। स्याद्वाद मंजरी में भी कहा है–

''नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः।''

जिस नीति के द्वारा एकदेश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है अर्थात् प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है उसे नय कहते हैं। जीवादि पदार्थों को जो लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं वे नय हैं।[2]

इस प्रकार नय का स्वरूप प्रज्ञापित किया गया।

---

1. तथा प्रभाचंद्रभट्टारकैरप्यभाणि-प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थ विशेष- प्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति। प्रमाणव्यपाश्रयस्तत्परिणामविकल्पवशीकृतानां अर्थविशेषाणां प्ररूपणो प्रवणः प्रणिधानं प्रणिधिः प्रयोगो व्यवहारात्मा प्रयोक्ता वा स नयः। –ध. 9
2. जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति, कारयंति, साधयंति, निर्वर्तयंति, निर्भासयंति, उपलंभयंति व्यंजयन्ति इति नयः। –तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।

सविकल्प व निर्विकल्प नय

तद्द्वेधा सविकल्पनिर्विकल्पभेदात्।।182।।

अर्थ–सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से नय भी दो प्रकार है।

विशेषार्थ–यहाँ नय के दो भेद किए गए हैं–सविकल्प व निर्विकल्प। सविकल्प नय अर्थात् विकल्प विवक्षा पक्ष से सहित। जो सापेक्ष कथन करने वाले होते हैं वे सुनय या सविकल्प नय कहलाते हैं। निर्विकल्प नय अर्थात् विकल्प, विवक्षा व पक्ष से रहित। निरपेक्ष कथन करने वाले नय मिथ्या नय, दुर्नय होते हैं। निर्विकल्प या दुर्नय वस्तु तत्त्व का मिथ्या ज्ञान कराते हैं। सुनय या सविकल्प नय वस्तु तत्त्व का सम्यक् व यथार्थ ज्ञान कराते हैं।

सापेक्ष (अपेक्षा से सहित) अर्थात् सविकल्प सुनय है और निरपेक्ष (अपेक्षा से रहित) अर्थात् निर्विकल्प दुर्नय है।[3] इस प्रकार सुनय को सविकल्प और दुर्नय को निर्विकल्प नाम से यहाँ कहा गया है।

निक्षेप की व्युत्पत्ति

निक्षेप लक्षण व भेद

प्रमाणनययोर्निक्षेपणं आरोपणं निक्षेपः स नामस्थापनादिभेदेन चतुर्विधः।।183।।

अर्थ–प्रमाण और नय के विषय में यथायोग्य नामादिरूप से पदार्थ निक्षेपण करना अर्थात् आरोपण करना निक्षेप है। वह निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार है।

विशेषार्थ–अप्रकृत विषय के निवारण के लिए, प्रकृत विषय के प्ररूपण के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निक्षेपों का कथन करना चाहिए। श्रोता तीन प्रकार के होते हैं–अव्युत्पन्न श्रोता, संपूर्ण विवक्षित पदार्थ को जानने वाला श्रोता (मेधावी) और एकदेश विवक्षित पदार्थ को जानने वाला श्रोता (व्युत्पन्न)। वहाँ अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्याय (विशेष) का अर्थी है तो उसे प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत विषय के निराकरण करने के लिए निक्षेप का कथन करना चाहिए। यदि वह श्रोता द्रव्य (सामान्य) का अर्थी है तो भी प्रकृत पदार्थों के प्ररूपण के लिए संपूर्ण निक्षेप कहे

3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा

जाते हैं। दूसरी व तीसरी जाति के श्रोताओं को यदि संदेह हो तो उनके संदेह को दूर करने के लिए अथवा यदि उन्हें विपर्यय ज्ञान हो तो प्रकृत वस्तु के निर्णय के लिए संपूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है।[1]

निक्षेपविस्पृष्टः सिद्धांतो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतु श्चोत्थानं कुर्यादिति वा।

निक्षेपों को छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धांत संभव है कि वक्ता व श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जावे इसलिए भी निक्षेपों का कथन करना चाहिए। –धवला जी पु. 1

अतः प्रमाण, लक्षण, नय के साथ निक्षेप का भी कथन आचार्य महाराज यहाँ करते हैं।

प्रमाण व नयादि के द्वारा जाने गए पदार्थों को नामादि का आरोपण करना निक्षेप कहलाता है। प्रचलित लोक व्यवहार को चलाने के लिए युक्ति से सुयुक्तमार्ग में जो मुख्य रूप से सहकारी होते हैं अथवा पदार्थों का ज्ञान कराने वाले साधन होते हैं उन्हें निक्षेप कहते हैं।

न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। –रा.वा.

सौंपना या धरोहर रखना निक्षेप कहलाता है अर्थात् नामादिकों में वस्तु को रखने का नाम निक्षेप है।

वस्तुनामादिषु क्षिपतीति निक्षेपः। –न.च.

वस्तु का नामादिक में क्षेप करने या धरोहर रखने को निक्षेप कहते हैं।

संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थित तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।–ध. 4

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तु का नामादिक द्वारा निर्णय करावे उसे निक्षेप कहते हैं।

जुत्तीसुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं।
वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये।।270।।

युक्ति के द्वारा सुयुक्त मार्ग में कार्य के वश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव में पदार्थ की स्थापना को आगम में निक्षेप कहा है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से यह निक्षेप चार प्रकार का कहा गया है।[2]

जीवपदार्थ का न्यास चार प्रकार का कहा गया है–

---

1. धवला जी पु. 1
2. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः –त. सू.1

णामजिणा जिणणाम, ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था।।

जिन नाम जिन का नामनिक्षेप है, जिनेंद्र भगवान् की प्रतिमा जिन की स्थापना निक्षेप है। जिनेंद्र का जीव जिन का द्रव्यनिक्षेप है। समवशरण में स्थित जिनेंद्र जिन का भाव निक्षेप है।

नाम निक्षेप—संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छानुसार की गई संज्ञा को नाम निक्षेप कहते हैं। अन्य निमित्तों से रहित किसी का नाम या संज्ञा करने को नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे—किसी बालक का नाम 'अमर' रखना यद्यपि उसमें तद्रूप अर्थादि की अपेक्षा नहीं है। वहाँ निमित्त चार प्रकार का है—जाति, द्रव्य, गुण व क्रिया।

तद्भव और सादृश्य लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते हैं। किसी एक ही द्रव्य की विभिन्न समय में एक व्यक्तिगत अनेक पर्यायों में रहने वाले अन्वय को तद्भव सामान्य या ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे मनुष्य की बालक, युवा और वृद्धावस्था में मनुष्यत्व-सामान्य का अन्वय पाया जाता है तथा एक ही समय में नाना व्यक्तिगत सदृश परिणाम को सादृश्य या तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे रंग, आकार आदि से भिन्न-भिन्न प्रकार की गायों में गौत्व सामान्य पाया जाता है।

द्रव्य निमित्त के दो भेद हैं—संयोग व समवाय। अलग-अलग सत्ता रखने वाले द्रव्यों के मेल से जो पैदा हो उसे संयोग द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्य द्रव्य में समवेत हो अर्थात् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय द्रव्य कहते हैं। जो पर्याय आदि की अपेक्षा परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं। परिस्पंद अर्थात् हलन-चलन रूप अवस्था को क्रिया कहते हैं।

इन चार प्रकार के निमित्तों में से गौ, मनुष्य, घट, पट आदि जाति निमित्तक नाम हैं। दंडी, छंत्री इत्यादि संयोगद्रव्यनिमित्तक नाम हैं क्योंकि स्वतंत्र सत्ता रखने वाले दंड आदि के संयोग से दंडी आदि नाम व्यवहार में आते हैं। गलगण्ड, काना, कूबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं क्योंकि जिसके लिए 'गलगंड' इस नाम का उपयोग किया गया है उससे गले का गण्ड भिन्न सत्ता वाला द्रव्य नहीं है। कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण निमित्तक नाम हैं क्योंकि कृष्ण आदि गुणों के निमित्त से उन गुण वाले द्रव्यों में ये नाम व्यवहार से आते हैं। गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया निमित्तक नाम हैं क्योंकि गाना, नाचना आदि क्रियाओं के निमित्त से गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहार में आते हैं। इस तरह जाति आदि इन चार निमित्तों को छोड़कर संज्ञा की प्रवृत्ति में अन्य कोई निमित्त नहीं है।[3]

3. धवला पु. 1

स्थापना निक्षेप—काष्ठ-कर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदि में 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। किसी नाम को धारण करने वाले दूसरे पदार्थ की 'वह यह है' इस प्रकार स्थापना करने को स्थापना कहते हैं। वह स्थापना निक्षेप दो प्रकार का है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार को धारण करने वाली वस्तु में सद्भाव स्थापना समझना चाहिए तथा जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार से रहित वस्तु में असद्भाव स्थापना जानना चाहिए।

लेखनी से लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर और खनन अर्थात् छैनी, टाँकी आदि के द्वारा बंधन अर्थात् चिनाई, लेप आदि के द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् साँचे आदि में ढलाई आदि के द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापना की गई हो, बुद्धि से तदनुरूप गुणसमूहों की कल्पना की गई हो ऐसी तदाकार आकृति को सद्भाव स्थापना मंगल कहते हैं।

शतरंज आदि के खेल में राजा, मंत्री आदि की और खेलने की कौड़ी व पासों में संख्या की आरोपणा असद्भावस्थापना है।[4]

द्रव्यनिक्षेप—भूत-भावी का कथन वर्तमानकाल में करना द्रव्य निक्षेप होता है किन्तु विशेषता यह है कि वर्तमान में उस पर्याय का अभाव होता है। जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जाएगा या गुणों को प्राप्त होगा वह द्रव्य निक्षेप है। आगे होने वाली पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए द्रव्य को (इस पर्याय की अपेक्षा) द्रव्यनिक्षेप कहते हैं अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को द्रव्य निक्षेप कहते हैं। जैसे बालक को युवा या वृद्ध को बालक कहना। आगम व नो आगम के भेद से द्रव्य निक्षेप दो प्रकार का है। शास्त्र को जानने वाला किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित आगम द्रव्य है।

उस जीव का शरीर नोआगम द्रव्य जाना जाता है। नोआगम द्रव्य तीन प्रकार का है—ज्ञायक शरीर, भावी व तद्व्यतिरिक्त। ज्ञायक का त्रिकालगोचर शरीर ज्ञायकशरीर नो आगम द्रव्य है। यह वर्तमान, भूत व भावी की अपेक्षा तीन प्रकार का है। वर्तमान में उपयोग से रहित ज्ञायक का शरीर वर्तमान ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य है। शास्त्र का ज्ञाता पर वर्तमान में उपयोग से रहित जीव का भावी शरीर, भावी ज्ञायक शरीर जानना चाहिए। ज्ञायक का च्युत

---

4. धवला पु. 1

आदि भूत शरीर भूत ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य है। यह भूत शरीर भी च्युत, च्यावित व त्यक्त के भेद से तीन प्रकार का है।

कदलीघात मरण (अकाल मृत्यु) के बिना, पके हुए फल के समान कर्म के उदय से झड़ने वाले आयुकर्म के क्षय से अपने आप पतित शरीर को च्युत शरीर कहते हैं। कदलीघात के द्वारा छिन्न आयु के क्षय हो जाने से छूटे हुए शरीर को च्यावित शरीर कहते हैं। पुनः प्रायोपगमन, इंगिनी व भक्त प्रत्याख्यान के भेद से त्यक्त शरीर तीन प्रकार का कहा गया है। इन विधियों से छूटा शरीर त्यक्त शरीर जाना जाता है।

पर्यायार्थिक नय से नाना पर्याय की प्राप्ति के लिए अभिमुख जीव भावी नोआगम द्रव्य है। कर्म व नोकर्म के भेद से तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य दो प्रकार का है। ज्ञानावरण आदि गत पुद्गल द्रव्य कर्मतद्व्यतिरिक्त नो आगमद्रव्य है तथा शरीरपना रूप परिणाम के लिए उत्साह रहित जो आहारादि वर्गणा रूप एकत्रित हुए पुद्गल द्रव्य हैं वह नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य है। यह लौकिक व लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। वे दोनों भी सचित्त, अचित्त व मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। जीव द्रव्य सचित्त है। चेतन से विहीन सब कुछ अचित्त है तथा जीव व पुद्गल के संयोग से मिश्र जानना चाहिए।

भाव निक्षेप—वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। आगमभाव व नोआगम भाव के भेद से भाव निक्षेप दो प्रकार का है। शास्त्र को जानने वाला व वर्तमान में उसके उपयोग से युक्त आगम भाव निक्षेप है एवं जीवन पर्याय से युक्त आत्मा या गुण परिणत आत्मा नोआगम भाव जीव है।

इस प्रकार चार प्रकार के निक्षेपों का व्याख्यान किया है।

नयों के भेदों की व्युत्पत्ति

द्रव्यार्थिक नय

द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः॥184॥

अर्थ—द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—जिस नय का विषय द्रव्य ही है। जो नय पर्यायों को कभी ग्रहण नहीं करता मात्र द्रव्य को ही ग्रहण करता है। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है।

तत्राशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः। —श्लो. वा

जब सब अंशों को गौण रूप से तथा अंशी को मुख्य रूप से जानना इष्ट हो, तब द्रव्यार्थिक नय का व्यापार होता है।

द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः। –स.सि.

द्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक है।[1]

अथवा द्रव्यार्थिक नय प्रमाण के विषयभूत द्रव्यपर्यायात्मक तथा एकानेकात्मक अनेकांतस्वरूप अर्थ का विभाग करके पर्यायार्थिकनय के विषयभूत भेद को गौण करता हुआ, उसकी स्थितिमात्र को स्वीकार कर अपने विषयभूत द्रव्य को अभेदरूप व्यवहार कराता है, अन्य नय के विषय का निषेध नहीं करता। इसलिए दूसरे नय के विषय की अपेक्षा रखने वाले नय को सद्नय कहा है। जैसे–यह कहना कि 'सोना लाओ'। यहाँ द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से 'सोना लाओ' के कहने पर लाने वाला कड़ा, कुण्डल या केयूर इनमें से किसी को भी ले आने से कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि सोना रूप से कड़ा आदि में कोई भेद नहीं है।[2]

तद्भावलक्षण वाले सामान्य से अर्थात् पूर्वोत्तर पर्यायों में रहने वाले ऊर्ध्वता सामान्य से जो अभिन्न है और सादृश्य लक्षण सामान्य से अर्थात् अनेक समान जातीय पदार्थों में पाए जाने वाले तिर्यग्सामान्य से जो कथंचित् अभिन्न है, ऐसी वस्तु को स्वीकार करने वाला द्रव्यार्थिक नय है।[3] प्रवचनसार में उदाहरण देते हुए कहा है पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायस्वरूप विशेषों में रहने वाले एक जीव सामान्य को देखने वाले और विशेषों को न देखने वाले जीवों को 'यह सब जीव द्रव्य है', इस प्रकार बोध होता है।

कहा भी है–

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया। –स.सा.

द्रव्यार्थिक नय से जीव शुद्धाशुद्ध पर्यायों से रहित है।

इस प्रकार द्रव्य ही जिसका अर्थ या विषय है वह द्रव्यार्थिक नय है।

---

1. (अ) द्रव्यविषयो द्रव्यार्थः। –श्लो.वा.
   (ब) द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरियर्त्थः। तद्षियो द्रव्यार्थिकः। –स.सि.
   (स) पज्जयगउणं किच्चा दव्वंपिय जो गिहणाए लोए सो दव्वत्थिय भणिओ–ण.च.
2. न्या. दी.
3. क. पा. 1

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय

शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः॥185॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करने वाला शुद्धद्रव्यार्थिक नय कहलाता है। यह नय केवल शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है। जैसे कोई व्यक्ति दूध, कोई घी, कोई मट्ठा देखता है इत्यादि सबके अलग-अलग प्रयोजन हैं। जिसका जो प्रयोजन है वह उसी को देखता है उसी प्रकार नयों के भी प्रयोजन होते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है।

शुद्धं वागतिवतितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं शुद्धादेश इति। —पं.वि.

शुद्ध तत्त्व वचन के अगोचर है, ऐसे शुद्ध तत्त्व को ग्रहण करने वाला नय शुद्धादेश है।

शुद्धद्रव्यार्थेन चरतीति शुद्धद्रव्यार्थिकः॥ —न.च.

जो शुद्ध द्रव्य के अर्थ रूप से आचरण करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

धर्मादि चार द्रव्य, सिद्ध जीव व पुद्गल परमाणु शुद्ध होने से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय

अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धद्रव्यार्थिकः॥186॥

अर्थ—अशुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—विभाव रूप या अशुद्ध रूप द्रव्यों को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने धवला जी पु. 9 में कहा है—

पर्यायकलंकिततया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनयः।

पर्याय कलंक से युक्त होने के कारण व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

कर्मयुक्त जीव, द्व्यणुकादि स्कंध रूप पुद्गल इस नय का विषय है।

अन्वय द्रव्यार्थिक नय

सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीति अन्वय-द्रव्यार्थिकः॥187॥

अर्थ—जो नय सामान्य गुण, पर्याय, स्वभाव को यह द्रव्य है, यह द्रव्य है। इस प्रकार अन्वयरूप से द्रव्य की व्यवस्था करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ–गुण, पर्याय, स्वभाव द्रव्य में अन्वय रूप से रहते हैं। इस प्रकार गुणादि को जो द्रव्यों के साथ रहता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है। जैसे आम का वर्ण, गंध, रसादि उससे पृथक् नहीं है, आम के ग्रहण से सबका ग्रहण हो जाता है।

णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण सव्वदव्वेहिं।
विवहावणाहि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिदो॥198॥ –ण.च.

निःशेष स्वभावों को जो सर्व द्रव्यों के साथ अन्वय या अनुस्यूत रूप से कहता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है 'जो पूर्वोक्त उत्पाद आदि तीन का तथा स्वसंवेदनज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीन गुणों का (उपलक्षण से संपूर्ण गुण व पर्यायों का) आधार है वह अन्वय द्रव्य कहलाता है। वह जिसका विषय है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

निःशेषगुणपर्यायान् प्रत्येकं द्रव्यमब्रवीत्।
सोऽन्वयो निश्चयो हेम यथा सत्कटकादिषु॥8॥ –न.च.

जो संपूर्ण गुणों और पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाता है, वह विद्यमान कड़े वगैरह में अनुबद्ध रहने वाले स्वर्ण की भाँति अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

स्वद्रव्यादि ग्राहक नय

स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति स्वद्रव्यादिग्राहकः॥188॥

अर्थ–स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव अर्थात् स्वचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्याथिक नय है।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से ही अस्तित्व है। स्वचतुष्टय से ही अस्तिरूप है। स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय स्वचतुष्टय द्रव्य को ग्रहण करना है।

परद्रव्यादि ग्राहक नय

परद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परद्रव्यादिग्राहकः॥189॥

अर्थ–परद्रव्यादि को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ–परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव अर्थात् परचतुष्टय की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य का नास्तित्व स्वभाव है। परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव को ग्रहण करना है।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय

परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभावग्राहकः॥190॥

अर्थ—परम भाव ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

विशेषार्थ—द्रव्य के मूल या परम स्वभाव को जो ग्रहण करता है वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। द्रव्य चाहे स्वभाव रूप हो या विभाव रूप हो इस उपचार से रहित द्रव्य के मूल भाव को ग्रहण करने वाला परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है। जैसे कर्म के उदय, क्षय, क्षयोपशमादि से रहित जीव के भव्य, अभव्य, जीवत्व ये पारिणामिक भाव हैं ये पारिणामिक या परम भाव जिसका विषय है वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

पर्यायार्थिक नय

पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः॥191॥

अर्थ—पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—पर्याय ही जिसका विषय है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है।[1] द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में पर्याय को ही मुख्यरूप से जो अनुभव करता है वह पर्यायार्थिक नय है।[2] द्रव्य को गौण करके जो पर्याय को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। जब पर्यायार्थिक नय की विवक्षा होती है तब द्रव्यार्थिक नय को गौण करके प्रवृत्त होने वाले पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से 'कुण्डल लाओ' यह कहने पर लाने वाला कड़ा आदि के लाने में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि कड़ा आदि पर्याय से कुंडल पर्याय भिन्न है।[3]

आचार्य अकलंकदेव स्वामी ने भी कहा है—रूपादि गुण तथा उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि कर्म या क्रिया लक्षण वाली ही पर्याय होती है। ये पर्याय ही जिसका अर्थ है, उससे अतिरिक्त द्रव्य कुछ नहीं है, ऐसा पर्यायार्थिक नय है।[4] प्रवचनसार की टीका में प्ररूपित है जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है

---

1. (अ) पर्यायविषयः पर्यायार्थः। —श्लो.वा.
   (ब) पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः। —स.सि.
2. द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि....पर्यायं मुख्यतयानुभवतीति पर्यायार्थिकः। —स.सा./आ.टी.
3. द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानपर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डल-मानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते, कटकादिपर्यायात् कुंडलपर्यायस्य भिन्नत्वात्। —न्या.दी.
4. पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो, न ततोऽन्यद् द्रव्यमिति पर्यायार्थिकः। —रा.वा.

तब जीवद्रव्य में रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवों को अन्य-अन्य भासित होता है क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है—कंडे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति।[5]

'पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।। —स.सा.

पर्यायार्थिक नय से शुद्ध जीव शुद्ध गुण-पर्यायों से व अशुद्ध जीव अशुद्ध गुण पर्यायों से युक्त होता है।

इस प्रकार पर्याय ही जिसका प्रयोजन या विषय है वह पर्यायार्थिक नय जानना चाहिए।

अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय

अनादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यानादिनित्यपर्यायार्थिकः।।192।।

अर्थ—अनादिनित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है वह अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—जिस नय का प्रयोजन अनादिनित्य पर्याय है अर्थात् द्रव्य की ऐसी पर्याय जिसका कोई प्रारंभ नहीं और कभी नष्ट नहीं होगी, उसको ग्रहण करने वाला अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय है। जैसे—हिमवनादि पर्वत, पंचमेरु, गजदंत, यमक, दिग्गजादि पर्वत, पद्मादि द्रह, अकृत्रिम जिनालय इत्यादि। ये सभी पुद्गल की अनादिनित्य पर्याय हैं अतः अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय का विषय है।

सादिनित्य पर्यायार्थिक नय

सादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति सादिनित्यपर्यायार्थिकः।।193।।

अर्थ—सादिनित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है वह सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ—जिस नय का प्रयोजन सादिनित्य पर्याय है वह सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् द्रव्य की ऐसी पर्याय जिसका प्रारंभ तो है, आदि तो है किन्तु अंत नहीं है। जो कभी नष्ट नहीं होगी उसको ग्रहण करने वाला सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है। जैसे—कर्मों का नाशकर जीव के सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है और अब कभी नाश को प्राप्त नहीं होगी, अनंतकाल तक अवस्थित रहेगी अतः यह सिद्ध पर्याय सादिनित्य पर्यायार्थिक नय का विषय है।

---

5. प्र.सा./त.प्र./114

शुद्ध पर्यायार्थिक नय

शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धपर्यायार्थिकः॥194॥

अर्थ–शुद्ध पर्याय जिसका प्रयोजन है वह शुद्धपर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ–जिस नय का प्रयोजन द्रव्य की शुद्ध पर्याय है वह शुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

'शुद्धपर्यायार्थेन चरतीति शुद्धपर्यायार्थिकः'। –न.च.

शुद्ध पर्याय के अर्थ रूप से आचरण करने वाला शुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

शुद्ध द्रव्य की पर्याय शुद्ध होती है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, जीव की सिद्ध पर्याय और परमाणु रूप पुद्‌गल द्रव्य शुद्ध द्रव्य है। तब इनकी पर्यायें भी शुद्ध हैं, वे पर्यायें शुद्ध पर्यायार्थिक नय का विषय हैं।

अशुद्ध पर्यायार्थिक नय

अशुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धपर्यायार्थिकः॥195॥

अर्थ–अशुद्ध पर्याय जिसका प्रयोजन है वह अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

विशेषार्थ–जिस नय का प्रयोजन द्रव्य की अशुद्ध पर्याय है, जो द्रव्य की अशुद्ध पर्याय को विषय करता है वह अशुद्ध पर्यायार्थिक नय होता है।

अशुद्धपर्यायार्थेन चरतीति अशुद्धपर्यायार्थिकः।' न. च.

अशुद्ध पर्याय के अर्थ रूप से आचरण करने वाला अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

कर्मबद्ध संसारी जीव द्रव्य और द्व्यणुकादि स्कंध रूप पुद्‌गल द्रव्य ये अशुद्ध द्रव्य है। तब इनकी पर्याय भी अशुद्ध होंगी। ये अशुद्ध पर्यायें ही अशुद्ध पर्यायार्थिक नय का विषय हैं।

नैगम नय

नैकं गच्छतीति निगमः, निगमोविकल्पस्तत्रभवो नैगमः॥196॥

अर्थ–जो एक को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह निगम है। निगम का अर्थ विकल्प है। जो विकल्प को ग्रहण करे वह नैगम नय है।

विशेषार्थ–किसी कार्य को करने का विचार कर उसे प्रारंभ किए जाने पर कार्य पूर्ण नहीं हुआ तब भी उसे संकल्प रूप ग्रहण करने वाला, पूर्ण हुए रूप कथन करने वाला नैगम नय जानना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति जो स्टडी रूम की ओर जा रहा है किसी ने पूछा क्या कर रहे हो? बोला निबंध लिख रहा हूँ। तब निबंध के पूर्ण होने तक जितने निगम या

विकल्प होंगे वह नैगमनय उन सभी को ग्रहण करता है। निबंध लिखने रूप संकल्प मात्र को ग्रहण करता है। जैसे कोई महिला आटा छान रही है तब 'क्या कर रही हो' किसी के ऐसा कहने पर वह कहती है 'रोटी बना रही हूँ।' रोटी बनी नहीं है, परंतु रोटी बनाने के संकल्प मात्र को ग्रहण किया है। रोटी बनने तक आटा गूंथना, लोई बनाना, बेलना आदि जितने भी विकल्प हैं उन सभी को ग्रहण किया है। कोई चावल लेने जाते हुए कहता है 'भात पका रहा हूँ' तब चावल लाना, धोना, शोधना इत्यादि अनेक विकल्पों को ग्रहण करता है, नैगम न + एकम् अर्थात् एक को नहीं अनेक को ग्रहण करने वाला नैगम नय है।

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने लिखा है–

नैकगमो नैगमः द्रव्यपर्यायद्वयं मिथो विभिन्न-मिच्छन् नैगम इति यावत्। –ध. 13

जो एक को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह नैगम नय है।

अथवा **अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। –स.सि.**

जो अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करता है, उसे नैगम नय कहते हैं।[1]

यदस्ति न तद् द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूप द्रव्यार्थिको नैगम इति यावत्। –ध. 1

जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह व व्यवहार नय को छोड़कर नहीं रहता। इस तरह जो एक को ही प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है उसे नैगम नय कहते हैं।

संग्रह नय

अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः॥197॥

अर्थ–जो नय अभेद रूप से संपूर्ण वस्तु समूह को विषय करता है, वह संग्रह नय है।

विशेषार्थ–अपनी जाति का विरोध न करते हुए संपूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने वाला संग्रह नय कहलाता है। आचार्य भगवन् श्री विद्यानंदि स्वामी ने संग्रह नय का निरुक्त्यर्थ इस प्रकार प्रतिपादित किया है–

सममेकीभाव सम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते॥ –श्लो.वा.

---

1. तत्र संकल्पमात्रग्राहको नैगमो नयः। –श्लो.वा.

सम् + ग्रह = संग्रह। 'सम्' शब्द दो अर्थों में वर्तता है–संपूर्ण और समीचीन। इस प्रकार इसका निरुक्त्यर्थ विचारा जाता है कि समस्त पदार्थों को सम्यक् प्रकार एकीकरण करके जो अभेद रूप से ग्रहण करता है वह संग्रह नय है।

इसी बात को श्री सर्वार्थसिद्धिकार ने भी कहा है–

स्वजात्यविरोधनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः।

भेद सहित सब पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला संग्रह नय है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में प्ररूपित है–

जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविहदव्वपज्जायं।
अणुगमलिंगविसिट्ठं सो वि णओ संगहो होदि।।272।।

जो नय समस्त वस्तु का अथवा उसके देश का अनेक द्रव्यपर्याय सहित अन्वय लिंगविशिष्ट संग्रह करता है, उसे संग्रह नय कहते हैं।

संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते। –स्या.म.

विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य से जानने को संग्रह नय कहते हैं।

जैसे किसी ने कहा 'कुंडल' तब कुंडल कह देने से यह आर्टिफिशियल, सोने, चांदी, डायमंड, प्लेटिनम आदि सभी कुंडलों को ग्रहण करेगा। 'बर्तन' कहने से ग्लास, चम्मच, प्लेट, कढ़ाई आदि सभी बर्तनों को ग्रहण करेगा। धातु कहने से यह स्वर्ण, चांदी, लोहा, तांबा, पीतलादि सर्व धातुओं का ग्रहण करेगा।

सर्वार्थसिद्धि में संग्रह नय का उदाहरण देते हुए कहा है यथा–सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहने पर 'सत्' इस प्रकार के वचन और विज्ञान की अनुवृत्ति रूप लिंग से अनुमित सत्ता के आधारभूत सब पदार्थों का सामान्य रूप से संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहने पर भी 'उन-उन पर्यायों को द्रवता अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-प्रभेदों का संग्रह हो जाता है। 'घट' ऐसा कहने पर भी 'घट' इस प्रकार की बुद्धि और 'घट' इस प्रकार के शब्द की अनुवृत्ति रूप लिंग से अनुमित (मृद्घट स्वर्णघट आदि) सब घट पदार्थों का संग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी संग्रह नय का विषय समझना चाहिए।

व्यवहार नय

संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः॥198॥

अर्थ—संग्रह नय से ग्रहण किए हुए पदार्थ को भेदरूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, वह व्यवहार नय है।

विशेषार्थ—व्यवहार का अर्थ भेद करना अर्थात् भेद करके कथन करने वाला व्यवहार नय जाना जाता है। धवला जी-1 में प्ररूपित है—

पडिरूवं पुण वयणत्थणिच्छयो तस्स ववहारो।

वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्द का निश्चय करना व्यवहार है।

अथवा **संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विविधपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। —स.सि.**

संग्रह नय द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार नय है।

पंचाध्यायी में भी कहा है—

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात्॥

विधिपूर्वक भेद करने का नाम व्यवहार है। यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है, परमार्थ नहीं। जैसा कि यहाँ पर गुण और गुणी में सत् रूप से अभेद होने पर जो भेद करना है वह व्यवहार नय कहलाता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि भेद की क्या विधि है? इसका उत्तर देते हुए बताते हैं—

जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थ है उसी के आनुपूर्वी क्रम से व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है। यथा—सर्व संग्रहनय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गई है, वह अपने उत्तरभेदों के बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है इसलिए व्यवहारनय का आश्रय लिया जाता है। यथा—जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण। इसी प्रकार संग्रहनय का विषय जो द्रव्य है वह भी जीव अजीव की अपेक्षा किए बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है, इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय लिया जाता है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रह नय के विषय रहते हैं, तब तक वे व्यवहार कराने में असमर्थ हैं इसलिए जीवद्रव्य के देव, नारकी आदि रूप और अजीव द्रव्य के घटादि रूप भेदों का आश्रय लिया जाता है।

पुनः कोई प्रश्न करता है कि इस व्यवहार नय की प्रवृत्ति कहाँ तक होती है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि संग्रह गृहीत अर्थ को विधिपूर्वक भेद करते हुए इस नय की

प्रवृत्ति वहाँ तक होती है जहाँ तक कि वस्तु में अन्य कोई विभाग करना संभव नहीं रहता। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है–

जं संगहेण गहिदं विसेसरहिदं पि भेददे सददं।
परमाणूपज्जंतं ववहारणओ हवे सो हु॥273॥

जो नय संग्रहनय के द्वारा अभेद रूप से गृहीत वस्तुओं का परमाणु पर्यंत भेद करता है वह व्यवहार नय है।

इस प्रकार संग्रह नय के द्वारा गृहीत पदार्थों को भेदरूप से ग्रहण करने वाला व्यवहार नय जानना चाहिए।

ऋजुसूत्र नय

ऋजुप्रांजलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः॥199॥

अर्थ–जो नय ऋजु अर्थात् अवक्र, सरल को सूत्रित अर्थात् ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

विशेषार्थ–ऋजु का अर्थ है सरल और सूत्र का अर्थ है ग्रहण करना अर्थात् जो सरल को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि में प्ररूपित है–ऋजु का अर्थ प्रगुण है। ऋजु अर्थात् सरल को सूत्रित करता है अर्थात् स्वीकार करता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्र नय भूत-भविष्यत् में व्याप्त त्रिकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण न करके मात्र वर्तमानकाल के पदार्थ (पर्याय) को ही ग्रहण करता है। वर्तमान काल वस्तुतः एक समय का है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि जो नय मात्र एक समय की पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।

स्थूल अपेक्षा से वर्षों तक रहने वाली मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायें भी वर्तमानकालिक कही जाती हैं और ऋजुसूत्रनय का विषय भी मानी जाती हैं। इस प्रकार इस ऋजुसूत्रनय के सूक्ष्म व स्थूल दो भेद भी पूर्व में कहे गए हैं।

शब्दनय

शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्ध-शब्दः शब्दनयः॥200॥

अर्थ–जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्पन्न शब्द को मुख्यकर विषय करता है, वह शब्द नय है।

विशेषार्थ–जो नय लिंग, पुरुष, कारक, संख्या आदि के व्यभिचार को ग्रहण नहीं करता वह शब्द नय है।[1] यह व्याकरण से प्रकृति-प्रत्ययादि द्वारा सिद्ध किए गए शब्दों का ही प्रयोग करता है। यहाँ तक कि व्याकरण में तो कदाचित् अपवाद रूप से लिंग, संख्या, साधनादि के अन्यथा प्रयोग को स्वीकार किया गया है किन्तु शब्द नय उन अन्यथा प्रयोगों को भी स्वीकार नहीं करता, वह तो लिंग, संख्या, साधनादि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला होता है।[2]

'कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्। सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः।' –श्लो.वा.

जो नय काल, कारक आदि के भेद से अर्थ के भेद को समझता है, वह शब्द प्रधान होने के कारण शब्दनय कहा जाता है।

जो वहणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंग आईणं।
सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुंसाइआण जहा॥213॥ ण.च.

जो भिन्न लिंगादि वाले शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति नहीं मानता वह शब्दनय है, जैसे पुरुष, स्त्री आदि।

'शपति' अर्थात् जो पदार्थ को बुलाता है अर्थात् पदार्थ को कहता है या उसका निश्चय कराता है वह शब्दनय है। काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह आदि के भेदों से जो नय भिन्न अर्थ को समझाता है वह नय शब्द प्रधान होने से शब्दनय कहा गया है।[3]

समभिरूढ़ नय

परस्परेणाभिरूढ़ाः समभिरूढ़ाः। शब्दाभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति। यथा शक्रः इन्द्रः पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढ़ाः॥201॥

अर्थ–परस्पर में अभिरूढ़ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय समभिरूढ़ नय है। इस नय के विषय में शब्द भेद होने पर भी अर्थ भेद नहीं है। जैसे शक्र, इन्द्र, पुरन्दर ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने से देवराज में ही अभिरूढ़ हैं।

विशेषार्थ–शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु उन सबको छोड़कर एक रूढ़ि अर्थ को ग्रहण करने वाला समभिरूढ़ नय जाना जाता है। नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला होने

1. लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। –स.सि.
2. स.सि.
3. कालकारकलिंगसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः। –श्लो.वा.

से समभिरूढ़ नय कहलाता है क्योंकि जो नाना अर्थों को सम अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़ नय है। उदाहरणार्थ-गो इस शब्द की वचन, पृथ्वी आदि 11 अर्थों में प्रवृत्ति मानी जाती है, तो भी इस नय की अपेक्षा वह एक पशु विशेष के अर्थ में रूढ़ है।[1] नयचक्र में उदाहरण देते हुए कहा है–**''एकवारमष्टोपवासं कृत्वा मुक्तेऽपि तपोधनं रूढ़िप्रधानतया यावज्जीवमष्टोपवासीति व्यवहरन्ति स तु समभिरूढ़नयः॥''**

एक बार आठ उपवास करके मुक्त हो जाने पर भी तपोधन को रूढ़ि की प्रधानता से यावज्जीवन अष्टोपवासी कहना समभिरूढ़ नय है।

जैसे देवों के द्वारा चरण पूजे जाने से आचार्य श्री देवनंदी स्वामी का आचार्य पूज्यपाद स्वामी नाम विख्यात हुआ, यह समभिरूढ़ नय है। आचार्य श्री अजितसेन सूरि जो वादी रूपी हाथियों के लिए सिंह के समान थे, कोई वादी-प्रतिवादी उनके समक्ष ठहर नहीं पाता था अतः वे आचार्य श्री वादीभसिंहसूरी के नाम से विख्यात हुए, यह समभिरूढ़ नय है। चारित्र में दृढ़ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज को चारित्रचक्रवर्ती कहना यह समभिरूढ़ नय है। संपूर्ण सिद्धांत ग्रंथों का अध्ययन करने से आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज सिद्धांत चक्रवर्ती रूप जाने जाते हैं यह भी समभिरूढ़ नय है।

यद्यपि शब्द भेद से अर्थ भेद भी हो जाता है। अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी हालत में एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है इसलिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दों में भेद है तो अर्थ भेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला समभिरूढ़ नय कहलाता है। जैसे–इंद्र, शक्र व पुरंदर में तीन शब्द होने से इनके अर्थ भी तीन हैं क्योंकि व्युत्पत्ति की अपेक्षा ऐश्वर्यवान् होने से इन्द्र, समर्थ होने से शक्र और नगरों का दारण करने से पुरंदर होता है।[2] विशेष यह है यहाँ आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने कहा है कि जो शब्द परस्पर में अभिरूढ़ या प्रसिद्ध हैं उन शब्दों में भेद होते हुए भी अर्थ भेद नहीं होता। जैसे–शक्र, इन्द्र व पुरंदर ये तीनों शब्द एक देवराज के लिए अभिरूढ़ या प्रसिद्ध हैं।

---

1. **नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढ़ः। यतो नानार्थान्समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढ़ः समभिरूढ़ः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु वर्तमानः पशावभिरूढ़ः। –स.सि.**
2. **स.सि.**

एवंभूत नय

एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयत इत्येवंभूतः॥202॥

अर्थ–जिस नय में वर्तमान क्रिया की प्रधानता होती है, वह एवंभूत नय है।

विशेषार्थ–क्रिया के अनुरूप विषय करने वाला एवंभूत नय जानना चाहिए। जैसे– पढ़ाता हुआ अध्यापक और वही व्यक्ति यदि पूजा कर रहा है तो पुजारी इत्यादि।

जं जं करेइ कम्मं देही मणवयणकायचेट्ठादो।
तं तं खु णामजुत्तो एवंभूदो हवे स णओ॥215॥ णयचक्को

प्राणी मन, वचन और काय की चेष्टा से जो जो क्रिया करता है उस-उस नाम से युक्त होता है–यह एवंभूत नय जानना चाहिए। जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करने वाले या नाम देने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है उस रूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयों में नहीं। जैसे–जिस समय आज्ञा व ऐश्वर्यवान् हो उस समय ही इंद्र है, अन्य समयों में नहीं। जब गमन करती हो तभी गाय है, बैठी या सोती हुई नहीं।[1] स्याद्वाद मंजरी में एक श्लोक उद्धृत है जो इस प्रकार है–

एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोत्पद्यते।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते॥

वस्तु अमुक क्रिया करने के समय ही अमुक नाम से कही जा सकती है, वह सदा एक शब्द का वाच्य नहीं हो सकती, इसे एवंभूतनय कहते हैं।

किसी को समभिरूढ़ व एवंभूत नय में एकपने का भ्रम होने पर उसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि समभिरूढ़ नय तो सामर्थ्य धारण रूप क्रिया के होने पर अथवा नहीं होने पर भी देवों के राजा इन्द्र को 'शक्र' कहने का, तथा गमन क्रिया के होने पर अथवा न होने पर भी अर्थात् बैठी या सोती हुई अवस्था में भी पशु विशेष को 'गौ' कहने का अभिप्राय रखता है क्योंकि उस प्रकार रूढ़ि का सद्भाव पाया जाता है। किन्तु एवंभूत नय तो सामर्थ्य धारण रूप क्रिया से परिणत ही देवराज को शक्र और गमन क्रिया से परिणत ही पशुविशेष को 'गौ' कहने का अभिप्राय रखता है, अन्य अवस्थाओं में नहीं।[2] अर्थात् समभिरूढ़ नय तो

---

1. येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसायतीति एवंभूतः। स्वाभिप्रेतक्रिया–परिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यथेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शायेतो इति। –स.सि.
2. श्लो. वा.।

वस्तु की हर अवस्था में उसे स्वीकार कर लेता है जबकि एवंभूतनय तभी स्वीकार करता है जब वह तत्क्रिया रूप परिणत हो।

'एवंभेदे भवनादेवंभूतः' धवला जी पु. 1 में कहा है एवंभेद अर्थात् जिस शब्द का जो वाच्य है वह तद्रूप क्रिया से परिणत समय में ही पाया जाता है, उसे जो विषय करता है वह एवंभूतनय है।

इस प्रकार नैगमादि सात नयों का कथन किया गया। ये सातों ही नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म होते जाते हैं। कहा भी है-'चिड़िया ग्राम में, वृक्ष में, झाड़ी में, शाखा में, शाखा के एक भाग में, अपने शरीर में तथा कण्ठ में चहचहाती है।

इस दृष्टांत में कहे गए सात स्थान सूक्ष्म-सूक्ष्म होते गए हैं। इसी प्रकार नैगमादि सात नयों का विषय भी सूक्ष्म-सूक्ष्म होता गया है।

धवला जी-7 में जहाँ नरक गति का वर्णन किया है वहाँ नयानुसार इस प्रकार कहा है 'किसी मनुष्य को पापी जीवों का समागम करते हुए देखकर नैगम नय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है। जब वह मनुष्य प्राणिवध करने का विचार कर सामग्री का संग्रह करता है तब वह संग्रह नय से नारकी है। जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष व बाण लिए मृगों की खोज में भटकता फिरता है तब वह व्यवहार नय से नारकी कहलाता है। जब आखेट स्थान पर बैठकर वह पापी, मृगों पर आघात करता है तब वह ऋजुसूत्र नय से नारकी है। जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाये तभी वह आघात करने वाला, हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य शब्द नय से नारकी है। जब मनुष्य नारक कर्म का बंधक होकर नारक कर्म से संयुक्त हो जाए तब वह समभिरूढ़ नय से नारकी है। जब वही मनुष्य नरक गति को पहुँचकर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है तब वह एवंभूत नय से नारकी है।

द्रव्यार्थिक नय भेद

शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ॥203॥

अर्थ-शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय ये दोनों द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं।

विशेषार्थ-एकत्व को प्राप्त कराने वाला शुद्ध व अशुद्ध निश्चय नय, ये द्रव्यार्थिक नय के दो भेद जानने चाहिए।

शुद्ध नय द्रव्य की शुद्ध दशा को ग्रहण करता है चाहे वह द्रव्य वर्तमानकाल में शुद्ध है या नहीं उसे इससे कुछ प्रयोजन नहीं, उसका ध्यान बस उसी पर रहता है जो उसका विषय

है। जैसे कोई व्यक्ति दूध में मात्र घी देखता है तो कोई दूध में मट्ठा, सबके अपने-अपने प्रयोजन होते हैं ऐसे ही जिसकी दृष्टि घी पर है उसे दूध दिखाई नहीं दे रहा, जिसकी मट्ठे पर है वह मट्ठा ही ग्रहण कर रहा है। अन्य उदाहरण से समझें जैसे कोई व्यक्ति मंदिर में आया वह मंदिर में भगवान् को छोड़कर यह देख रहा है कि मंदिर में इतनी ईंटें लगी होंगी, इतना सीमेंट लगा होगा, इतना लोहा-लेबर-पैसा लगा होगा, वहीं दूसरा व्यक्ति मंदिर में लगे भाव चित्रों को देख रहा है तो सबके प्रयोजन अलग-अलग होते हैं ऐसे ही नयों के भी प्रयोजन होते हैं। द्रव्यार्थिक नय केवल द्रव्य को ग्रहण करता है, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय केवल शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है।

वह शुद्ध द्रव्य को ग्रहण कर रहा है तो इसका आशय ऐसा नहीं मान लेना कि द्रव्य शुद्ध हो गया। वर्तमान काल में कुछ एकांतवादी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय को स्वीकार करके कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से हम शुद्ध हैं, ठीक हैं किन्तु अन्य पर्यायार्थिक आदि नय से अपनी अशुद्ध अवस्था का भी परिज्ञान आवश्यक है। मात्र एक ही पक्ष को मानने वाला जिसने अन्य सभी पक्षों का निषेध कर दिया हो उसे सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है। यहाँ शद्ध द्रव्यार्थिक नय का कथन है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय शुद्ध को ही ग्रहण करता है, अशुद्ध में भी शुद्ध ही देखता है। वह सिद्धों को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध कहेगा और संसारी प्राणियों को भी शुद्ध कहेगा। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से आशय है उसकी शक्ति या उसका जो प्रयोजन है उसे ही ग्रहण करता है। जैसे कोई व्यक्ति समाज के बीच बैठा है और कहता है अमुक व्यक्ति बहुत पैसे वाला है और उसकी प्रशंसा करता है, वहीं दूसरा व्यक्ति जिसका प्रयोजन पैसा नहीं है वह कहता है यह व्यक्ति बहुत सुंदर है उसकी प्रशंसा कर रहा है, तीसरा व्यक्ति उसकी सुंदरता को न ग्रहण कर उसके मधुर कंठ की प्रशंसा कर रहा है, अगले व्यक्ति का प्रयोजन है कि वह बहुत विद्वान् है, अगला कहता है यह बहुत आदरवान् है, अगला कहता है यह बहुत दानी है, प्रतिष्ठावान् है सबके अलग-अलग प्रयोजन हैं।

माना गाँव के सभी व्यक्तियों में से किसी धनवान् का चयन करना है, तो उन सभी में से किसी ने एक का चयन किया जिसके पास धन ज्यादा था क्योंकि धनी को खोजना उसका प्रयोजन था। किसी का प्रयोजन माना सुंदर व्यक्ति को खोजना था तो उसने सुंदर व्यक्ति चुना पर जरूरी नहीं कि वह सुंदर व्यक्ति धनी हो। सबके अलग-अलग प्रयोजन होते हैं व अलग-अलग ही दृष्टिकोण होते हैं। ऐसे ही इन सभी नयों के अलग-अलग दृष्टिकोण

हैं। इनकी दृष्टि का जो प्रकाश है उसका फोकस उसी पर जाता है जहाँ प्रयोजन है अन्य चीज दिखाई नहीं देती है। किन्तु यह नहीं कहते कि उसमें और कुछ नहीं है ये कहते हैं जिस अर्थ से हम देख रहे हैं उस टॉर्च से या प्रकाश से हमें बस वही दिखाई दे रहा है कुछ और दिखाई नहीं दे रहा हम अन्य किसी और को ग्रहण करते ही नहीं, तो ये सापेक्ष नय होते हैं। कोई ये न सोचे कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कह दिया कि आत्मा शुद्ध है, सभी आत्मायें शुद्ध हैं इसका आशय ऐसा नहीं है कि सभी शुद्ध हो गयीं, बस इतना प्रयोजन है कि वह नय शुद्धता को ग्रहण करता है क्योंकि उसमें शुद्ध होने की सामर्थ्य है इसलिए उसे भी वह नय अशुद्ध अवस्था में भी शुद्ध ग्रहण करता है।

जैसे किसी सरसों के व्यापारी से एक किसान ने सौदा कर लिया कि मैं तुम्हें सरसों बेचना चाहता हूँ, मैं आपको 100-200 क्विंटल सरसों दे दूँगा। उसने कहा ठीक है, सरसों कहाँ है? किसान बोला अभी तो मेरे पास सरसों का एक भी दाना नहीं है किन्तु मैंने सरसों खेत में बो दी है मैं चार महीने में तुम्हें दे दूँगा। तो उस व्यापारी को तो उस सरसों से प्रयोजन है। उसने पैसा दे दिया सरसों का। अभी सरसों खेत में खड़ी है, हरी है सरसों के पौधे हैं दाने अभी नहीं हैं, उस पर फूल आ रहे हैं पर इसे विश्वास है कि सरसों आयेगी तो वह सरसों के पौधों में भी सरसों की फसल को देख रहा है। उसे सरसों के दाने ही दिखाई दे रहे हैं। ऐसे ही जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय होता है वह अशुद्ध द्रव्य में भी शुद्ध द्रव्य को ही देखता है। संसारी प्राणी को भी वह शुद्ध नय से देखता है। उसका चश्मा शुद्ध को ही देखने का है। कुछ और दिखाई देगा ही नहीं। जैसे द्रव्य संग्रह में लिखा है–**'सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया'।** दूसरी बात यह है कि जैसे एक्स-रे मशीन व्यक्ति कैसे कपड़े पहना है यह नहीं देखती है वह एक्स-रे मशीन उसकी हड्डी को देखती है। किन्तु यह बात फोटो कैमरा नहीं देखता वह बाहरी आकृति को देखता है।

एक यंत्र ऐसा होता है जो समुद्र के गहरे पड़े हुये सभी रत्नों को देखता है, दूसरा यंत्र है जो केवल उसमें पड़े मोती को देखता है, तीसरा कोई यंत्र है जो उसमें पड़े हीरे को देखता है। सभी यंत्रों का प्रयोजन अलग-अलग है। ऐसे ही सभी नयों का अलग-अलग प्रयोजन होता है। द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन है द्रव्य को ग्रहण करना, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन है शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करना, अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन होता है अशुद्ध द्रव्य को ग्रहण करना।

यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय शुद्ध द्रव्य अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और शुद्ध जीवद्रव्य यानि सिद्धात्मा को और परमाणु को तो ग्रहण करता है किंतु स्कंधों में भी शुद्ध परमाणु बनने की शक्ति है इसलिये वह कहेगा इसमें भी शुद्धता है, स्कंध में भी उसे शुद्ध परमाणु दिखलाई दे रहा है। संसारी जीव में निगोदया जीव ही क्यों न हो उसमें भी कहेगा मुझे सिद्ध दिखाई दे रहा है क्योंकि उसका प्रयोजन उसी को ग्रहण करने का है अन्य को नहीं। जैसे बीज में कोई पूरा वृक्ष देख लेता है क्योंकि उसकी दृष्टि, प्रयोजन वृक्ष ही है।

जैसे द्रोणाचार्य ने अर्जुन की परीक्षा ली कि देखो तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है तो अर्जुन को वृक्ष नहीं दिखाई दे रहा, उसे जंगल-पहाड़ नहीं दिख रहे, उसे तो मात्र वृक्ष पर जहाँ निशाना लगाना था वही लक्ष्यमात्र दिखाई दे रहा था तो इसका आशय यह है कि अन्य सब होते हुये भी दिख नहीं रहा। प्रयोजन जो है वही दिखाई दे रहा है।

''जो आयो जिस काम को उससे और न होय'' जो व्यक्ति जिस कार्य के लिये आया हो वह वही कार्य सम्पन्न करता है।

सभा में आया धर्मात्मा व्यक्ति धर्म को ग्रहण करके जाता है, पापी पापों को ग्रहण करता है। सच्चे व्यक्ति से बुरे कार्य नहीं होते, बुरे व्यक्ति से अच्छे काम नहीं होते क्योंकि सबके अलग-अलग प्रयोजन होते हैं। सभी अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने-अपने प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।

इनका भिन्न-भिन्न कथन आचार्य महाराज स्वयं आगे कर रहे हैं।

निश्चयनय लक्षण

अभेदानुपचारितया वस्तुनिश्चीयत इति निश्चयः॥204॥

अर्थ–अभेद और अनुपचारता से जो नय वस्तु का निश्चय करे वह निश्चय नय है।

विशेषार्थ–गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी आदि के भेद से रहित, उपचार से रहित द्रव्य का कथन इस नय का विषय है।

भेद कथन व एक वस्तु में अन्य वस्तु का उपचार करना इस निश्चय नय का विषय नहीं है। जो अद्वैत वा अखंड वस्तु या द्रव्य का ग्राहक है वह निश्चय नय है।

जैसे सद्भूतव्यवहार नय से कहा जाता है कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये स्वरूप हैं। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह ज्ञायक मात्र है अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वभाव ही है। इस प्रकार गुणस्थान या दर्शनादि का विकल्प जीव में

व्यवहार से ही है, निश्चयनय से तो जीव जीव है, अखंड है। अभिप्राय यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेद रूप व्यवहार नय से वह जलाती है इसलिए दाहक है, पकाती है अतः पाचक है और प्रकाश करती है इसलिए प्रकाशक है इस तरह व्युत्पत्ति के द्वारा विषय के भेद से वह एक रूप भी अग्नि तीन भेद रूप हो जाती है वैसे ही यह जीव भी अभेद रूप निश्चय नय से शुद्धचैतन्य मात्र है।[1]

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥14॥ –स.सा.

जो नय आत्मा को बंध रहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्य के संयोग से रहित देखता है वह शुद्ध नय जानना चाहिए।

अखंड रूप से ग्रहण करने वाला अर्थात् गुण-पर्याय-स्वभावादि का भेद किए बिना यह निश्चय नय द्रव्य का ग्रहण करने से द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

व्यवहार नय का लक्षण

भेदोपचारितया वस्तुव्यवह्रियत इति व्यवहारः॥205॥

अर्थ–जो नय भेद और उपचार से वस्तु का व्यवहार करता है, वह व्यवहार नय है।

विशेषार्थ–भेद करना व्यवहार है। जो नय गुण-गुणी, स्वभाव-स्वभावी, पर्याय-पर्यायी में भेद करके व एक द्रव्य में अन्य का उपचार कर जो कथन करता है वह व्यवहार नय है। जैसे–धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व, जीव का चैतन्य-ज्ञानादि गुण, पुद्गल का स्पर्श, रसादि गुण इस प्रकार भेद कर कथन करना व्यवहार नय का विषय है। आम पीला है, मीठा है, सुगंधित है इत्यादि भेद रूप कथन व्यवहार नय का विषय जानना चाहिए। पुद्गल में जीव द्रव्य के उपचार से अमूर्त्त व जीवद्रव्य में पुद्गल के उपचार से मूर्त्त गुण का कथन करना व्यवहार नय का विषय है।

यदि व्यवहार नय को स्वीकार न किया जाए तो लोकव्यवहार ही संभव नहीं हो सकेगा। आत्मा के ज्ञानादि गुण नर-नारकादि पर्यायों का भेद भी नहीं हो सकेगा। पुद्गल के स्पर्शादि गुण व पुद्गल की दृश्यमान् पर्यायों का भेद संभव नहीं हो सकेगा। उपचार से केवली के जो सर्वज्ञता व सर्वदर्शीपना स्वीकार किया है उसका लोप हो जाएगा। जीव में मूर्त्तत्व के अभाव

1. समयसार, टीका-तात्पर्यवृत्ति श्लो. 7

में संसार का लोप हो जाएगा। अतः व्यवहार अति आवश्यक है। उसके बिना निश्चय को भी प्राप्त करना असंभव है।

कहा भी है–

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।।8।। स.सा.

जैसे म्लेच्छ पुरुष को मलेच्छ भाषा के बिना उपदेश का ग्रहण कराना शक्य नहीं है, वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना भी अशक्य है।

जैसे किसी व्यक्ति से 'आत्मा' ऐसा कहने पर उसके वास्तविक ज्ञान से शून्य व्यक्ति कुछ नहीं जान सकते। तब कोई रत्नत्रय के धारी, वंदनीय आचार्य व्यवहार पथ का अवलंबन कर 'जो दर्शन, ज्ञान व चारित्र को सतत् प्राप्त करता है, उस रूप से परिणत होता रहता है वह 'आत्मा' इस शब्द का अर्थ समझा देते हैं उस समय विशुद्धि व आनंद से युक्त वे व्यक्ति उस 'आत्मा' शब्द का अर्थ समझ पाते हैं, यह व्यवहार नय भी परमार्थ का प्रतिपादक है।

जैसे वायुयान में उड़ने के इच्छुक महानुभाव को उड़ने से पूर्व उस तक पहुँचने के लिए पृथ्वी का आश्रय लेना ही होता है। पुनः उसमें बैठकर कुछ समय पश्चात् वह पृथ्वी स्वयं छूट जाती है अर्थात् वह वायुमार्ग से गतिमान हो जाता है उसी प्रकार निश्चयनय का अवलंबन लेने वाले को पहले व्यवहार नय का अवलंबन लेना ही होता है।

इसी प्रकार ज्ञानी जब ज्ञानादि भेद रूप से आत्मा को समझ लेता है तब वह आगे बढ़कर अभेद रूप से उसे समझने के लिए निश्चयनय का अवलंबन लेता है तभी भेद रूप व्यवहार उसका स्वतः छूट जाता है। अतः भेद व उपचार से कथन करने वाला व्यवहार नय अत्यंतावश्यक है।

सद्भूतव्यवहार नय का लक्षण

गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदात् भेदकः सद्भूतव्यवहारः।।206।।

अर्थ–संज्ञादि के भेद से जो नय गुण-गुणी में भेद करता है, वह सद्भूतव्यवहार नय है।

विशेषार्थ–गुण व गुणी में प्रदेश की अपेक्षा अभेद है। पानी व उसकी शीतलता, अग्नि व उसकी ऊष्णता पृथक्-पृथक् नहीं है। फिर भी वह पृथक्-पृथक् कथन करता है।

सद्भूत अर्थात् स्वभावमय, व्यवहार अर्थात् भेद करना। इस प्रकार जो स्वभावमय गुणों का भेद कर कथन करता है वह सद्भूत व्यवहार है। जैसे–पुद्गल के स्पर्शादि गुण, जीव के ज्ञान–दर्शनादि गुण। सिद्धों में क्षायिक सम्यक्त्व, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व व अवगाहनत्व ये आठ गुण हैं। यह गुण–गुणी में भेद करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। यह सब स्वभावमय हैं किन्तु यह उन सबको भेद कर दर्शाता है अतः सद्भूत व्यवहार नय है।

संज्ञा, लक्षण, संख्या व प्रयोजन की अपेक्षा गुण–गुणी में भेद करने वाला सद्भूतव्यवहार नय जाना जाता है।

असद्भूत व्यवहारनय लक्षण

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणसद्भूतव्यवहारः॥207॥

अर्थ–अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म (स्वभाव) का अन्यत्र समारोप (निक्षेप) करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है।

विशेषार्थ–किसी प्रसिद्ध धर्म का कहीं आरोप करना असद्भूतव्यवहार नय है। जिसका जो स्वभाव है उसका कथन न करके किसी अन्य द्रव्य के स्वभाव का इस द्रव्य में आरोपण करना असद्भूतव्यवहार नय कहलाता है। जैसे मिट्टी के मटके में दूध भरा होने से उसे दूध का मटका कहना अथवा किसी वीर को देखकर कहा वाह! शेर चला आ रहा है। तब शेर के पराक्रम का आरोपण उसमें करना असद्भूत व्यवहार नय का विषय है। किसी जोर से चिल्लाते हुए व्यक्ति को किसी ने कहा तुम कैसे भौंकते हो? अरे! भौंकता तो श्वान है, आदमी थोड़े ही न भौंकता है, वह तो बोलता है किन्तु जोर–जोर से चिल्लाने के कारण श्वान की आवाज का आरोप उसमें कर दिया। इस प्रकार से उपचार किए जाते हैं। गुण–गुणी में भेदकर जीव को ज्ञानवान् व मूर्त्त पदार्थों से उत्पन्न ज्ञान को भी मूर्त्त कहना यह उपचार कर कथन करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है। पंचाध्यायी में कहा है।

अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा।
अन्य द्रव्यस्य गुणाः संजायन्ते बलात्तदन्यत्र॥529॥
स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्स किल मूर्म।
सत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः॥530॥

जिसके कारण अन्य द्रव्य के गुण बलपूर्वक अर्थात् उपचार से अन्य द्रव्य के कहे जाते हैं वह असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे कि वर्णादिमान् मूर्त्तद्रव्य के जो मूर्त्तकर्म हैं, उनके संयोग को देखकर जीव में उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव भी मूर्त्त कह दिए जाते हैं।

मणवयणकायइंदिय-आणप्पाणाउगं च जं जीवे।
तमसब्भूओ भणदि हु ववहारो लोयमज्झम्मि।।112।।
णेयं खु जत्थ णाणं सद्धेयं जं दंसणं भणियं।
चरियं खलु चारित्तं णायव्वं तं असब्भूदं।।329।। णयचक्को

मन, वचन, काय, पाँच इंद्रिय, आनप्राण और आयु ये जो दश प्रकार के प्राण जीव के हैं, ऐसा असद्भूत व्यवहार नय कहता है। ज्ञेय को ज्ञान कहना, श्रद्धेय को दर्शन करना, आचरण करने योग्य को चारित्र कहना; यह सब कथन असद्भूत व्यवहार जानना चाहिए।

जैसे उपचार से कहा–28 मूलगुणों का पालन करने वाली आर्यिका मातायें महाव्रती हैं। तो यह 'महाव्रती' शब्द उपचार से ही उद्घोषित होता है। आपसे कोई पूछे ये रोड कहाँ जा रहा है तो रोड तो कहीं भी नहीं जा रहा किंतु उस रोड पर चलने वाला व्यक्ति कहाँ पहुँचेगा तो उस व्यक्ति का आरोपण करने से कहा तो यह उपचार हो गया। लोक व्यवहार में अन्य उपचार भी किया जाता है। बर्तनों में, वस्त्रों में, स्थानों में, पशु-पक्षियों में उपचार किये जाते हैं इस प्रकार का उपचार करके कहना उपचार नय है।

जैसे कोई कहे-कहाँ जा रहे हो? राम जी के पास जा रहे हैं तो राम जी तो वहाँ हैं नहीं वहाँ तो मंदिर है व मंदिर में उनकी मूर्ति है। किसी व्यक्ति के वस्त्र अन्य व्यक्ति को पहना दिये, किसी ने पूछा ये कौन है तो उस व्यक्ति का नाम बता दिया जिसके वे वस्त्र हैं तो उस व्यक्ति के वस्त्रों का उपचार दूसरे में करके कह दिया। कभी छायाचित्र में उपचार कर दिया, फोटो देखकर कहा ये हमारे देश के राजा हैं तो छायाचित्र में वो हैं नहीं पर उनका चित्र है इसलिये उपचार कर दिया। ऐसे ही किसी बर्तन में कोई वस्तु रखी है उसका भी उपचार कर देते हैं, जैसे कहा भाई पानी की बाल्टी ले आओ अरे! पानी की बाल्टी कहाँ बनती है जिस बाल्टी में पानी रखा है उसे ले आओ। किसी ने कहा खीर का भगोना ले आओ, खीर से भगोना बनता है क्या? नहीं, जिस भगोने में खीर रखी है उसे ले आओ। तो यह बर्तनों में उपचार कर दिया। आभूषणों में उपचार कर देते हैं जैसे किसी महिला ने बहुत सुंदर गहने पहने तो कह दिया ये तो महारानी जैसी लग रही है तो 'महारानी' है नहीं यह वाक्य आभूषण को देखकर उपचार से कह दिया।

इस प्रकार किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोपण करना उपचार कहलाता है। अभेद में भेद करना भेद व्यवहार कहलाता है।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय लक्षण

असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं य करोति स उपचरितासद्भूत व्यवहारः॥208॥

अर्थ–असद्भूत व्यवहार ही उपचार है, जो नय उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय है।

विशेषार्थ–असद्भूत व्यवहार स्वयं ही उपचार है। इस उपचार का भी उपचार करने वाला उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय है।

उवयारा उवयारं सच्चासच्चेसु उहय-अत्थेसु।
सज्जाइ-इयरमिस्सो उवयरिओ कुणइ ववहारो॥242॥ णयचक्को

सत्य, असत्य और सत्यासत्य पदार्थों में तथा स्वजातीय, विजातीय और स्वजातिविजातीय पदार्थों में जो एक उपचार के द्वारा दूसरे उपचार का विधान किया जाता है उसे उपचरितासद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।

सत्यार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार जैसे–किसी देश के राजा को देशपति कहना क्योंकि व्यवहार से वह उस देश का स्वामी है।

असत्यार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार जैसे किसी नगर या देश में रहने के कारण 'यह मेरा नगर है' ऐसा कहना क्योंकि व्यवहार से भी वह उस नगर का स्वामी नहीं है।

सत्यासत्यार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार जैसे–'मेरा द्रव्य' ऐसा कहना क्योंकि व्यवहार से भी कुछ मात्र द्रव्य उसका है सर्व नहीं।[1]

स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार जैसे–'पुत्र बंधु वर्गादि मेरी संपदा है' ऐसा कहना क्योंकि यहाँ चेतन का चेतन पदार्थों में ही स्वामित्व कहा गया है।[2]

विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार जैसे–'आभरण हेम रत्नादि मेरे हैं' ऐसा कहना क्योंकि यहाँ चेतन का अचेतन में स्वामित्व संबंध कहा है।[3]

---

1. **देसवइ देसत्थौ अत्थवणिज्जो तहेव जंपंतो।**
   मे देसं मे दव्वं सच्चासच्चंपि उभयत्थं॥243॥
2. **पुत्ताइबंधुवग्गं अहं च मम संपदादि जप्पंतो।**
   उवयारा सब्भूओ सज्जाइ दव्वेसु णायव्वो॥244॥
3. **आहरणहेमरयणाच्छादीया ममेति जप्पंतो।**
   अवयरिय असब्भूओ, विज्जाइदव्वेसु णायव्वो॥245॥

स्वजाति विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार जैसे–'देश, राज्य, दुर्गादि मेरे हैं' ऐसा कहना, क्योंकि यह सर्व पदार्थ चेतन व अचेतन के समुदाय रूप हैं। इनमें चेतना का स्वामित्व बतलाया गया।[4]

सद्भूत व्यवहारनय का विषय

गुणगुणिनो पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारककारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः॥209॥

अर्थ–गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भेद करना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

विशेषार्थ–गुण-गुणी में भेद करना जैसे केवलज्ञान व केवलज्ञानी। पर्याय-पर्यायी में भेद करना जैसे सिद्धपर्याय व सिद्धात्मा पर्यायी मनुष्य पर्याय व मनुष्य पर्याययुत आत्मा पर्यायी। स्वभाव-स्वभावी में भेद करना जैसे ज्ञान स्वभाव व ज्ञान स्वभावी आत्मा। उष्ण स्वभाव व अग्नि स्वभावी, शीतल स्वभाव व जल स्वभावी। तथा कारक-कारकी में भेद करना जैसे मृतपिंड की शक्ति विशेष कारक में और मृतपिंड कारकी में भेद करना। यद्यपि गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, स्वभाव-स्वभावी और कारक-कारकी में प्रदेशापेक्षा भेद नहीं होता। किन्तु संज्ञादि की अपेक्षा भेद करके कथन करना सद्भूत व्यवहार नय का प्रयोजन है।

असद्भूत व्यवहारनय का विषय

द्रव्ये द्रव्योपचारः पर्याये पर्यायोपचारः गुणे गुणोपचारः द्रव्ये गुणोपचारः द्रव्ये पर्यायोपचारः गुणे द्रव्योपचारः गुणे पर्यायोपचारः पर्याये द्रव्योपचारः पर्याये गुणोपचार इति नवविधोपचार असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः॥210॥

अर्थ–द्रव्य में द्रव्य का उपचार, पर्याय में पर्याय का उपचार, गुण में गुण का उपचार, द्रव्य में गुण का उपचार, द्रव्य में पर्याय का उपचार, गुण में द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार, पर्याय में द्रव्य का उपचार, पर्याय में गुण का उपचार, ऐसे नौ प्रकार का उपचार असद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

---

4. देसत्थरज्जदुग्गं मिस्सं अण्णं च भणइ मम दव्वं।
उहयत्थे उवयरिदो होइ असब्भूयववहारो॥246॥ –णयचक्को

विशेषार्थ–असद्भूत व्यवहार का स्वरूप कहने के पश्चात् यहाँ उसके नौ भेदों की प्ररूपणा करते हैं।

1. द्रव्य में द्रव्य का उपचार–पुद्गल में जीव का उपचार अर्थात् पृथ्वी आदि पुद्गल में एकेन्द्रिय जीव का उपचार।

शरीरमपि यो जीव प्राणिनो वदति स्फुटः।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः॥ –सं. नयचक्र

प्राणी के शरीर को ही जीव कहना–यहाँ विजाति पुद्गल द्रव्य में विजाति जीव द्रव्य का उपचार किया गया है। यह असद्भूतव्यवहार नय का विशेष है।

2. पर्याय में पर्याय का उपचार–दर्पण रूप पर्याय में अन्य पर्याय रूप प्रतिबिंब का उपचार। किसी के प्रतिबिंब को देखकर जिसका वह प्रतिबिंब है उसको उस प्रतिबिंब रूप बतलाना।

प्रतिबिंब समालोक्य यस्य चित्रादिषु स्थितः।
तदेव तच्च यो ब्रूयादसद्भूतो ह्युदाहृतः॥

किसी के चित्र को देखकर, जिसका वह चित्र हो उसको उस चित्ररूप बतलाना असद्भूत व्यवहारनय का उदाहरण है।

3. गुण में गुण का उपचार–मतिज्ञान मूर्त्त है–यहाँ विजाति ज्ञानगुण में विजाति मूर्त्तगुण का आरोपण है।

मूर्तमेवमितिज्ञानं कर्मणा जनितं यतः।
यदि नैव भवेन्मूर्तं मूर्तेन स्खलितः कुतः॥

मतिज्ञान मूर्त्तिक है क्योंकि कर्मजनित है यदि ज्ञान 'मूर्त्त' न होता तो मूर्त्त पदार्थ से स्खलित क्यों होता। यह विजातीय गुण में विजातीय गुण का उपचार है जो असद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

4. द्रव्य में गुण का उपचार–जीव-अजीव ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषयक हैं। यहाँ जीव-अजीव द्रव्य में ज्ञानगुण का उपचार है।

जीवाजीवमपि ज्ञेयं ज्ञानज्ञानस्य गोचरात्।
उच्यते येन लोकेस्मिन् सोऽसद्भूतो निगद्यते॥

ज्ञान का विषय होने से जीव-अजीव-ज्ञेय ज्ञान है, लोक में ऐसा कहा जाता है। यह असद्भूत व्यवहार नय है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवन् जी वीरसेन स्वामी जी ने कहा है–गुणों के सहचर्य से आत्मा भी गुणसंज्ञा को प्राप्त होता है। कहा भी है–'दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशमादि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न हुए जीव-परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने उसी (औपशमिकादि) गुण संज्ञा वाला कहा है।[1]

5. द्रव्य में पर्याय का उपचार–परमाणु बहुप्रदेशी है अर्थात् परमाणु पुद्गल द्रव्य में बहुप्रदेशी पर्याय का उपचार है।

अणुरेकप्रदेशोऽपि येनानेकप्रदेशकः।
वाच्यो भवेदसद्भूतो व्यवहारः स भण्यते॥

जो नय एक प्रदेशी परमाणु को भी बहुप्रदेशी कहता है वह असद्भूत व्यवहार नय है।

द्रव्य के परिणाम या पर्याय को अथवा पूर्वापर कोटि से व्यतिरिक्त वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं। यहाँ द्रव्य में पर्याय का उपचार किया जाता है।[2]

6. गुण में द्रव्य का उपचार–लाल साड़ी। यहाँ पर लाल गुण में साड़ी द्रव्य का आरोप किया गया है।

स्वजातीयगुणे द्रव्य स्वजातेरुपचारतः।
रूप च द्रव्यमाख्याति श्वेतप्रसादको यथा॥

स्वजाति गुण में स्वजाति द्रव्य का उपचार। जैसे–सफेद महल। यहाँ रूप गुण में महल द्रव्य का उपचार किया गया है।

7. गुण में पर्याय का उपचार–ज्ञान गुण के परिणमन में ज्ञान पर्याय का ग्रहण, गुण में पर्याय का आरोपण है।

ज्ञानमेव हि पर्यायः पर्याये परिणामिवत्।
गुणोपचारपर्यायो व्यवहारो वदत्यसौ।

पर्याय में परिणमन करने वाले की तरह ज्ञान ही पर्याय है। यह गुण में पर्याय का उपचार है। यह असद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

8. पर्याय में द्रव्य का उपचार–स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहना पर्याय में द्रव्य का उपचार है।

---

1. धवला जी. पु. 1
2. धवला जी. पु. 5

उपचारो हि पर्याये येन द्रव्यस्य सूच्यते।
असद्भूतः समाख्यातः स्कंधेपि द्रव्यता यथा।

पर्याय में द्रव्य का उपचार जैसे—स्कंध भी द्रव्य है। यह भी असद्भूतव्यवहार नय है।

9. पर्याय में गुण का उपचार—इसका शरीर रूपवान् है। यहाँ शरीर रूप पर्याय में 'रूपवान्' गुण का उपचार किया गया है।

यो दृष्ट्वा देहसंस्थानमाचष्टे रूपमुत्तमं।
व्यवहारो असद्भूतः स्वजातीय संज्ञकः॥

पर्याय में गुण का आरोप करना भी असद्भूत व्यवहार है। जैसे—देह के संस्थान को देखकर यह कहा जाता है कि यह उत्तम रूप है।

इस प्रकार यह नौ प्रकार का उपचार असद्भूत व्यवहार नय का प्रयोजन है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय

उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः॥211॥

अर्थ—उपचार पृथक् नय नहीं है अतः उसको पृथक् नय नहीं कहा है।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज ने पूर्व में ही कहा 'असद्भूतव्यवहार एवोपचारः' असद्भूत व्यवहार ही उपचार है। अतः उसी में अंतर्भाव होने से इसको पृथक् नय नहीं कहा है।

प्रयोजनवश उपचार प्रवृत्ति

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते॥212॥

अर्थ—मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति होती है।

विशेषार्थ—जहाँ जिसका कथन करना हो किन्तु उसका वहाँ अभाव हो तब उसी के सादृश्य अन्य किसी वस्तु में उसका उपचार कर बतलाते हैं। जैसे किसी बालक ने पूछा माँ शेर कैसा होता है? तब माँ बिलाव को दिखलाते हुए कहती है ऐसा होता है। वास्तव में वह बिलाव शेर नहीं है किन्तु उसकी वहाँ उपस्थिति न होने से बिलाव में उपचार कर बताया। यहाँ सादृश्यता होने से सिंह का उपचार किया गया किन्तु नेवला, सर्पादि में सिंह के साथ सादृश्य संबंध नहीं होने से उसका उपचार नहीं किया जाता। सियार कैसा होता है? ऐसा पूछने पर उसके स्थान पर श्वान को दिखलाया। श्वान में सिंह का उपचार किया गया।

यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि उपचार नय पृथक् क्यों कहा गया, यह तो व्यवहार नय का ही भेद है इसलिए व्यवहार नय का ही कथन करना चाहिए था तो इसका उत्तर दिया जाता है कि उपचार के कथन बिना, किसी भी एक कार्य की सिद्धि नहीं होती। जहाँ पर मुख्य वस्तु का अभाव हो, वहाँ पर प्रयोजन या निमित्त के उपलब्ध होने पर उपचार की प्रवृत्ति की जाती है। वह उपचार भी संबंध के बिना नहीं होता। इस प्रकार उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की प्रवृत्ति होती है।[1]

सम्बन्ध कथन

सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः, संश्लेष संबंधः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि, सत्यार्थः असत्यार्थः सत्यासत्यार्थश्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारनयस्यार्थः॥213॥

अर्थ–वह संबंध भी सत्यार्थ अर्थात् स्वजाति पदार्थों में, असत्यार्थ अर्थात् विजातीय पदार्थों में तथा सत्यासत्यार्थ अर्थात् स्वजाति-विजाति पदार्थों में निम्न प्रकार का होता है–अविनाभावी सम्बन्ध, संश्लेष सम्बन्ध, परिणामपरिणामिसम्बन्ध, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्ध, ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध, चारित्रचर्या सम्बन्ध इत्यादि।

विशेषार्थ–जहाँ अभेद प्रधान और भेद गौण होता है वहाँ पर संबंध जानना चाहिए।[2] बिना संबंध के उपचार संभव नहीं है। ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक, संश्लेष, बंध्य-बंधक, परिणाम-परिणामि, श्रद्धा-श्रद्धेय, संयोग, समवाय, वाच्य-वाचक, चारित्र-चर्या, साध्य-साधक, लक्ष्य-लक्षण, अविनाभाव, आधार-आधेय, व्याप्य-व्यापक, उपादान-उपादेय, निमित्तनैमित्तिक, आश्रय-आश्रयी, भाव्य-भावक इत्यादि संबंध आगम में कहे गए हैं।

जहाँ-जहाँ साधन हो, वहाँ-वहाँ साध्य का होना और जहाँ-जहाँ साध्य नहीं हो वहाँ-वहाँ साधन का नहीं होना, वह अविनाभावी संबंध जाना जाता है। जैसे जहाँ-जहाँ धूम हो, वहाँ-वहाँ अग्नि का होना और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं।

परस्पर संश्लेषित लाख व काष्ठ अथवा जल व दूध का संश्लेष संबंध जाना जाता है।[3] अथवा, रस्सी, वस्त्र और काष्ठ आदिक के बिना तथा अल्लीवण विशेष के बिना जो

---

1. संस्कृत नयचक्र टिप्पणानुसार
2. रा.वा
3. (अ) जतुकाष्ठादिसंश्लेषणात् संश्लेषबंधः। -रा.वा
   (ब) क्षीरनीर संश्लेषस्तथा –स. सि.

चिक्कण और अचिक्कण द्रव्यों का अथवा चिक्कण द्रव्यों का परस्पर बंध होता है वह संश्लेष संबंध कहलाता है।[4]

द्रव्य में होने वाले परिणमन को परिणाम कहते हैं। द्रव्य का अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को न छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते हैं।[5] और जिसमें यह परिणमन या परिणाम होता है वह परिणामी जानना चाहिए अथवा जिस कारण जीव में बंध व मोक्ष आदि देखा जाता है वह परिणाम है और जीव परिणामी कहलाता है।

तत्त्वार्थों के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं।[5] श्रद्धा करने योग्य श्रद्धेय कहलाता है। जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है व जानना मात्र ज्ञान है।[6] विश्व में सभी वस्तुएँ जानने योग्य होने से ज्ञेय हैं और जानने वाला ज्ञायक है। तत्त्वार्थ की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना चरण कहलाता है।[7] अथवा जो आचरण करता है जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है।[8] जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं उसको चारित्र कहते हैं।[9] प्रतिज्ञा पूर्वक व्रतादि का पालन चर्या कहलाती है। इस प्रकार इनमें श्रद्धा-श्रद्धेय, ज्ञान-ज्ञेय, चारित्र-चर्या आदि संबंध बन जाते हैं।

इन संबंधों के अभाव में संसार, मोक्ष, ज्ञान, चारित्र, प्रमाण, प्रमेय आदि का अभाव हो जाएगा इनके अभाव में सर्व शून्यत्व का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। श्रद्धान-श्रद्धेय के अभाव में मोक्षमार्ग का ही अभाव हो जाएगा क्योंकि उसका तो प्रारंभ ही श्रद्धा से होता है। ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के अभाव में पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं हो सकेगा व प्रमेयत्व गुण के अभाव में द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा। चारित्र-चर्या संबंध के अभाव में मोक्षमार्ग व मोक्ष दोनों का ही अभाव हो जाएगा।

व्यवहार में संबंध यथार्थ है। संबंध न मानने पर व्यवहार का ही लोप हो जाएगा। पति-पत्नी, भाई-बहन, भक्त-भगवान् इत्यादि संबंधों को यदि न माना जाए तो व्यवहार नहीं रह सकेगा। कोई स्वामी नहीं होगा तो उसे द्रव्य के दानादि का अधिकार नहीं होगा।

---

4. रज्जु-वस्त्र-कट्ठादीहिं विणा अल्लीवणविसेसेहि विणा जो चिक्कण-अचिक्कण-दव्वाणं चिक्कणदव्वाणं वा परोप्परेण बंधो सो संसिलेसबंधो णाम। -ध. 12
5. द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः। -रा.वा.
6. तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धाः। -पंचाध्यायी
7. जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्। -स. सि.
8. चरणं क्रिया - पं. ध्या.
9. चरित चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्। -स. सि.
9. चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रनम्। -भ.आ.

पति-पत्नी संबंध न मानें तो स्वदारसंतोषव्रत का पालन कैसे होगा? व्यवहार में ये संबंध ग्राह्य हैं।

इस प्रकार उपचार का या असद्भूत व्यवहार या उपचरित असद्भूत व्यवहार का कथन बिना संबंधों के संभव नहीं है। उनमें ये संबंध होते ही हैं।

अध्यात्म भाषा से नयों का कथन

अध्यात्म नय कथन प्रतिज्ञा

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते॥214॥

अर्थ—फिर भी अध्यात्म भाषा से 'नयों' का कथन करते हैं।

विशेषार्थ—अध्यात्म में भी नयों की विवक्षा है। बिना नयावलंबन के अध्यात्म को जानना संभव नहीं है। पूर्व में आगम भाषा में सिद्धांतादि की अपेक्षा नयों का कथन किया गया। यदि अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझना है तो नयों को समझना आवश्यक है। यहाँ आध्यात्मिक भाषा के नयों को आचार्य महाराज स्वयं प्रतिपादित कर रहे हैं।

मूल नय भेद

तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च॥215॥

अर्थ—नयों के मूल दो भेद हैं—निश्चय नय व व्यवहार नय

विशेषार्थ—अध्यात्म भाषा के नय के मूल दो भेद कहे—निश्चय और व्यवहार नय। निश्चय नय वह है जो द्रव्य की मूल अवस्था को ग्रहण करता है और व्यवहार नय वह है जो वस्तु की मूलावस्था को तो ग्रहण करता है किन्तु बाह्य रूप को भी ग्रहण करता है। यद्यपि व्यवहार के बिना निश्चय संभव नहीं है। व्यवहार निश्चय का कारण है। व्यवहार को पहले समझना आवश्यक है। जैसे—मूंगफली गिरी को प्राप्त करने के लिए पहले छिलके या बाह्य आवरण को हटाना होता है उसी प्रकार व्यवहार बाह्य है उसके बिना निश्चय की अंदर सुरक्षा नहीं है। जैसे नारियल को छीले बिना, आवरण हटाए बिना गोला गिरी प्राप्त नहीं की जा सकती उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय को प्राप्त नहीं किया जा सकता। दोनों नय एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं बल्कि वस्तु तत्त्व को यथार्थ रूप से समझने के लिए कारण हैं। मनुष्य के दो नेत्रों के समान ये दो नय हैं। ये दो नय मोक्षमार्ग में गतिमान मोक्षमहल तक पहुँचाने वाले रथ के दो पहियों के समान हैं। जैसे एक पहिये का रथ गमन नहीं कर सकता

उसी प्रकार एक नय का अवलंबन लेकर जीव मोक्ष पथ में गमन नहीं कर सकता। तत्त्वज्ञान रूपी मंदाकिनी का निश्चयनय यदि एक किनारा है तो व्यवहार नय दूसरा किनारा है।

जिस प्रकार पक्षी दो में से एक भी पंख के बिना आकाश में गति नहीं कर सकते उसी प्रकार दो नयों रूपी पंखों के बिना मुक्ति के आकाश में गमन संभव नहीं है। दोनों नयों का विषय अलग-अलग होने के बावजूद भी वस्तु तत्त्व को समझने के लिए वे अत्यंतावश्यक होते हैं। एक भी नय को छोड़कर वस्तु तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं हो सकता। तभी तो आगम में निश्चय व व्यवहार दोनों की अपेक्षा तत्त्वबोध कराया जाता है। आराधना सार ग्रंथ के प्रारंभ में भी आचार्य महाराज ने आराधना सार की भी निश्चय व व्यवहार रूप प्ररूपणा की अर्थात् निश्चय व व्यवहार के भेद से आराधना सार को दो प्रकार का कहा गया।[1]

निश्चय व व्यवहार नय का विषय आचार्य महाराज आगे स्वयं कह रहे हैं।

निश्चय व्यवहार नय विषय

तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः॥216॥

अर्थ–निश्चय नय का विषय अभेद है, व्यवहार नय का विषय भेद है।

विशेषार्थ–निश्चय नय अभेद रूप से वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु निश्चय नय प्रमाण रूप नहीं है अर्थात् समग्र को ग्रहण नहीं करता। निश्चय नय भी वस्तु के एक अंश का कथन करता है। यह निश्चय नय है, निश्चय प्रमाण नहीं। यद्यपि वस्तु निरन्वय नहीं है वह गुणी है उसमें गुण है, वह धर्मी है उसमें धर्म है, वह पर्यायी है उसमें पर्याय है, कारकादि विवक्षाओं से सहित है। किन्तु निश्चय नय जब ग्रहण करता है तो सभी विवक्षाओं को तिरोहित कर अभेद रूप से ग्रहण करता है। अतः निश्चय नय का विषय अभेद है। व्यवहार नय उसी वस्तु को भेद रूप से ग्रहण करता है।

जैसे माना आम्रफल है। निश्चय नय 'आम्र' इस रूप उसे ग्रहण करेगा और आम्र पीला है, मीठा है, सुगंधित है भेद रूप कथन करने वाला व्यवहार नय है। अथवा पूछा जीव के कितने प्राण हैं? तब व्यवहार नय 4, 10 अथवा 8, 7, 6 आदि प्राण कहेगा किन्तु निश्चय से निश्चय प्राण है। इसके कितने भेद हैं? तब कहा इसके कोई भेद नहीं हैं। भेद करते ही व्यवहार हो जाएगा। दोनों ही (विवक्षा) कथन अधूरे हैं किन्तु सम्यक् हैं। एक के बिना दूसरा

---

1. **आराहणासारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्टो॥2॥**

अधूरा है इसलिए कभी भी, भूल से भी निश्चय या व्यवहार को संपूर्ण कथन नहीं मानना चाहिए। संपूर्ण कथन मात्र प्रमाण से होता है और उस प्रमाण को सर्वज्ञ जानते हैं। किन्तु वक्ता प्रमाण को एक साथ कह नहीं सकता वह अपेक्षा लेकर के ही कथन करता है।

जैसे ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय व्यवहार से अलग-अलग हैं भेद रूप हैं किन्तु निश्चय नय ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय रूप आत्मा का ही ग्रहण करता है। आराधना सार ग्रंथ में भी व्यवहार व निश्चय से कथन करते हुए कहा है कि व्यवहार नय से जिनेंद्र द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप ये आराधना चतुष्क का सार है।[1] भेद रूप यह कथन व्यवहार का है। पुनः निश्चयनयावलंबन लेते हुए कहा निश्चय नय से उन्हीं चार आराधनाओं द्वारा परम ब्रह्म के ध्यान से तन्मयता को प्राप्त होना चार आराधना का सार है।[2]

समयसार में भी कहा है-

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे॥

सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र में दृढ़ता से भावना करनी चाहिए पुनः ये तीनों भी आत्मा ही हैं अतः आत्मा में भावना करनी चाहिए। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पुनः पुनः अनुचिंतन करना भेदरत्नत्रय है पुनः उसके बल से इन तीनों स्वरूप एक शुद्ध आत्मा की भावना करना और उसमें तन्मय होना सो यह अभेद रत्नत्रय है।

इस प्रकार अभेद रूप कथन करने वाला निश्चय नय और भेद रूप कथन करने वाला व्यवहार नय जानना चाहिए। गुण-गुणी आदि में भेद करने वाला व्यवहार ही है और मात्र अभेद का ग्राहक निश्चय है।

निश्चय नय भेद

तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च॥217॥

अर्थ-उनमें निश्चय नय दो प्रकार का है-शुद्ध निश्चय व अशुद्ध निश्चय।

विशेषार्थ-शुद्ध द्रव्य, शुद्ध निश्चय नय का विषय है और अशुद्ध द्रव्य, अशुद्ध निश्चय नय का विषय है। जैसे-माना एक स्वर्ण का व एक रजत का चुंबक है। सोने की चुंबक

---

1. ववहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउक्कस्स।
   दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणं॥3॥
2. तैरेव परमब्रह्म ध्यानात्तन्मयतां गतैः आराधनाचतुष्कस्य निश्चयेन च सारता। -आ.सा./टी.

सोने को व चांदी की चुंबक चांदी को ग्रहण करती है, शेष सबको छोड़ देती है। जिसका जो विषय है वह उसी को ग्रहण करता है, शेष सभी उनके लिए पर हैं। इस प्रकार शुद्ध निश्चय नय शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है व अशुद्ध निश्चय नय अशुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है।

शुद्ध निश्चयनय

तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेद-विषयक-शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति॥218॥

अर्थ–उनमें से जो नय कर्मजनित विकार से रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह शुद्ध निश्चय नय है। जैसे–केवलज्ञानादि स्वरूप जीव है।

विशेषार्थ–शुद्धनिश्चय नय-इसमें दो शब्द हैं–शुद्ध व निश्चय। शुद्ध अर्थात् शुद्ध द्रव्य और निश्चय अर्थात् अभेद रूप से। इस प्रकार अभेद रूप से शुद्ध द्रव्य को जो ग्रहण करता है वह शुद्ध निश्चय नय जानना चाहिए। कर्म से रहित जीव की अवस्था शुद्धावस्था जाननी चाहिए। गुणी के गुण उससे अभिन्न होते हैं, अतः गुणी के शुद्ध होने पर गुण भी शुद्ध ही होंगे। जीव की शुद्धावस्था में ज्ञान, दर्शनादि गुण भी शुद्ध रूप होते हैं आवरण रहित केवलज्ञान व केवलदर्शन होता है। यहाँ गुण रूप केवलज्ञान आदि व गुणी आत्मा में निश्चय से कोई भेद नहीं है। अभेद रूप से इसका ग्रहण शुद्ध निश्चय नय का विषय है। निश्चय नय से आत्मा गुणस्थान, ज्ञानादि रूप नहीं, वह तो मात्र जीवात्मा है। समयसार में आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा भी है–

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एव भणंति सुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव॥6॥

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा प्रमत्त (मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान तक) भी नहीं और अप्रमत्त (सातवे से अयोगकेवली नामक चौदहवे गुणस्थान तक) भी नहीं है।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुभ-अशुभ भाव रूप परिणमन करने का अभाव होने से जो न अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है। ज्ञायक अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो भाव अर्थात् पदार्थ है–शुद्धात्मा है, वही है। ऐसा शुद्ध नय का अवलंबन लेने वाले कहते हैं।[1]

---

1. स.सा./ता.वृ.

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसण जाणगो सुद्धो॥7॥

सद्भूतव्यवहार नय से जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे गए हैं। शुद्ध निश्चय नय से जीव के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है।

इस प्रकार शुद्ध व अभेद का कथन करने वाला शुद्ध निश्चय नय जाना जाता है।

अशुद्ध निश्चयनय

सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति॥219॥

अर्थ–जो नय कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्ध निश्चय नय है। जैसे–मतिज्ञानादि स्वरूप जीव

विशेषार्थ–अशुद्ध अर्थात् द्रव्य की विभाव या अशुद्ध अवस्था, निश्चय अर्थात् अभेद रूप ग्राहक। जीव जब कर्मों से सहित होता है तब उसकी वह कर्मजनित अवस्था अशुद्धावस्था है। जब जीव कर्मों से युक्त होता है तब उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शनादि गुण होते हैं। गुण से गुणी संज्ञादि की अपेक्षा पृथक् होते हैं किन्तु प्रदेश की अपेक्षा ये सर्वथा अपृथक् हैं।[1] इस मतिज्ञानादि से युक्त जीव को अभेद रूप 'जीव' ग्रहण करना अशुद्ध निश्चय नय का विषय है। यह अशुद्ध निश्चयनय संसारीजीव व ज्ञान की अशुद्धावस्था मतिज्ञानादि को अभेद रूप से ग्रहण करता है जैसे मतिज्ञानादि रूप जीव।

व्यवहारनय भेद

व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च॥220॥

अर्थ–सद्भूतव्यवहार नय और असद्भूतव्यवहार नय के भेद से व्यवहार नय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ–व्यवहार नय दो प्रकार का कहा गया है। सद्भूतव्यवहार नय व असद्भूतव्यवहार नय। सद्भूतव्यवहार नय में सद्भूत-जो जीव के स्वभाव में मिला हुआ है एवं व्यवहार-भेद करके कथन करता है अर्थात् जीव के स्वभाव में मिले गुणादि का भेद रूप कथन करना अथवा एक सत्ता वाले पदार्थों को कहना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

---

1. स.सा/ता.वृ.

असद्भूत व्यवहार नय में असद्भूत-जो जीव में मिला तो है किन्तु उसका स्वभाव नहीं है। व्यवहार-उसे भेद रूप कहना अथवा भिन्न सत्ता वाले पदार्थों को विषय करना असद्भूत व्यवहार नय है।

सद्भूतव्यवहार नय

तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः॥221॥

अर्थ–उनमें से एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूतव्यवहार नय है।

विशेषार्थ–गुण-गुणी आदि में भेद कथन करना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। जैसे–जीव के ज्ञान, दर्शनादि गुण यद्यपि उससे अभिन्न हैं तदपि उन्हें पृथक् रूप से ग्रहण करना सद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन है।

धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व, आकाश द्रव्य का अवगाहनहेतुत्व इत्यादि रूप कथन करना सद्भूतव्यवहार नय का विषय है।

असद्भूतव्यवहार नय

भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः॥222॥

अर्थ–भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहार नय है।

विशेषार्थ–उस द्रव्य से भिन्न वस्तु का कथन करना जैसे जीव का शरीर, राजा का धन इत्यादि भिन्न सत्ता वाले पदार्थों के संबंध को विषय करने वाला असद्भूतव्यवहार नय है। संबंध दर्शाने वाली षष्ठी विभक्ति कही जाती है जो भिन्न रूप भी होती है और अभिन्न रूप भी होती है।[1] भिन्न रूप जैसे राम का मुकुट व अभिन्न रूप जैसे जीव का शरीर। ज्ञेय-ज्ञायक, वाच्य-वाचक आदि भी सब संबंध असद्भूतव्यवहार नय के विषय हैं।

सद्भूतव्यवहारनय भेद

तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात्॥223॥

अर्थ–उपचरित व अनुपचरित के भेद से सद्भूतव्यवहार नय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ–सद्भूतव्यवहार नय के दो भेद हैं–उपचरित सद्भूतव्यवहार नय और अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय। इनका स्वरूप आचार्य महाराज स्वयं आगे कह रहे हैं–

1. छट्ठी भिण्णा वा अत्थि अभिण्णा वि अत्थि। –जयधवला जी

उपचरित सद्भूत व्यवहार नय

तत्र सोपाधिक गुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः॥224॥

अर्थ—उनमें से कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—जीव के मतिज्ञानादि गुण।

विशेषार्थ—अशुद्ध द्रव्य में अभेद रूप कथन करना अशुद्ध निश्चय नय का विषय है और अशुद्ध द्रव्य में भेद रूप कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। कर्म से सहित जीव अशुद्ध जीव कहलाता है। उस संसारी जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि गुण यद्यपि उससे भिन्न नहीं हैं तथापि उनको संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा भेद रूप कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय विषय

निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः॥225॥

अर्थ—उपाधि रहित अर्थात् कर्मजनित विकार रहित जीव में गुण और गुणी के भेद रूप विषय को ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है जैसे—जीव के केवलज्ञानादि गुण।

विशेषार्थ—कर्म रहित अर्थात् मुक्त-शुद्ध जीव के गुणों का भेद रूप कथन अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। अनुपचरित अर्थात् उपचार नहीं करना। किंचित् भी उपचार से नहीं वास्तव में वह जीव का स्वाभाविक या शुद्ध गुण है। सद्भूत अर्थात् जो जीव के स्वभाव में मिला हुआ है। व्यवहार अर्थात् भेद करना। इस प्रकार जीव के स्वभाव शुद्ध गुणादि का भेद रूप कथन करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव का केवलज्ञान, केवलदर्शन इत्यादि जीव से अपृथक् हैं किन्तु शुद्ध जीव (गुणी) से केवलज्ञानादि (गुण) का भेद रूप कथन अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है।

असद्भूत व्यवहार नय भेद

असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्॥226॥

अर्थ—उपचरित व अनुपचरित के भेद से असद्भूतव्यवहार नय दो प्रकार का है।

विशेषार्थ–पूर्व में जैसे सद्भूत व्यवहार नय के दो भेद किए हैं उसी प्रकार यहाँ असद्भूत व्यवहार नय के दो भेद किए गए हैं–उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इनका स्वरूप आचार्य महाराज स्वयं आगे कह रहे हैं।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय

तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति॥227॥

अर्थ–उनमें से संश्लेष संबंध रहित, ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में संबंध ग्रहण करना उपचरितासद्भूत व्यवहारनय का विषय है। जैसे–देवदत्त का धन।

विशेषार्थ–असद्भूत अर्थात् जिस द्रव्य का कथन कर रहे हैं उसके स्वभाव से मिला नहीं है और उपचरित अर्थात् उसके विभाव में भी संश्लिष्ट नहीं है। तब दूर से भी दूरवर्ती। यद्यपि आध्यात्मिक भाषा का नय है किन्तु उपचरित असद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से कथन करेंगे। संश्लेष संबंध रहित अर्थात् द्रव्य के साथ अन्य द्रव्य संश्लिष्ट नहीं हैं, दूध-पानी के समान मिला नहीं है। जिस प्रकार दो गाय पृथक्-पृथक् बैठी हैं उस प्रकार पृथक् है। इस प्रकार पृथक् दो वस्तुओं का परस्पर में संबंध ग्रहण करना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का प्रयोजन है।

आचार्य महाराज ने उदाहरण दिया जैसे देवदत्त का धन। देवदत्त व धन दोनों पृथक्-पृथक् हैं किन्तु इनमें परस्पर संबंध ग्रहण करने वाला यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। राजा का महल, स्त्री के आभूषण, भाई का वाहन, बहन की पुस्तक, ऋषि का कमंडलु इत्यादि अथवा चेतन परिग्रह सब उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय का प्रयोजन है। अपने शरीर से भिन्न वस्त्रादि सभी वस्तुएँ उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय से ही स्वकीय कही जा सकती हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय

संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति॥228॥

अर्थ–संश्लेष सहित वस्तु के संबंध को विषय करने वाला अनुपचरितअसद्भूत व्यवहारनय है। जैसे–जीव का शरीर।

विशेषार्थ–असद्भूत अर्थात् जीव का स्वभाव रूप नहीं, अनुपचरित अर्थात् उपचार नहीं है, जीव के साथ कहीं न कहीं मिला है। संश्लेष सहित अर्थात् द्रव्य के साथ अन्य द्रव्य संश्लिष्ट है। जैसे–जीव व शरीर। यद्यपि जीव व शरीर दोनों का स्वचतुष्टय भिन्न है तथापि इनमें संश्लेष संबंध है। ये सर्वथा पृथक् नहीं हैं। अमितगति श्रावकाचार में कहा भी है–

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कायवधे हत कथ तेषां संजायते हिंसा॥6/21॥

जो विवेक रहित आत्मा का और शरीर का सर्वथा भेद कहता है उसके मत में शरीर के वध से हिंसा कैसे होगी? यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अतः जीव व शरीर में संश्लेष संबंध है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ही शरीर को स्वकीय कहा जा सकता है।

निश्चय, सद्भूत, असद्भूत व्यवहार नय इत्यादि सभी नय यथार्थ हैं। इनमें से किसी एक का भी एकांत ग्रहण करने से वस्तुस्वरूप का लोप हो जाएगा क्योंकि वस्तु अनेकांत धर्म से युक्त है।

यहाँ असद्भूत व्यवहार नय को यदि यथार्थ न माना जाए और परमार्थ या शुद्ध निश्चय नय को सर्वथा यथार्थ माना जाए तो उसमें दोष उत्पन्न हो जाएँगे। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी द्वारा लिखित ग्रंथ समयसार की टीका में लिखा है कि परमार्थ नय जीव को शरीर से भिन्न कहता है, यदि उसका ही एकांत किया जाए तो निःशंकपने से त्रस, स्थावर, जीवों का घात करना कैसे सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन में हिंसा का अभाव है उसी प्रकार जीवों के शरीर को मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा तब उनके घात होने से बंध होने का भी अभाव ठहरेगा। उसी प्रकार से रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मों से बंध रहा है, यह कर्मबंधन से छुड़ाने योग्य है ऐसा जो कथन है वह भी नहीं बनेगा क्योंकि निश्चय या परमार्थ से तो राग, द्वेष, मोह से जीव भिन्न ही है अतः मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का अभाव हो जावेगा और जब मोक्ष का उपाय नहीं होगा तब मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा।[1]

अतः व्यवहार नय व निश्चयनय दोनों ही यथार्थ हैं उनके बिना वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध, तत्त्वज्ञान संभव नहीं। अतः इन सभी का यथार्थ व सम्यक् ज्ञान तत्त्वबोध के लिए आवश्यक है।

---

1. **समयसार गाथा 46 टीका**

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड् भावसंबंधो द्रव्यमेकमनेकधा।।107।।

त्रिकालविषयक नय और उपनयों के एकांत का जो समुच्चय है, जो कि अपृथक् स्वभाव संबंध रूप है वही द्रव्य है। वह एक भी है और अनेक प्रकार का भी है।

द्रव्य व पर्याय को विषय करने वाले संग्रहादिनय हैं। उसके भेद-प्रभेद रूप उपनय कहलाते हैं। उनके जो एकांत हैं जो विपक्ष की उपेक्षा करके होते हैं न कि विपक्ष का त्याग करके ऐसे उन त्रिकालविषयक एकांतों का समुदाय-सम्यक् एकांतों का समूह ही है। वही वस्तु है क्योंकि गुण व पर्यायों का समूह ही द्रव्य है। द्रव्यदृष्टि से जो वस्तु एक है वही पर्याय की अपेक्षा से अनेक है ऐसा सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार वस्तु स्वरूप का सम्यक् अवबोध नयों के ज्ञान के बिना संभव नहीं। अतः आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने आलाप पद्धति ग्रंथ की रचना की।

।।इति ग्रंथ पूर्णोऽयम्।।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य

1. प्राकृत वाणी भाग-1, 2, 3
2. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
3. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
4. अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
5. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
6. जदि-किदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
7. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
8. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
9. तच्चसारो (तत्त्व सार)
10. धम्म-सुत्तं (धर्म सूत्र)
11. रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
12. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13. अप्पणिब्भर भारदो (आत्मनिर्भर भारत)
14. विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्या वसु श्रावकाचार)
15. अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
16. अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
17. णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
18. मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
19. मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
20. विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
21. विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
22. समवसरण सोहा (समवशरण शोभा)
23. वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
24. अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
25. कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
26. को विवेगी (विवेकी कौन)
27. पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
28. तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
29. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
30. धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)
31. कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
32. खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33. सिरि सीयलणाह चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
34. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
35. समणायारो (श्रमणाचार)

भावार्थ

1. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
2. णिग्गंथ-थुदि (निर्ग्रंथ स्तुति)
3. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
4. रट्ठसंति-महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
5. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)

टीका ग्रंथ

1. प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)
2. वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3. नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)

इंग्लिश साहित्य

Inspirational Tales Part- 1 & 2

वाचना साहित्य

1. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)
2. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
4. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
4. उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)
5. उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग 1-15
15. चूको मत
16. जय बजरंगबली
17. जीवन का सहारा
18. ठहरो! ऐसे चलो
19. तैयारी जीत की
20. दशामृत
21. धर्म की महिमा
22. ना मिटना बुरा है न पिटना
23. नारी का धवल पक्ष
24. शायद यही सच है
25. श्रुत निर्झरी
26. सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
27. सीप का मोती (महावीर जयंती)
28. स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. अच्छी बातें
3. आज का निर्णय
4. आ जाओ प्रकृति की गोद में
5. आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान
6. आहारदान
7. एक हजार आठ
8. कलम पट्टी बुद्धिका
9. गागर में सागर
10. गुरु कृपा
11. गुरुवर तेरा साथ
12. जिन सिद्धांत महोदधि
13. डॉक्टरों से मुक्ति
14. दान के अचिन्त्य प्रभाव
15. धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)
16. धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17. निज अवलोकन
18. वसु विचार
19. वसुनन्दी उवाच
20. मीठे प्रवचन (भाग 1-6)
21. रोहिणी व्रत कथा
22. स्वप्न विचार
23. सद्गुरु की सीख
24. सफलता के सूत्र
25. सर्वोदयी नैतिक धर्म
26. संस्कारादित्य
27. हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1. अक्षरातीत
2. कल्याणी
3. चैन की जिंदगी
4. ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5. मुक्ति दूत के मुक्तक
6. हाइकू
7. हीरों का खजाना

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. चौसठऋद्धि विधान
4. णमोकार महार्चना
5. दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)
6. यागमंडल विधान
7. समवशरण महार्चना
8. श्री नंदीश्वर विधान
9. श्री सम्मेदशिखर विधान
10. श्री अजितनाथ विधान
11. श्री संभवनाथ विधान
12. श्री पद्मप्रभ विधान
13. श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)
14. श्री चंद्रप्रभ विधान
15. श्री पुष्पदंत विधान
16. श्री शांतिनाथ विधान
17. श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान
18. श्री नेमिनाथ विधान
19. श्री महावीर विधान
20. श्री जम्बूस्वामी विधान
21. श्री भक्तामर विधान
22. श्री सर्वतोभद्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य जी)
3. आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)
4. कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)
6. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7. चार श्रावकाचार संग्रह
8. जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9. जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)
10. जिन सहस्रनाम स्त्रोत
11. तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)
12. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13. तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)
14. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15. तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)
16. तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17. धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
18. धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)
20. नीतिसार समुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदी स्वामी जी)
21. पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)
22. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23 पंचरत्न
24. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी जी)
25. मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)
26. भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी जी स्वामी)
27. भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)
28. मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्ति स्वामी जी)
29. योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबालचंद्र जी)
30. योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31. रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)
32. वसुऋद्धि
    - रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)
    - स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
    - पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)
    - इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
    - लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)
    - वैराग्यमणि माला (आ. श्री विशाल कीर्ति जी)
    - अर्हत प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)
    - ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33. सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगति स्वामी जी)
34. सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35. समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
36. समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37. सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय जी)

प्रथमानुयोग साहित्य

1. अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)
2. आराधना कथा कोष (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3. करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)
4. कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)
6. चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7. चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)
8. चेलना चारित्र
9. चंद्रप्रभ चरित्र
10. चौबीसी पुराण
11. जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
12. त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
14. धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15. धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
16. नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17. नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)
18. प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19. पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)
20. पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21. पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)
22. पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23. भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)
24. भद्रबाहु चरित्र
25. मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
26. महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27. महापुराण (भाग 1-2)
28. महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29. मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)
30. यशोधर चरित्र
31. रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)
32. रोहिणी व्रत कथा
33. व्रत कथा संग्रह
34. वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35. विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)
36. वीर वर्धमान चरित्र
37. श्रेणिक चरित्र
38. श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39. श्री जम्बूस्वामी जी चरित्र (श्री वीर कवि)
40. शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41. सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)
42. सम्यक्त्व कौमुदी
43. सती मनोरमा
44. सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45. सुरसुंदरी चरित्र
46. सुलोचना चरित्र
47. सुकुमाल चरित्र
48. सुशीला उपन्यास
49. सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बैरया)
50. सुभौम चरित्र
51. हनुमान चरित्र
52. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण
   - मृत्युंजय (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्त्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्त्रानाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   - भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल))
   - शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   - सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)
5. कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)
6. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला) (पुं. प्रवर दौलतराम जी)
7. दिव्य लक्ष्य (संकलन-हिंदी पाठ, स्तुति आदि)
8. धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
10. भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11. विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13. संसार का अंत
14. स्वास्थ्य बोधामृत

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1. अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
2. पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)
3. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
4. दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्वनंदनी, वर्चस्वनंदनी)
5. स्मृति पटल से भाग 1-2 (आ. श्री वर्धस्वनंदनी)
6. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
7. गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)
8. परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
9. स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)
10. स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
11. हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)
12. वसु सुबंध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद्र जी जैन)
13. समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')